समकालीन राजनीतिक विचार एवं सिद्धांत

M.A. 3rd Sem Pol Sci

Exam Notes

Dr. Hemant Sharma

विषय सूची

इकाई – I

अध्याय 1: कार्ल मार्क्स

अध्याय 2: ब्लादीमीर इलिच लेनिन

इकाई – II

अध्याय 3: मानवेन्द्र नाथ राय

अध्याय 4: माओ त्से-तुंग

अध्याय 5: अंतेनियो ग्रामसी

इकाई – III

अध्याय 6: महात्मा गांधी

अध्याय 7: जय प्रकाश नारायण

इकाई – IV

अध्याय 8: अरबिन्द घोष

अध्याय 9: अम्बेडकर

इकाई-I

अध्याय-1: कार्ल मार्क्स (Karl Marx)

परिचय (Introduction)

वैज्ञानिक समाजवाद के प्रतिपादक एवं क्रान्तिकारी विचारक कार्ल मार्क्स ने मानव चिन्तन को न केवल एक नई दिशा दी बल्कि उसका प्रभाव इतना सर्वव्यापी है कि आज संसार में करोड़ों व्यक्ति मार्क्स के अनुयायी हैं और वे साम्यवादी समाज की स्थापना के लिए बड़े से बड़े बलिदान देने के लिए तैयार हैं। मार्क्स के अपने ही शब्दों में–"दार्शनिक विश्व की व्याख्या करने का प्रयास करते रहे हैं किन्तु महत्वपूर्ण बात तो इस दुनिया को बदल देने की है।" यदि हम मार्क्स के दर्शन को इस कसौटी पर कसें तो उसके विचारों ने सचमुच दुनिया को बदल डाला है। यहां तक कि जिन देशों में पूंजीवादी व्यवस्था है, वहां भी मार्क्स का प्रभाव स्पष्ट तौर पर परिलक्षित होता है। परोक्ष या अपरोक्ष तौर पर मार्क्स की विचारधारा ने इस शताब्दी के चिन्तन को जितना प्रभावित किया है, उतना अन्य किसी विचारधारा ने नहीं। उसकी समाजवाद की वैज्ञानिक व्याख्या ने उसके समाजवादी चिन्तन को शाश्वत महत्व प्रदान किया है। उसकी समाजवाद की वैज्ञानिक व्याख्या आधुनिक समाजवादी चिन्तन का आधार है।

जीवन परिचय (Life Sketch)

साम्यवादी सन्त कार्ल मार्क्स का जन्म 8 मई, 1818 को जर्मनी के एक छोटे से नगर ट्रीवीज में हुआ। मार्क्स का प्रारम्भिक पालन–पोषण यहूदी संस्कारों के तहत हुआ। उसके पिता हरशेल मार्क्स एक वकील थे और उसकी मां हैनरीटा प्रेसबर्ग एक घरेलू कामकाजी महिला थी। 1824 में मार्क्स परिवार ने यहूदी धर्म के स्थान पर ईसाई धर्म अपना लिया। इस घटना ने बालक कार्ल मार्क्स के मानस पटल को इतना अत्यधिक प्रभावित कर दिया कि वह अपने सम्पूर्ण जीवन में यहूदियों का कटु–आलोचक बना रहा, इसी कारण उसने धर्म को अफीम कहा। मार्क्स बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि का स्वामी था, उसके मन में गरीब लोगों के लिए गहरा प्रेम था। उसकी प्रारम्भिक शिक्षा उदारवादी विचारक वैस्टफेलन के मार्ग–दर्शन में हुई। इसके बाद उच्च शिक्षा के लिए उसे 1835 में बॉन विश्वविद्यालय में भेजा गया लेकिन यहां पर उसने कानून की शिक्षा ग्रहण करने की बजाय इतिहास और दर्शन शास्त्र का अध्ययन शुरू हुआ। इसके एक वर्ष बाद ही मार्क्स ने बर्लिन विश्वविद्यालय में इतिहास व दर्शन पर ही अपना सम्पूर्ण ध्यान लगा दिया। यहां पर उसने हीगल के द्वन्द्ववादी चिन्तन का अध्ययन किया। 1841 में उसने जेना विश्वविद्यालय से 'डेमोक्रिटस' और एपिक्यूरस के प्राकृतिक दर्शन मे भेद (The Differences between the Natural Philosophy of Democritus and Epicurus) पर निबन्ध लिखकर अपनी डॉक्टरेट (Ph.D) की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद उसने अध्यापक बनने का निश्चय किया। परन्तु उसके हमदर्द फ्यूरबेक और ब्रुनीब्यूर को सरकार विरोधी नीतियों के कारण जर्मनी से

निष्कासित कर दिया तो उससे उसका अध्यापक बनने का स्वप्न चकनाचूर हो गया। इसके बाद उसने अक्तूबर, 1842 में अपनी आजीविका चलाने के लिए 'रीनचे जीतूंग' (Rheinisch Zaitung) पत्र में सम्पादक के तौर पर कार्य किया। यहां भी उसके क्रान्तिकारी विचारों (धर्म की आलोचना) के कारण इस पत्र पर सरकार ने प्रतिबन्ध लगा दिया और वह बेकार होकर घूमने लगा। इस दौरान उसने फ्रांस, इंग्लैण्ड, जर्मनी तथा अमेरिका के इतिहास का मैकियावली, रुसो, सन्त साइमन, मॉण्टेस्कयू तथा फोरियर जैसे काल्पनिक समाजवादियों की रचनाओं का गहन अध्ययन किया और समाजवादी साहित्य के प्रति अपनी आस्था में वद्धि की।

25 वर्ष की आयु में मार्क्स ने 1843 ई० में मार्क्स का विवाह अपने प्रारम्भिक शिक्षक वैस्टफेलन की पुत्री जैनी वैस्टफेलन से हुआ। विवाह के बाद मार्क्स दंपति पेरिस चला गया और वहां पर मार्क्स 'फ्रेंको जर्मन शब्दकोष' का सम्पादक बन गया। अपने शासन और तत्कालीन व्यवस्था विरोधी विचारों के कारण उसे इस पत्र का प्रकाशन बन्द करना पड़ा। फ्रांस में उसका सम्पर्क प्रौंधा तथा बाकुनिन जैसे अराजकतावादियों से हुआ। उनके विचारों ने उसे अत्यधिक प्रभावित किया। 1845 ई० में उसने फ्रांस की सरकार के आदेश पर देश छोड़कर जाना पड़ा। अब वह सीधा इंग्लैण्ड गया और आजीवन वहीं रहा, यहां पर उसकी भेंट प्रसिद्ध उद्योगपति फ्रेडारिक ऐंजिल्स से हुई। मार्क्स ने ऐंजिल्स के साथ ही मिलकर अपना समाजवादी चिन्तन खड़ा किया और फरवरी, 1848 में साम्यवादी लीग की स्थापना की। यहां पर उन्होंने साम्यवादी विचारों पर वक्तव्य प्रकाशित किये जो विश्व में 'साम्यवादी घोषणा–पत्र' के नाम से प्रसिद्ध हुए। यहीं से वैज्ञानिक समाजवाद का जन्म हुआ।

ऐंजिल्स से आर्थिक सहायता प्राप्त करके मार्क्स ने निर्बाध रूप से अपने क्रान्तिकारी विचारों को अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया। उसने स्वयं एंजिल्स का ऋण स्वीकार करते हुए अपने समाजवादी चिन्तन को 'हमारा सिद्धान्त' की संज्ञा दी है। अपने इस सहयोगी के कारण ही मार्क्स दास कैपिटल (Das Capital) जैसे महान ग्रन्थों की रचना कर सका। अपने इस ग्रन्थ के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने के लिए उसने 1864 में लन्दन में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन (First International) में जर्मनी में मजदूर वर्ग का प्रतिनिधित्व किया। इसकेबाद मार्क्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दास कैपिटल' (Das Capital) के शेष भागों को पूरा करने के लिए अपनी लेखनी उठाई। लेकिन खराब स्वास्थ्य के कारण वे इसे पूरा नहीं कर सके और इस साम्यवादी सन्त की कैंसर के रोग के कारण 14 मार्च, 1883 को मत्यु हो गई।

महत्वपूर्ण रचनाएं
(Important Works)

मार्क्स ने अपने जीवनकाल में अनेक रचनाएं लिखीं, उनकी दो सबसे महत्वपूर्ण रचनाएं—समाजवादी घोषणापत्र (Communist Manifesto) तथा दास कैपिटल (Das Capital) हैं।

I. ***समाजवादी घोषणापत्र (Communist Manifesto)***–यह रचना मार्क्स और एंजिल्स द्वारा संयुक्त रूप से लिखी गई। यह रचना साम्यवादी दर्शन और क्रान्ति प्रक्रिया का मूलाधार है जिसमें सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति की भविष्यवाणी की गई है। इस रचना में मार्क्स के सभी सिद्धान्तों–वर्ग संघर्ष, पूंजीवादी के विकास, औद्योगिक संकटों, मध्यम वर्ग के लोग, मजदूरों के संगठन, मजदूर पार्टियों के आविर्भाव, निर्धन वर्ग की बढ़ती गरीबी, पूंजीपतियों द्वारा अपनी कब्र स्वयं खोदना, साम्यवादियों के मजदूरों के साथ सम्बन्ध, स्वप्नलोकीय (Utopian) समाजवादी की निन्दा तथा तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों को बलपूर्वक बल देने की बात कही गई है। इसमें मजदूरों को संगठित होने के लिए प्रेरित करते हुए कहा गया है–"दुनिया के मजदूरों, संगठित हो जाओ"।

इसमें यह भी कहा गया है कि शासक वर्ग को क्रान्ति के भय से कांपने दो। तुम्हारे पास दासता की बेड़ियों को खोने के सिवाय कुछ नहीं है। यह पुस्तक साम्यवाद की गीता के रूप में मानी जाती है। इसमें सर्वप्रथम सर्वहारा वर्ग के महत्व को प्रतिपादित किया गया हैं लास्की ने इस पुस्तक की तुलना अमेरिका के घोषणापत्र से की है। इस पुस्तक का प्रकाशन ऐसे समय में हुआ जब यूरोप के अनेक देशों में क्रान्तियों का बिगुल बज रहा था। इसलिए इस रचना को मार्क्स की महत्वपूर्ण रचना कहा जाता है।

II. ***दास कैपिटल (Das Capital 1867)***–यह पुस्तक मार्क्स की समस्त रचनाओं में अद्वितीय है। मार्क्सवाद की पूरी जानकारी का आधार यही पुस्तक है। मार्क्स ने यह पुस्तक अपने परम मित्र एंजिल्स के सहयोग से लिखनी शुरू की और इसका प्रथम खण्ड 1867 में जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में कुल तीन खण्ड है। मार्क्स ने प्रथम खण्ड में पूंजीवाद का व्यापक विश्लेषण किया और उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला। मार्क्स की मत्यु होने के कारण इसके अन्तिम दो खण्ड एंजिल्स ने पूरे किए और मार्क्स को सच्ची श्रद्धांजलि दी गई, इस पुस्तक को साम्यवादी साहित्य का वेद माना जाता है। यह रचना समाजवादी साहित्य पर सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रन्थ, साम्यवादी सिद्धान्तों की आधारशिला, श्रमिकों का ग्रन्थ तथा धनिकों का दिमाग ठण्डा करने का नुस्खा है। इस पुस्तक की बराबरी मार्क्सवादी साहित्य में अन्य कोई रचना नहीं कर सकती।

इसके अतिरिक्त मार्क्स की अन्य रचनाएं The Poverty of Philosopy (1847), The Critique of Political Economy (1859), Inaugural Address to the International Working Men Association (1864), Value, Price and Profit (1865), The Civil War in France (1870-71), The Gotha Programme (1875), Class-Struggle in France (1848), The German Ideology, The Holy Family आदि हैं।

इनमें से 'The Holy Family' पुस्तक में इतिहास की आर्थिक व्याख्या की गई है। यह पुस्तक मार्क्स के साम्यवादी सिद्धान्तों का आधार व प्रारम्भ बिन्दु है।

मार्क्स के विचारों के प्रेरणा-स्त्रोत
(Inspiration of Marx's Ideas)

मार्क्स का दर्शन इतना मौलिक नहीं है जितना दिखाई देता है। सच्चाई तो यह है कि उसने अपने समय की नब्ज को पहचान लिया था। उसने तत्कालीन विचारधाराओं से ग्रहण करने में जरा सा भी संकोच नहीं किया। इसलिए उसका दर्शन मौलिक नहीं कहा जा सकता। वह कई विचारधारकों से प्रभावित हुआ। इसलिए उसके विचारों का महत्व उसके विचारों की मौलिकता में न होकर उनकी गतिशील समग्रता में है। मार्क्स भली भांति जानते थे कि यदि उन्हें सफल होना है तो उन्हें वही भाषा बोलनी चाहिए जिसे लोग चाहते हैं। इसलिए उसने अनेक विचारधाराओं को समयानुसार गतिशीलता प्रदान करके उन्हें जन उपयोगी बनाया। ग्रे का कथन है–"यह निर्विवाद सत्य है कि मार्क्स ने अपने चिन्तन के भवन के विभिन्न भागों के निर्माण हेतु विभिन्न स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की। उसने उसका निर्माण करने के लिए बहुत से भट्टों से ईंटें ली, लेकिन उनका प्रयोग अलग तरीके से किया।" सोरोकिन ने कहा है कि "मार्क्सवाद अनेक विचारधाराओं का ढेर है।" उसके सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि "मार्क्स ने एक चतुर माली की तरह विभिन्न रंग–रूपों सम्बन्धी सुन्दर फूलों (विचारधाराओं)

को एकत्रित करके उन्हें वैज्ञानिक समाजवाद रूपी उस माला (विचारधारा) में पिरो दिया जिसने सर्वहारा वर्ग के गले की शोभा बढ़ाई।'' इस तरह मार्क्स के विचारों पर अनेक विचारधाराओं का व्यापक प्रभाव पड़ा। उसकी विचारधारा को मूर्तरूप देने वाले प्रेरणा स्रोत निम्नलिखित हैं–

1. ***फ्रांसीसी समाजवाद (French Socialism)***–मार्क्स से पहले भी फ्रांस में समाजवादी विचारधारा का प्रतिपादन सेण्ट साइमन, चार्ल्स फोरियर, प्रौंधा आदि विचारकों द्वारा किया जा चुका था। इस समाजवाद का स्वरूप काल्पनिक होते हुए भी क्रान्तिकारी था, इसके क्रान्तिकारी चरित्र ने मार्क्स को सोचने के लिए विवश कर दिया, सेण्ट साईमन ने ऐतिहासिक प्रणाली के आधार पर यह बताया कि आर्थिक परिवर्तन राजनीतिक परिवर्तनों का ही परिणाम है। फोरियर ने भी इतिहास की आर्थिक व्याख्या पर बल दिया, लेकिन मार्क्स ने फ्रांसीसी समाजवादी केबेट के विचारों कि ''साम्यवाद की स्थापना तभी संभव है जब सारे आवश्यक कार्यों पर राज्य का नियन्त्रण हो'' का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। इससे स्पष्ट है कि मार्क्स और एंजिल्स को 1847 में साम्यवादी लीग की स्थापना करते समय 'समाजवाद' के स्थान पर 'साम्यवाद' शब्द का ही प्रयोग किया। इससे उसने काल्पनिक समाजवाद शब्द का ही प्रयोग किया। इससे उसने काल्पनिक समाजवाद से अपने साम्यवाद को अलग दर्शाया। मार्क्स ने वर्ग संघर्ष (Class-struggle) का सिद्धान्त, उत्पादन के साधनों के स्वामित्व का सिद्धान्त, श्रमिकों का उत्थान और पूंजीपति वर्ग के विनाश का सिद्धान्त आदि के फ्रांसीसी समाजवाद से ग्रहण किया, उसने ''वर्ग–विहिन समाज'' की कल्पना को सेण्ट साइमन से ग्रहण किया। मार्क्स तथा एंजिल्स ने स्वयं फ्रांसीसी समाजवादी विचारकों के प्रभाव को स्वीकार करते हुए कहा है कि ''उन्होंने मजदूरों के प्रबोधन के लिए जो अमूल्य सामग्री प्रदान की है, उसे भूलाया नहीं हो सकता।'' फ्रांसीसी समाजवादियों के 'अमीर–गरीब के संघर्ष' की अवधारणा पर ही मार्क्स का पूंजीपति वर्ग व मजदूर वर्ग के आपसी संघर्ष (वर्ग–संघर्ष) का विचार टिका हुआ है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मार्क्स का वैज्ञानिक समाजवाद फ्रांसीसी समाजवाद के ऊपर ही आधारित है।

2. ***हीगल एवं फ्यूअरबेक (Hegel and Feurback)***–मार्क्स पर हीगल तथा फ्यूअरबेक जर्मन–दार्शनिकों का गहरा प्रभाव पड़ा है। उसने हीगल से गतिशीलता का सिद्धान्त ग्रहण करते हुए सीखा है कि इतिहास घटनाओं की श्रंखला मात्र न होकर, विकास की एक क्रमिक प्रक्रिया है। इस बारे में मार्क्स ने हीगल की रचनाओं–'Philosophy of Right' तथा 'Phenomenology of Mind' से काफी कुछ ग्रहण किया है। उसने फ्यूअरबेक की रचना 'Essence of Christianity' से भी बहुत कुछ लिया है। मार्क्स ने हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को स्वीकार किया है। हीगल के अनुसार इस संसार में प्रत्येक वस्तु का विकास द्वन्द्वात्मक रूप में वाद (Thesis) प्रतिवाद (Anti-Thesis) तथा संवाद (Synthesis) की प्रक्रिया द्वारा होता है। हीगल का मानना है कि प्रत्येक वस्तु का होना 'वाद' है। 'वाद' में ही अन्तर्विरोध के कारण 'प्रतिवाद' छिपा रहता है। कालान्तर में 'वाद' प्रतिवाद बन जाता है और आगे चलकर वाद और प्रतिवाद दोनों के मेल से 'संवाद' का जन्म होता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। हीगल के अनुसार द्वन्द्ववादी निर्वचन आदर्शात्मक तथा विचारात्मक था। मार्क्स ने इस पद्धति को बदलकर विचारात्मक के स्थान पर भौतिकता का रूप दे दिया है। मार्क्स पदार्थ या आर्थिक शक्ति को द्वन्द्वात्मक विकास का आधार मानता है। मार्क्स ने फ्यूअरबेक के भौतिकवाद को हीगल के अमूर्त विचारवाद के साथ मिलाकर नई द्वन्द्वात्मक पद्धति

को मूर्त रूप दिया है। मार्क्स ने अपने ग्रन्थ 'Das Capital' की भूमिका में लिखा है कि "मेरा द्वन्द्ववाद हीगल से न केवल भिन्न है बल्कि उससे ठीक उल्टा भी है।" सेबाइन ने कहा है कि "मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्वात्मक चिन्तन जो शीर्षासन कर रहा था को पैरों के बल प्राकृतिक स्थिति में खड़ा किया है।" हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति ही मार्क्स के दर्शन का आधार है। चाहे मार्क्स ने इसे किसी भी रूप में ग्रहण किया है, लेकिन हीगल का प्रभाव मार्क्स के दर्शन पर बहुत अधिक मात्रा में है। यद्यपि मार्क्स ने हीगल व फ्यूअरबेक का अन्धाधुन्ध अनुसरण न करके उपयोगी तत्वों को ही ग्रहण किया है। इस प्रकार परोक्ष रूप में मार्क्स ने हीगल से काफी कुछ ग्रहण किया। मार्क्स ने अपनी रचना 'Das Capital' में हीगल का परोक्ष प्रभाव स्वयं स्वीकार किया है।

3. ***ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्र (British Political Economy)***–मार्क्स पर जिन अंग्रेज अर्थशास्त्रियों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा वे हैं–एडमस्मिथ, रिकार्डो तथा हॉग्सकिन। इन अर्थशास्त्रियों ने 'श्रम आधारित मूल्य सिद्धान्त' तथा 'अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त' को प्रतिपादित करके पूंजीपतियों के हितों का पोषण किया था। मार्क्स ने इस सिद्धान्तों को अपना आधार बनाकर "अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त" (Theory of Surplus–Value) का निर्माण करके इसका प्रयोग श्रमिकों के हितों का पोषण करने के लिए किया। मार्क्स ने बताया कि अतिरिक्त पूंजी का प्रयोग पूंजीपति वर्ग श्रमिक वर्ग का शोषण करने के लिए करता है। यद्यपि इस पूंजी पर श्रमिकों का अधिकार बनता है। लेकिन पूंजीपति वर्ग अपने सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक प्रभाव के कारण श्रमिकों को उनके हक से वंचित करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार मार्क्स ने ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्रियों के अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त को ज्यों का त्यों स्वीकार करके पूंजीपति वर्ग के स्थान पर केवल श्रमिक वर्ग के हितों की व्याख्या करने के लिए ही किया है। इसलिए ग्रे ने कहा है–"सामान्य व्यक्ति के लिए मार्क्स का 'अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त' रिकार्डो के मूल्य सिद्धान्त के सिवाय कुछ नहीं है।" इस प्रकार कहा जा सकता है कि मार्क्स पर ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों का भी व्यापक प्रभाव है। ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्र मार्क्स के 'अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त' का प्रेरणा स्रोत है।

4. ***यूरोप में सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियां (Socio-Economic Conditions in Europe)***–मार्क्स के समय में यूरोप के समाज में पूंजीपति वर्ग (बुर्जआ वर्ग) सर्वहारा वर्ग का पूर्व शोषण कर रहा था। कारखानों पर बुर्जआ वर्ग का पूर्ण अधिकार था। यह वर्ग श्रमिक वर्ग (सर्वहारा वर्ग) के हितों की लगातार अनदेखी कर रहा था। उस युग में पैदा हुए समाजवादी चिन्तकों ने सर्वहारा वर्ग की दुर्दशा पर विचार किया और काफी कुछ लिखा। औद्योगिक क्रान्ति के दौरान पैदा हुए सर्वहारा वर्ग के बारे में सर्वप्रथम मार्क्स ने विस्तार से विचार किया। मार्क्स ने तत्कालीन सामाजिक–आर्थिक विषमताओं को समाज के लिए घातक माना और पूंजीपति वर्ग के खिलाफ सर्वहारा वर्ग को संगठित करने का प्रयास किया, मार्क्स ने काल्पनिकि समाजवादियों के चक्रव्यूह को तोड़कर सर्वहारा वर्ग के हितों के लिए आवाज उठाई। उसने सर्वहारा वर्ग को क्रान्तिकारी दर्शन दिया। उसने अपनी पुस्तक 'Communist Manifesto' में मजदूर वर्ग को संगठित होने का आह्वान किया ताकि वे पूंजीपति वर्ग के शोषण को समाप्त कर सकें। इस तरह मार्क्स ने तत्कालीन सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों से भी काफी कुछ सीखा और अपने दर्शन को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया।

इस तरह कहा जा सकता है कि मार्क्स पर हीगल, फ्यूअरबेक, एडम स्मिथ, रिकार्डो, सेण्ट साइमन आदि के विचारों का काफी प्रभाव पड़ा। लेकिन मार्क्स ने उनकी मूल्यवान विचार सामग्री को ही ग्रहण किया और अनावश्यक व अनुपयोगी सामग्री का त्याग कर दिया। उसने प्रत्येक विचार को तार्किक आधार पर जांच–परख करके प्रयुक्त किया। उसने बिखरे हुए विचारों को तार्किक संगति (Logical Coherence) प्रदान की। इसलिए सोरोकिन का यह विचार सत्य है कि मार्क्सवाद अनेक विचारधाराओं का ढेर है। मार्क्स का साम्यवाद रूपी भवन अनेक विचारधाराओं रूपी ईंटों का संग्रह है। उसके मार्क्सवाद का आधार अनेक विचारकों के मूल्यवान विचारों का समन्वय है। जो मार्क्स का महत्वपूर्ण प्रयास है। इसलिए मार्क्स का महत्व उसकी मौलिकता में नहीं, बल्कि उसकी संश्लेषणात्मकता में है। तत्कालीन सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों ने इस संश्लेषणात्मकता को व्यापक आधार प्रदान किया है। ये परिस्थितियां ही मार्क्सवाद का प्रारम्भिक और अन्तिम बिन्दु है।

कार्ल मार्क्स का वैज्ञानिक समाजवाद
(Scientific Socialism of Karl Marx)

मार्क्सवाद को सर्वप्रथम वैज्ञानिक आधार प्रदान करने का श्रेय कार्ल मार्क्स व उसके सहयोगी एंजिल्स को जाता है। फ्रांसीसी विचारकों सेण्ट साईमन तथा चार्ल्स फोरियर ने जिस समाजवाद का प्रतिपादन किया था, वह काल्पनिक था। मार्क्स ने अपनी पुस्तकों 'Das Capital' तथा 'Comunist Manifesto' के वैज्ञानिक समाजवाद का प्रतिपादन किया। वेपर ने कहा है कि "पूर्ववर्ती समाजवादी विचारकों ने सुन्दर गुलाबों के स्वप्न लिए थे, गुलाब के पौधे उगाने के लिए जमीन तैयार नहीं की।" यह कार्य तो मार्क्स ने किया। उसने काल्पनिक समाजवाद को व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। उसने एक वैज्ञानिक की तरह सामाजिक प्रगति के लिए उत्तरदायी तत्वों को खोज निकाला और एक वर्ग विहीन समाज की स्थापना के लिए विधिवत् प्रक्रिया का रास्ता बताया। इसलिए मार्क्स का दर्शन अत्यन्त सुसम्बद्ध व व्यवस्थित होने के कारण वैज्ञानिक है और उसका समाजवाद भी वैज्ञानिक समाजवाद है।

मार्क्स के दर्शन को मोटे तौर पर तीन भागों में बांटा जा सकता है–

I. Dialectical Materialism (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद)

II. Historical Materialism (ऐतिहासिक भौतिकवाद)

III. Theory of Class-Struggle and Concept of Surplus-Value (वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त एवं अतिरिक्त मूल्य की अवधारणा)

मार्क्स के दर्शन की व्याख्या निम्नलिखित सिद्धान्तों के आधार पर की जा सकती है–

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
(Dialectical Materialism)

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त मार्क्स के सम्पूर्ण चिन्तन का केन्द्र बिन्दु है। मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद को अपने इस सिद्धान्त का आधार बनाया है। मार्क्स का मानना है कि संसार में हर प्रगति द्वन्द्वात्मक रूप में हो रही है। हीगल के विचार तत्व के स्थान पर द्वन्द्वात्मक रूप में हो रही है। हीगल के विचार तत्व के स्थान पर मार्क्स ने पदार्थ तत्व को महत्वपूर्ण बताया है। मार्क्स के अनुसार जड़ प्रकृति या पदार्थ ही इस सष्टि का एकमात्र मूल तत्व है। इसे

इन्द्रिय ज्ञान से देखा जा सकता है। जो सिद्धान्त जड़ प्रकृति या पदार्थ में विश्वास रखता है, भौतिकवाद कहलाता है। मार्क्स के अनुसार आत्मा तत्व का कोई अस्तित्व नहीं है। इसके विपरीत पेड़–पौधे, जीव–जन्तु, मकान आदि वस्तुएं प्रत्यक्ष रूप से देखी जा सकती है, इसलिए ये सत्य है। ये भौतिक वस्तुएं ही विचारों का आधार होती है। मार्क्स का मानना है कि इस जगत का विकास किसी अप्राकृतिक शक्ति के अधीन न होकर, उसकी अर्न्तमयी विकासशील प्रकृति का ही परिणाम है।

हीगल ने द्वन्द्वात्मक का प्रयोग विश्वात्मा (World Spirit) के विचार को स्पष्ट करने के लिए किया है। हीगल ने द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया के तीन अंग–वाद (Thesis), प्रतिवाद (Anti-Thesis) तथा संवाद (Synthesis) है। हीगल का मानना है कि प्रत्येक वस्तु के विचार में ही विरोधी तत्वों का समावेश होता है। कालान्तर में जब ये विरोधी तत्व वाद पर हावी हो जाते हैं तो निषेधात्मक निषेध (Negative Negation) के नियम के द्वारा प्रतिवाद का जन्म होता है। यही द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का प्रमुख आधार है। सही अर्थों में द्वन्द्वात्मकता विरोधी तत्वों का अध्ययन है। विकास विरोधी तत्वों के बीच संघर्ष का परिणाम है। इसी के एक उच्चतर वस्तु का जन्म होता है। इसी से सभी ऐतिहासिक व सामाजिक परिवर्तन होते हैं। मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्वात्मक को तो सत्य माना है। लेकिन उसके विचार तत्व का प्रतिकार किया है। उसने पदार्थ तत्व को महत्व देकर भौतिकवाद का ही पोषण किया है। उसके अनुसार द्वन्द्वात्मक विकास पदार्थ या जड़ प्रकृति की परस्पर विरोधमयी प्रकृति के कारण होता है। इसलिए उसका भौतिकवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism)–मार्क्स के इस सिद्धान्त को समझने के लिए द्वन्द्व, भौतिक तथा वाद तीनों शब्दों का अलग–अलग अर्थ समझना आवश्यक है। (क) 'द्वन्द्व' से तात्पर्य है–दो विरोधी पक्षों का संघर्ष। (ख) 'भौतिक' का अर्थ है–जड़ तत्व अथवा अचेतन तत्व। 'वाद' से तात्पर्य है–सिद्धान्त, विचार या धारणा। इस प्रकार सरल अर्थ में 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' का अर्थ है वह भौतिकवाद जो द्वन्द्ववाद की पद्धति को स्वीकृत हो। अर्थात् जड़ प्रकृतिया पदार्थ को सष्टि का मौलिक तत्व मानने वाला सिद्धान्त भौतिकवाद है। इसी तरह द्वन्द्ववादी प्रक्रिया के अनुसार जड़ जगत में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। पदार्थ की विरोधमयी प्रकृति के कारण इस सष्टि में निरन्तर होने वाला परिवर्तन या विकास द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहलाता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिवाद की आधारभूत मान्यताएं (Basic Assumption of Dialectical Materialism)– मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आधारभूत मान्यताएं या धारणाएं निम्नलिखित हैं–

I. सष्टि का मूल तत्व 'पदार्थ' है।

II. सष्टि और उसमें मौजूद मानव–समाज का विकास द्वन्द्वात्मक पद्धति से होता है।

मार्क्स का मानना है कि यह सारा संसार 'पदार्थ' (Matter) पर ही आधारित है अर्थात् इस सष्टि का स्वभाव पदार्थवादी है। इसलिए विश्व के विभिन्न रूप गतिशील पदार्थ के विकास के विभिन्न रूपों के प्रतीक हैं और यह विकास द्वन्द्वात्मरक पद्धति द्वारा होता है। इसलिए भोतिक विकास आत्मिक विकास से अधिक महत्वपूर्ण है। इस जगत का विकास किसी बाहरी शक्ति के अधीन न होकर, उसकी भीतरी शक्ति तथा उसको स्वभाव में परिवव्रन का ही परिणाम हैं इस तरह मार्क्स ने पूर्ववर्ती मार्क्सवाद के ऊपर लगाए गए कई आपेक्षों का हल पेश कर दिया।

मार्क्स की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया–मार्क्स तथा एंजिल्स ने अपनी इस प्रक्रिया को अनेक उदाहरणों द्वारा समझाया है। गेहूं के पौधे का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा है कि गेहूं का दाना एक वाद है। भूमि में बो देने पर यह गलकर या नष्ट होकर अंकुरित होता है और एक पौधे का रूप ले लेता है। यह पौधा द्वन्द्वात्मक विकास में 'प्रतिवाद' (Anti-thesis) है। इस प्रक्रिया का तीसरा चरण पौधे में बाली का आना, उसका पकना तथा उसमें दाने बनकर पौधे का सूख जाना है। यह संवाद कहलाता है। यह वाद और प्रतिवाद दोनों से श्रेष्ठ है। उन्होंने आगे उदाहरण देते हुए कहा है कि पूंजीवाद 'वाद' है। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद को 'प्रतिवाद' तथा साम्यवाद संवाद कहा जा सकता है। यहां पूंजीवाद संघर्ष के बाद विकसित रूप में पौधा रूपी अधिनायकवाद की स्थाना होगी जो अन्त में साम्यवादी व्यवस्था के रूप में पहुंचकर आदर्श व्यवस्था (संवाद) का रूप ले लेगा।

मार्क्स का मानना है कि द्वन्द्ववाद की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। कालान्तर में वाद, प्रतिवाद तथा प्रतिवाद संवाद बनकर वापिस पूर्ववत स्थिति (वाद) में आ जाते हैं। जैसे गेहूं के दाने से पौधा बनना, पौधे से फिर दाने बनना, प्रत्येक वस्तु की विरोधमयी प्रवत्ति ही द्वन्द्वात्मक विकास का आधार होती है। इससे ही नए विचार (संवाद) का जन्म होता है। इस प्रक्रिया में पहले किसी वस्तु का 'निषेद्य' (Negation) होता है और बाद में 'निषेद्य का निषेद्य' (Negation of Negation) होता है और एक उच्चतर वस्तु अस्तित्व में आ जाती है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विशेषताएं (Characteristics of Dialectical Materialism)–मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. ***आंगिक एकता (Organic Unity)***–मार्क्स के अनुसार इस भौतिक जगत में समस्त वस्तुएं व घटनाएं एक–दूसरे से सम्बन्धित है। इसका कारण इस संसार का भौतिक होना है। यहां पदार्थ का अस्तित्व विचार से पहले है। संसार में सभी पदार्थ व घटनाएं एक–दूसरे पर आश्रित है अर्थात् उनमें पारस्परिक निर्भरता का गुण पाया जाता है। इसलिए अवश्य ही सभी पदार्थ एक–दूसरे को प्रभावित भी करते हैं और उनमें आंगिक एकता भी है। एक घटना को समझे बिना दूसरी घटना का यथार्थ रूप नहीं समझा जा सकता है।

2. ***परिवर्तनशीलता (Changeability)***–मार्क्स का मानना है कि आर्थिक शक्तियां संसार के समस्त क्रिया–कलापों का आधार होती है। ये सामाजिक व राजनीतिक विकास की प्रक्रिया पर भी गहरा प्रभाव डालती है। ये आर्थिक शक्तियां स्वयं भी परिवर्तनशील होती हैं और सामाजिक विकास की प्रक्रिया को भी परिवर्तित करती हैं। यह सब कुछ द्वन्द्ववादी प्रक्रिया पर ही आधारित होता है। इसलिए विश्व में कुछ भी शाश्वत् व स्थायी नहीं है। प्रकृति निरन्तर रूप बदलती रहती है। परिवर्तन ही सष्टि का नियम है।

3. ***गतिशीलता (Dynamism)***–मार्क्स का मानना है कि प्रकृति में पाया जाने वाला प्रत्येक पदार्थ गतिशील है। जो आज है, कल नहीं था, कल था वह आज नहीं है और जो आज है वह कल नहीं होगा। गतिशीलता का यह सिद्धान्त इस जड़ प्रकृति में निरन्तर कार्य करता है और नई–नई वस्तुओं या पदार्थों का निर्माण करता है। इसलिए यह भौतिकवादी विश्व सदैव गतिशील व प्रगतिशील है। इसे गतिशील बनने में किसी बाहरी शक्ति की आवश्यकता नहीं होती है। स्वत' ही गतिशील रहता है क्योंकि गतिशीलता जड़ प्रकृति का स्वभाव है।

4. ***परिमाणात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन (Quantitative and Qualitative change)***– प्रकृति में परिवर्तन एवं विकास साधारण रीति से केवल परिमाणात्मक (Quantitative) ही नहीं होते बल्कि गुणात्मक (Qualitative) भी होते हैं। ये परिवर्तन क्रान्तिकारी तरीके से होते हैं। पुराने पदार्थ नष्ट होकर नए रूप में बदल जाते हें और पुरानी वस्तुओं में परिमाणात्मक परिवर्तन विशेष बिन्दु पर आकर गुणात्मक परिवर्तन का रूप ले लेते हैं। जैसे पानी गर्म होने के बाद एक विशेष बिन्दु पर भाप बन जाएगा और उसमें गुणात्मक परिवर्तन आ जाएगा। इस गुणात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया को क्रान्तिकारी प्रक्रिया कहा जाता है। ये परिवर्तन धीरे–धीरे न होकर झटके के साथ व शीघ्र होते हैं। इसी से पदार्थ का पुराना रूप नष्ट होता है और नया रूप अस्तित्व में आता है।

5. ***संघर्ष (Struggle)***–मार्क्स का मानना है कि प्रत्येक वस्तु में संघर्ष या प्रतिरोध का गुण अवश्य पाया जाता है। यह विरोध नकारात्मक व सकारात्मक दोनों होता है। जगत के विकास का आधार यही संघर्ष है। संघर्ष के माध्यम से ही विरोधी पदार्थों में आपसी टकराव होकर नए पदार्थ को जन्म देता है। इस संघर्ष में ही नई वस्तु का अस्तित्व छिपा होता है।

द्वन्द्वदात्मक भौतिकवाद के नियम (Laws of Dialectical Materialism)–मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के तीन नियम हैं–

(क) विपरीत गुणों की एकता व संघर्ष का नियम,

(ख) परिमाणात्मक द्वारा गुणात्मक परिवर्तन का नियम,

(ग) निषेद्यात्मक निषेद्य का नियम।

(क) ***विपरीत गुणों की एकता व संघर्ष का नियम (Law of unity and struggle of opposites)***–यह नियम मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रमुख भाग है। इसे द्वन्द्ववाद का सार तत्व भी कहा जा सकता है। यह नियम प्रकृति, समाज और चिन्तन के विकास की द्वन्द्ववादी प्रक्रिया को समझने के लिए अति आवश्यक है। इस नियम के अनुसार संसार की सभी वस्तुओं के अन्दर विरोध अन्तर्निहित है। विरोधों के संघर्ष के परिणामस्वरूप ही जगत के विकास की प्रक्रिया चलती है। इसी के द्वारा मात्रात्मक परिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन में बदलते हैं। मार्क्स ने एक चुम्बक का उदाहरण देकर बताया है कि प्रत्येक चुम्बक के दो ध्रुव होते हैं, जिन्हें उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के नाम से जाना जाता है। ये एक दूसरे के निषेद्यक (Negative) होते हुए भी एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। चुम्बक के कितने भी टुकड़े कर दिए जाएं ये परस्पर विरोधी ध्रुव नष्ट नहीं होते। इसी प्रकार चुम्बक की तरह प्रत्येक वस्तु या पदार्थ में परस्पर विरोधी ध्रुव विद्यमान रहते हैं। वे उसके आन्तरिक पक्षों, प्रवत्तियों या शक्तियों के प्रतीक हैं, जो परस्पर निषेद्यक होने के बावजूद भी परस्पर सम्बन्धित होते हैं। इन परस्पर अन्तर्विरोधी अविच्छेदनीय सम्बन्धों से ही विपरीतों की एकता का जन्म होता है। उदाहरण के लिए, श्रमिक और पूंजीपति एक–दूसरे के विपरीत वर्ग–चरित्र होते हुए भी एक एकताबद्ध पूंजीवादी समाज का निर्माण करते हैं। इनमें से एक का अभाव पूंजीवादी समाज के अस्तित्व को नष्ट कर देगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसी वस्तु की एकता की सीमाओं के भीतर ही विरोधियों के बीच संघर्ष चलता रहता है। यही पदार्थ और चेतना के विकास का स्रोत है। लेनिन ने कहा है कि–"विकास विपरीतों का संषर्घ है।" जिस वस्तु में जितनी संघर्ष की प्रवत्ति रहती है, वह

वस्तु उतनी ही गतिशील व परिवर्तन होती है। यही समाज के विकास का आधार है।

(ख) ***परिणामात्मक द्वारा गुणात्मक परिवर्तन का नियम (Law of Qualitative change induced by Quantitative Changes)***–मार्क्स का कहना है कि मात्रा में बड़ा अन्तर आने पर गुण में भी भारी अन्तर आ जाता है। यही नियम प्रकृति में होने वाली आकस्मिक घटनाओं की व्याख्या का आधार है। उदाहरण के लिए–जैसे हम पानी को गर्म करते हैं तो वह एक निश्चित बिन्दु पर भाप में बदल जाता है। उसी प्रकार उसका तापक्रम एक निश्चित बिन्दु तक कम करने पर वह बर्फ बन जाता है। यह जल का गुणात्मक परिवर्तन है। इस तरह वस्तुओं में भारी मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन होना अवश्यम्भावी हो जाता है। वैसे तो छोटे–मोटे परिवर्तन सष्टि क समस्त वस्तुओं में निरन्तर होते रहते हैं, लेकिन उनसे वस्तु के मूल स्वरूप में कोई बदलाव नहीं आता। यह वस्तु के मूल स्वरूप में कोई बदलाव नहीं आता। यह परिवर्तन तो विशेष बिन्दु पर ही होता है। ये परिवर्तन जब सामाजिक क्षेत्र में होते हैं तो इन्हें हम क्रान्ति कहते हैं। कुछ समय तक धीरे–धीरे परिवर्तन होने के बाद औद्योगिक क्रान्ति, फ्रेंच राज्य क्रान्ति रूसी राज्य क्रान्ति जैसे परितर्वन अकस्मात् ही होते हैं। उदाहरणार्थ औद्योगिक क्रान्ति या पूंजीवाद का परिवर्तन होने से पहले उपनिवेशों के शोषण से थोड़े से ही पूंजीपतियों के पास पूंजी का संग्रह होने लगता है और दूसरी तरफ किसानों के जमीनों से वंचित होने पर भूसम्पत्ति सर्वहारा वर्ग की संख्या बढ़ने लगती है। ये दोनों परिवर्तन धीरे–धीरे होते हैं। किन्तु एक समय ऐसा आता है जब कारखानों को बनाने के लिए पर्याप्त पूंजी व मजदूर उपलब्ध हो जाते हैं तो उसी समय औद्योगिक क्रान्ति आती है और पूंजीवाद की स्थापना हो जाती है। मार्क्स क्रान्ति की स्वाभाविकता को सिद्ध करने के लिए इस नियम का औचित्य सिद्ध करता है और कहता है कि परिमाणात्मक से गुणात्मक परिवर्तन करने वाली क्रान्तियां ह नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करती है और सामाजिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त करती है। मार्क्स का कहना है कि इसी नियम के तहत पूंजीवाद लम्बी छंलाग द्वारा समाजवाद में बदल जाएगा और सामाजिक व्यवस्था में भारी गुणात्मक अन्तर आएगा।

(ग) ***निषेद्यात्मक निषेद्य का नियम (Law of Negative Negation)***–यह नियम प्रकृति के विकास का अन्तिम नियम प्रकृति के विकास की सामान्य दशा पर प्रकाश डालता है। 'निषेद्य' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हीगल ने विचार तत्व के विकास के लिए किया था। मार्क्स ने इसका प्रयोग भौतिक जगत में किया। निषेद्य शब्द का अर्थ किसी पुरानी वस्तु से उत्पन्न नई वस्तु का पुरानी वस्तु को अभिभूत कर लेने से है। अतः निषेद्य विकास का प्रमुख अंग है। किसी भी क्षेत्र में तब तक कोई विकास नहीं हो सकता जब तक कि वह अपने अस्तित्व के पुराने रूप का निषेद्य न करे। निषेद्य ही अन्तर्विरोधों का समाधान करता है। पुरानी वस्तुओं का स्थान नई वस्तु लेती है। विकास के इस क्रम में पुराना नया हो जाता है और फिर कोई और नया उसका स्थान ले लेता है। इस प्रकार विकास का यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। यह निषेद्य की प्रक्रिया समय की अविरल धारा के समान निर्बाधा रूप से चलती रहती है। प्रत्येक पुराना नए को जन्म देते समय उसके निषेद्य को जन्म देकर इस विकास की प्रक्रिया को गतिशील बनाता है। निषेद्य से निषेद्य की उत्पत्ति होती है। कालान्तर में निषेद्य निषेद्य को जन्म देता है और निषेद्य का अनन्त क्रम जारी रहता है। अतः विकास अनगणित क्रमबद्ध

निषेद्यों की एक सत्य कहानी है। अर्थात् प्रगति द्वन्द्वात्मक विकास की आम दशा है। यह सर्पिल आकार में उच्च से उच्चतर स्थिति की तरफ निरन्तर प्रवाहमान रहती है। मार्क्स ने उदाहरण देकर निषेद्य की प्रक्रिया को समझाते हुए कहा है–"आदिम साम्यवाद का दास समाज, दास समाज का सामन्तवाद, सामन्तवाद का पूंजीवाद, पूंजीवाद का समाजवाद निषेद्य करता है। इनमें प्रत्येक अगला प्रथम का निषेद्य है और यह प्रक्रिया सतत् रूप से चलती है। यही विकास का आधार है। एंजिल्स ने इसको समझाते हुए कहा है कि–अण्डों से तितलियां अण्डों का निषेद्य करके ही उत्पन्न होती हैं और नए अण्डे तब उत्पन्न होते हैं जब तितलियों का निषेद्य हो जाता है। इसी तरह मार्क्स ने कहा है कि निजी सम्पत्तिवादी समाज व्यवस्था आदिम साम्यवाद का निषेद्य है और इसके स्थान पर निषेद्य द्वारा वैज्ञानिक समाजवाद की स्थाना होगी जो पहले दोनों से श्रेष्ठ होगा। इस तरह प्रत्येक पदार्थ में अन्तर्विरोधों के संघर्ष में निषेद्य का नियम कार्य करता है और इसी से समाज की प्रगति का मार्ग आगे बढ़ता है। अतः निषेद्यात्मक निषेद्य का नियम प्रगति का आधार है।

मार्क्स के द्वन्द्ववाद की हीगल के द्वन्द्ववाद से तुलना (Comparison of Marx's Dialecticism with Hegel's Dialecticism)

यद्यपि मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति का विचार हीगल से लिया था लेकिन फिर भी उन दोनों में आपसी मतभेद पाए जाते हैं।

दोनों में समानता–हीगल तथा मार्क्स दोनों द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के तीन तत्वों वाद, प्रतिवाद व संवाद में विश्वास करते हैं। मार्क्स भी हीगल की तरह विश्वास करता है कि 'वाद' में निषेद्य होने पर प्रतिपाद का जन्म होता है और कालान्तर में 'प्रतिवाद' भी निषेद्य के गुण द्वारा 'संवाद' बन जाता है। यह प्रक्रिया निषेद्यात्मक निषेद्य के नियम द्वारा अनवरत रूप से चलती रहती है। कालान्तर में संवाद निषेद्य द्वारा वाद को उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया जल चक्र के समान प्रकृति में सदैव विद्यमान रहती है। इस तरह हीगल व मार्क्स दोनों द्वन्द्ववादी प्रक्रिया पर समानता का रूख रखते हैं।

दोनों में असमानता–मार्क्स ने हीगल के विपरीत भौतिकवाद को अपने दर्शन का आधार बनाया है। हीगल के मत में भौतिक वस्तुएं, प्रकृति आदि आत्मा के विकार या उससे उत्पन्न हैं। लेकिन मार्क्स का कहना है जिसे हम आत्मा, मन अथवा मस्तिष्क कहते हैं, वह उसी प्रकार भौतिक शरीर से उत्पन्न वस्तुएं हैं जैसे घड़ी के पुर्जों को एक निश्चित क्रम से संयुक्त करने पर उसमें गति आ जाती है। इस प्रकार हीगल विचारों को प्रधान मानते हुए पदार्थ को विचारों का प्रतिबिम्ब मानता है। किन्तु मार्क्स 'पदार्थ' तत्व को प्रमुख देता है और उसका विचार है कि 'पदार्थ' से ही विचारों की उत्पत्ति होती है। मार्क्स ने कहा है–"मानवीय चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निर्धारण करता है।" मार्क्स ने आगे कहा है कि "मैंने हीगल के द्वन्द्ववाद को जो शीर्षासन कर रहा था, उसके अन्दर छिपे विचारों को जानने के लिए पैरों के बल खड़ा किया है।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि हीगल व मार्क्स में आधारभूत समानता होते हुए भी दोनों की द्वन्द्ववादी पद्धति में कुछ अन्तर भी है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना (Criticism of Dialectical Materialism)

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखत हैं–

1. ***गूढ़ तथा अस्पष्ट (Vague and Unclear)***–मार्क्स ने द्वन्द्ववाद की जो व्याख्या की है,

उसमें अस्पष्टता का पुट अधिक है। वेवर ने उसकी इस धारणा को अत्यधिक रहस्यमयी बताया है। उसने आगे कहा है–"मार्क्स यह नहीं बताता कि भौतिकवाद से उसका क्या अभिप्राय है। वह केवल यही बताता है कि उसका भौतिकवाद यान्त्रिक न होकर द्वन्द्वात्मक है। मार्क्स ने यह नहीं बताया कि पदार्थ किस तरह गतिशील होता है। लेनिन ने स्वयं स्वीकार किया है कि हीगल के द्वन्द्ववाद को समझे बिना मार्क्स के द्वन्द्ववाद को समझना अति कठिन कार्य है। अतः मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अत्यन्त रहस्यमी है। यद्यपि लेनिन तथा अन्य साम्यवादी लेखकों ने अपनी रचनाओं में इसको स्थान देने का प्रयास तो किया है, लेकिन वे इसकी विस्तत विवेचना करने में असफल रहे। इसका प्रमुख कारण इसकी अस्पष्टता है।

2. ***आत्म-तत्व की उपेक्षा (Ignores Individual Element)***–इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचना यह भी है कि आत्म तत्व की घोर उपेक्षा करता है। मार्क्स ऐन्द्रिय ज्ञान को ही प्रामाणिक मानता है। भारतीय आध्यात्मवादी विचारकों व लेखकों के मन में मार्क्स की बात उतर नहीं सकती। मार्क्स ने जितने बल से जड़ जगत की सत्ता सिद्ध की ही; दूसरे व्यक्ति उतनी ही प्रबलता से अनुभव के आधार पर आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हैं। अतः आत्मा के तत्व में विश्वास रखने वालों की दष्टि से विशेष रूप से भारतीय आध्यात्मवाद की दष्टि से मार्क्स का यह सिद्धान्त गलत है।

3. ***विकास एवं जड़-चेतन पदार्थ (Evolution in living and Non-living substances)***– आलोचकों का कहना है कि द्वन्द्ववाद आदर्शवाद से तो कदाचित सम्भव हो सकता है, लेकिन भौतिकवाद में नहीं। विवेक या विश्वात्मा आन्तरिक आवश्यकताओं के कारण स्वयं विकसित हो सकती है, परन्तु पदार्थ जो आत्मा विहीन होता है, स्वयं विकसित नहीं हो सकता। इसलिए जड़ जगत में होने वाले सारे परिवर्तन आन्तरिक शक्ति की बजाय बाहरी शक्ति का ही परिणाम है। उदाहरण के लिए मोटर एक जड़–पदार्थ है। वह स्वयं नहीं चल सकती। उसे चलाने के लिए चेतन पदार्थ की आवश्यकता पड़ती है। इस तरह जड़ व चेतन को समान मानना व उनकी तुलना करना तर्कसंगत नहीं हो सकता। भौतिक जगत के नियम उसी रूप में मानव–समाज में लागू नहीं हो सकते। मार्क्स के वर्ग–विहीन समाज की स्थापना भौतिक आधार पर ही नहीं हो सकती बल्कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति की प्रेरणा में मानवीय चेतना का बहुत बड़ा हाथ होता है।

4. ***अप्रामाणिक (Unproved)***–मार्क्स ने अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की पुष्टि दष्टांतों के आधार पर की है न कि प्रमाणों के आधार पर। दष्टांतों का प्रयोग भी मनमाने ढंग से किया गया है। प्राणिशास्त्र के नियम इतिहास के नियमों से भिन्न होते हैं। लेनिन तथा एंजिल्स ने स्वयं कहा था–"जीवशास्त्र के विचारों को हमें सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में नहीं लाना चाहिए।" अतः यह मानना अनुचित है कि भौतिक जगत के नियम मानव जीवन के समान रूप से लागू हो सकते हैं। ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण मार्क्स ने नहीं दिया, जिससे माना जा सके कि भौतिक जगत व प्राणी जगत के नियम समान हैं।

5. ***नैतिक मूल्यों की उपेक्षा (Neglect of Moral Values)***–मार्क्स ने पदार्थ तत्व को मानवीय चेतना एवं अंतःकरण से अधिक महत्व दिया है। उसने मनुष्य को स्वार्थी प्राणी माना है जो अपने हितों के लिए नैतिक मूल्यों एवं मर्यादाओं की उपेक्षा करता है। सत्य तो यह हे कि मनुष्य स्वार्थी होने के साथ परोपकार का गुण भी रखता है। इस तरह नैतिक मूल्यों की उपेक्षा करके मार्क्स ने पक्षपाती व एकांगी दष्टिकोण का ही परिचय दिया है।

6. ***सामाजिक जीवन में अमान्य (Not Applicable in Social Life)***–मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त जड़ जगत् से सम्बन्धित एक भौतिकवादी वैज्ञानिक सिद्धान्त है, जिसे मानव के समाजिक जगत् में पूरी तरह से लागू करना कठिन है। वस्तुतः सामाजिक जीवन की मुख्य इकाई स्वयं व्यक्ति होता है जो पदार्थ की तरह व्यवहार नहीं करता है। सामाजिक जीवन की घटनाएं प्रकृति के नियमों के अनुसार चलती है। इस तरह सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में मार्क्स की वैज्ञाकिन दष्टि का दावा खोखला व अमान्य है तथा मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त सामाजिक जीन में लागू नहीं हो सकता।

7. ***मनोवैज्ञानिक दोष (Psychological Defect)***–मार्क्स ने भौतिक जगत के विकास का आधार संघर्ष (Struggle) को माना है। वह भौतिक संतुष्टि को ही मानसिक संतुष्टि का आधार मानता है। किन्तु यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि कई बार मनुष्य दुःखों में भी मानसिक रूप से संतुलित रहता है। कई बार निर्धन व्यक्ति धनवानों की बजाय अधिक संतुष्ट दिखाई देता है। इस तरह मार्क्स ने सहयोग, प्रेम, सहानुभूति एवं सहिष्णुता आदि मानवीय गुणों की उपेक्षा करके मानवीय स्वभाव का दोषपूर्ण चित्रण किया है। उसने सामाजिक प्रगति का आधार 'संघर्ष' प्रगति का मार्ग अवरुद्ध करता है। सामाजिक विकास का मार्ग रोककर सामाजिक विघटन को जन्म देता है। इस तरह मार्क्स का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण गलत है।

8. ***नियतिवाद का समर्थन (Support to Fatalism)***–मार्क्स का मानना है कि मानव–विकास की प्रक्रिया पूर्व–निश्चित है। इस विकास प्रक्रिया में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार मार्क्स ने नियतिवाद का समर्थन किया है। उसके अनुसार संसार की प्रत्येक घटना ऐतिहासिक नियतिवाद का ही परिणाम है। मार्क्स ने 'मानव की स्वतन्त्र इच्छा' की घोर उपेक्षा की है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब मनुष्य ने अपनी स्वतन्त्र इच्छा के बल पर इतिहास की धारा को मोड़ दिया। इस विश्व में प्रत्येक घटना के पीछे नियतिवाद के साथ–साथ मानवीय चेतना का भी हाथ होता है।

इस प्रकार मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की वैज्ञानिकता व पूर्णता को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता है। उसके इस सिद्धान्त में अनेक दोष हैं। इसके लिए स्वयं मार्क्स काफी हद तक दोषी है। हैलोवल ने कहा है–''मार्क्स स्वयं एक गम्भीर दार्शनिक नहीं था, जो कुछ गम्भीरता उसमें है वह सब हीगल के कारण है।'' इस तरह सेबाइन तथा वेवर ने भी दर्शनशास्त्र की बजाय राजनीति, कानून तथा अर्थशास्त्र का ज्ञाता माना है। प्रो० हंट ने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अवैज्ञानिक कहा है। इस प्रकार निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त न तो मौलिक है और स्पष्ट है। यह अनेक विसंगतियों का कच्चा चिट्ठा है।

लेकिन अनेक दोषों के बावजूद भी राजनीतिक चिन्तन के इतिहस में सिद्धान्त का विशेष महत्व है। मार्क्स ने इस सिद्धान्त के बल पर यह बताया कि मनुष्य की सारी समस्याएं इहिलौकिक हैं। समाज की कोई भी अवस्था चिर–स्थायी नहीं है और सामाजिक परिवर्तन में भौतिक (आर्थिक) परिस्थितियों की भूमिका महत्वपूर्ण व आधारभूत होती है। इस सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स नए समाज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया और पूंजीवाद के शोषण से मजदूरों को मुक्ति दिलाकर साम्यवादी समाज की स्थापना के स्वप्न देखा। इस सिद्धान्त के आधार

पर ही मार्क्स धार्मिक रूढ़ियों व अंधविश्वासों का खंडन किया और धर्मनिरपेक्षता की धारणा को सबल आधार प्रदान किया। इस तरह मार्क्स ने यथार्थवादी चिन्तन को एक ठोस व विश्वसनीय आधार प्रदान किया और समाजवादियों ने यह दढ़ विश्वास पैदा किया कि उनकी विचारधारा पूर्ण वैज्ञानिक है और साम्यवाद की स्थापना अवश्यम्भावी है। इस सिद्धान्त का महत्व इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि आगे लेनिन तथा अन्य समाजवादी विचारकों ने मार्क्स की ही विचारधारा को अपने चिन्तन का आधार बनाया और मार्क्स की भविष्यवाणियों की सुरक्षा की।

ऐतिहासिक भौतिकवाद
(Historical Materialism)

मार्क्स ने अपने सिद्धान्त 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' (Dialectical Materialism) का प्रयोग ऐतिहासिक व सामाजिक विकास की व्याख्या करने के लिए किया। उसने बताया कि मानव–इतिहास में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों और घटनाओं के पीछे आर्थिक शक्तियों का हाथ होता है। इसलिए उसने अपने 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के सिद्धान्त के आधार पर इतिहास की व्याख्या को ऐतिहासिक भौतिकवाद या 'इतिहास की भौतिकवादी' व्याख्या (Materialistic Interpretation of History) का नाम दिया, आगे चलकर अनेक विद्वानों ने इस सिद्धान्त को 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' (Economic Interpretation of History), 'आर्थिक नियतिवाद' (Economic Determinism) आदि नामों से भी पुकारा गया। इस प्रकार मार्क्स का यह सिद्धान्त भ्रमजाल में फंस गया।

मार्क्स के अनुसार ऐतिहासिक विकास का निर्णायक तत्व उत्पादन शक्तियां हैं। उसके आर्थिक नियतिवाद के अनुसार मनुष्य जो कुछ भी करता है, उसका निर्णय आर्थिक या भौतिक कार्यों द्वारा होता है। मनुष्य आर्थिक शक्तियों का दास है। इस सिद्धान्त के अनुसार मार्क्स ने यह बताया है कि 'इतिहास का निर्धारण अन्तिम रूप में आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार होता है।" इस प्रकार मार्क्स के सिद्धान्त का नाम इतिहास की आर्थिक व्याख्या होना चाहिए। लेकिन मार्क्स ने 'भौतिकवाद' शब्द का प्रयोग हीगल के आशीर्वाद से अपने सिद्धान्त को अलग व उलटा रखने के लिए इसका नाम ऐतिहासिक भौतिकवाद ही रखा।

सिद्धान्त की व्याख्या
(Explanation of Theory)

मार्क्स का कहना है कि मनुष्य जाति को राजनीति, धर्म विज्ञान आदि का विकास करने से पहले खाने–पीने की, निवास की और कपड़ों की जरूरत होती है। इसलिए प्रत्येक देश की राजनीतिक संस्थाएं, उसकी सामाजिक व्याख्या, उसके व्यापार और उद्योग, कला, दर्शन, रीतियां, आचरण, परम्पराएं, नियम, धर्म तथा नैतिकता जीवन की भौतिक आवश्यकताओं द्वारा प्रभावित रूप धारण करती हैं। एंजिल्स के अनुसार "एक निश्चित समय में एक निश्चित जाति में जीवन–निर्वाह के तात्कालिक भौतिक साधनों का उत्पादन एवं आर्थिक विकास की मात्रा एक ऐसी नींव होती है जिस पर उस जाति की राज्य विषयक संस्थाएं, कानूनी विचार, कला एवं धार्मिक विचार आधारित होते हैं।" मार्क्स ने आगे कहा है कि इतिहास की सामाजिक और राजनीतिक क्रान्तियां जीवन की भौतिक अवस्थाओं के कारण होती हैं, सत्य तथा न्याय के अमूर्त विचारों या भगवान की इच्छा के कारण नहीं। जीवन की भौतिक अवस्थाओं से उसका तात्पर्य वातावरण, उत्पादन, वितरण और विनिमय से है, और उनमें भी उत्पादन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। मार्क्स ने अपने इस सिद्धान्त को भूत और भविष्य दोनों में क्रान्तियों के लिए

किया है। भूतकाल की क्रान्ति सामंतवादियों के खिलाफ बुर्जुआवादियों की थी और भविष्य की क्रान्ति बुर्जुआवादियों (पूंजीपतियों) के विरूद्ध सर्वहारा वर्ग (मजदूर वर्ग) की होगी।

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत की जा सकती है:–

1. ***भोजन की आवश्यकता (Need of Food)***–इस सिद्धान्तका मौलिक तत्व यह है कि मनुष्य के जीवन के लिए भोजन पहली आवश्यकता है। उसका जीवित रहना इस बात पर निर्भर करता है कि वह अपने लिए प्राकृतिक साधनों से कितना भोजन प्राप्त करता है। अतः मनुष्य के समस्त क्रिया–कलापों का आधार उत्पादन प्रणाली है और इसी से समाज की रचना होती है।

2. ***उत्पादन की शक्तियां (Productive Forces)***–मार्क्स कहता है कि उत्पादन की समस्त शक्तियों में प्राकृतिक साधन, मशीन, यन्त्र, उत्पादन, कला तथा मनुष्यों के मानसिक और नैतिक गुण शामिल हैं। ये शक्तियां समस्त मानव और सामाजिक इतिहास की निर्धारक हैं। किसी युग की कानूनी और राजनीतिक संस्थाएं सांस्कृतिक उत्पादन के साधनों की उपज है। धार्मिक विश्वासों और दर्शन का आधार भी उत्पादन की शक्तियां ही हैं। एंजिल्स ने कहा है–"इतिहास के प्रत्येक काल में आर्थिक उत्पादन और विनिमय की पद्धति तद्जनित सामाजिक संगठन का वह आधार बनाते हैं जिसके ऊपर उसका निर्माण होता है और केवल जिसके द्वारा ही उनके राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की व्याख्या की जा सकती है।" इस तरह कहा जा सकता है कि उत्पादन और वितरण की प्रणाली में परिवर्तन होने पर उसके अनुरूप ही सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं में भी परिवर्तन आते हैं। उत्पादन की शक्तियां ही सामाजिक और राजनीतिक ढांचे का आधार है। इस ढांचे से मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित होते हैं और यही 'उत्पादन के सम्बन्ध' भी कहलाते हैं। अतः उत्पादन की शक्तियां ही समस्त मानवीय संस्थाओं की रूपरेखा का आधार है। मनुष्यों के समस्त क्रिया–कलाप इसी की परिधि में आते हैं।

3. ***परिवर्तनशील उत्पादन-शक्तियों का सामाजिक सम्बन्धों पर प्रभाव (Impact of changing Productive Forces on Social Relations)***–मार्क्स का कहना है कि "जीवन के भौतिक साधनों की उत्पादन पद्धति सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन की समस्त क्रियाओं को निर्धारित करती है।" उत्पादन की शक्तियां सदैव समान न रहकर परिवर्तित होती रहती है और साथ में सामाजिक सम्बन्धों को भी परिवर्तित करती है। यही कारण है कि औद्योगिक क्रान्ति से पहले हस्तचलित यन्त्रों के युग में समाज का स्वरूप सामंतवादी था और औद्योगिक क्रान्ति के बाद वाष्पचलित तथा अन्य ऊर्जाचालित यन्त्रों के प्रयोग के युग में अर्थात मशीनी युग में औद्योगिक पूंजीवादी समाज की स्थापना हुई है। मार्क्स का विश्वास है कि यह विकास (उत्पादन शक्तियों का विकास) समानान्तर चलता है और यदि यह विकास (उत्पादन शक्तियों का विकास) समानान्तर चलता है और यदि कृत्रिम उपायों से इसके रास्ते में रूकावट डालने का कोई प्रयास किया जाता है तो स्वाभाविक रूप से संकट का जन्म होता है। समाजवादी व्यवस्था ऐसे सभी दोषों से मुक्त रहती है। अतः यह बात सही है कि परिवर्तनशील उत्पादन शक्तियां ही सामाजिक सम्बन्धों का नए सिरे से निर्धारण करती हैं।

4. ***उत्पादन एवं उत्पादन शक्ति के विकास की द्वन्द्ववाद से प्राप्ति (Dialectical***

Evolution of Production and Productive Forces)–मार्क्स का कहना है कि उत्पादन की शक्तियों में तब तक परिवर्तन चलता रहता है जब तक की उत्पादन की सर्वश्रेष्ठ अवस्था नहीं आ जाती। इसी के आधार पर मार्क्स ने पूंजीवाद को समाजवाद की दिशा में ले जाने का प्रयास किया है। इस तरह पुरानी व्यवस्था नष्ट हो जाती है और नवीन व्यवस्था का जन्म होता है। उत्पादन शक्तियों का पूर्णताः की तरफ विकसित व परिवर्तित होते रहना ही सामाजिक परिवर्तन व विकास का आधार है।

5. ***आर्थिक व्यवस्था और धर्म (Economy and Religion)***–मार्क्स ने धर्म की आलोचना की है। वह इसका पूर्ण रूप से विरोध करते हुए कहता है कि "धर्म दोषपूर्ण आर्थिक व्यवस्था का परिणाम है और यह अफीम के नशे की तरह है।" यह पूंजीपतियों द्वारा मजदूर वर्ग को अनेक दुःखों से दूर रखने या दुःख भूलाने का साधन है। धर्म का डर दिखाकर पूंजीपति वर्ग मजदूर वर्ग को स्वर्गलोक की कल्पना कराता है। इससे वे यह अनुभव करते हैं कि एक दिन वे अभावों तथा चिंताओं से मुक्त होकर सुखी जीवन का उपभोग अवश्य करेंगे।

6. ***इतिहास की अनिवार्यता में विश्वास (Belief in inevitability of History)***–मार्क्स इतिहास की अनिवार्यता में विश्वास करते हुए कहता है कि "उत्पादन की शक्तियों के अनुकूल जिस प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों की आवश्यकता होगी, वे अवश्य की अवतरित होंगे। मनुष्य केवल उनके आने में देरी कर सकता है या उन्हें शीघ्रता से ला सकता है, स्थायी रूप से रोक नहीं सकता।" इस तरह मार्क्स परिवर्तनों को अवश्यम्भावी मानता है और मनुष्य के नियन्त्रण से बाहर की बात स्वीकार करता है।

7. ***इतिहास का काल विभाजन (Division of Periods of History)***–मार्क्स ने उत्पादन के सम्बन्धों या आर्थिक दशाओं के आधार पर इतिहास को निम्नलिखित युगों में बांटा है–

(क) आदिम साम्यवाद का युग अथवा प्राचीन साम्यवाद (Primitive Communism),

(ख) दासत्व युग अथवा समाज (Slave Society),

(ग) सामन्तवादी युग अथवा समाज (Fedual Society),

(घ) पूंजीवादी युग अथवा समाज (Capitalistic Society),

(ङ) समाजवादी युग अथवा समाज (Socialistic Society),

(च) साम्यवादी युग अथवा समाज (Communist Society)

(क) ***आदिम साम्यवाद का युग अथवा प्राचीन साम्यवाद (Primitive Communism)***–यह युग इतिहास का प्रारम्भिक काल है। इस युग में मानव की आवश्यकताएं अत्यन्त सीमित थी। वह फल–फूल खाकर अपनी भूख मिटा लेता था। इस युग में कोई वर्ग संघर्ष नहीं था। इस युग में व्यक्तिगत सम्पति का अभाव था। उत्पादन के साधनों पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार नहीं था। समाज शोषक और शोषित वर्गों में नहीं बंटा हुआ था। संयुक्त श्रम के कारण उत्पादन की शक्तियों पर सबका अधिकार था। सभी कार्य व्यक्ति द्वारा सामूहिक रूप से किए जाते थे। सभी व्यक्ति सहयोग व समानता के सिद्धान्त का पालन करते थे। इस युग में कोई विषमता नहीं थी। लेकिन यह व्यवस्था अधिक दिन तक नहीं चली।

(ख) ***दासत्व युग अथवा समाज (Slave Society)***–व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय ने आदिम साम्यवाद को समाप्त कर दिया और उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्वहोने

के कारण दास–युग का प्रारम्भ हुआ। अब व्यक्ति के शिकार के स्थान पर खेती करने लगा और पशु पालने लग गया। इस युग में शक्तिशाली व्यक्ति उत्पादन के साधनों पर अधिकार जताने लगे और कमजोर व्यक्ति उनके अधीन हो गए। इससे समाज में स्वामी और दास दो वर्ग बन गए। उत्पादन के साधनों पर जिसका कब्जा होता था वह स्वामी तथा उत्पादन के साधनों से वंचित व्यक्ति दास बन गए। स्वामी दासों के श्रम का इच्छानुसार प्रयोग करने लग गए। स्वामी बड़ी कठोरता व निर्दयता से दासों का शोषण करने लग गए। दासों पर स्वामियों का पूरा अधिकार होता था। जैसे–जैसे स्वामियों के पास आर्थिक शक्ति बढ़ गई वैसे ही दास प्रथा भी कुरुप होती गई, दासों के अधिक शोषण से दासों में विद्रोह की भावना का जन्म हुआ और विद्रोह को कुचलने के लिए उत्पीड़न के नए साधन राज्य का जन्म हुआ। राज्य ने शोषक वर्ग के ही हितों को सुरक्षित बनाया। इस युग में वर्ग–संघर्ष का जन्म हुआ, अपनी चरम सीमा पर पहुंचकर दास–प्रणाली अपने अन्तर्विरोधों के कारण नष्ट होने लगी और उसके स्थान पर सामंतवादी प्रणाली का जन्म हुआ।

(ग) ***सामन्तवादी युग अथवा समाज (Fedual Society)***–दास–युग की समाप्ति के बाद मानव समाज ने सामन्तवादी युग में प्रवेश किया। इस युग में आजीविका का प्रमुख साधन कृषि था। इस युग में समस्त भूमि राजा के अधीन थी। राजा ने भूमि को अपने सामन्तों में बांटा हुआ थे। ये सामंत आवश्यकता पड़ने पर राजा की हर तरह से मदद करते थे। ये सामंत कुलीन व्यक्ति थे। इन्होंने भूमि को छोटे–छोटे किसानों में बांट रखा था। किसानों पर सामन्तों का नियंत्रण था। किसान सामंतों को ही अपने स्वामी मानते थें इस युग में उत्पादन के साधनों पर सामंतों तथा शासक वर्ग का अधिकार था। इस युग में छोटे–छोटे उद्योगों का जन्म भी हो चुका था। कानून और धर्म सामन्तों तथा शासक वर्ग के हितों के ही पोषक थे। इस युग में किसानों का अत्यधिक शोषण होता था और उनक दशा दासों की तरह थी।

(घ) ***पूंजीवादी युग अथवा समाज (Capitalistic Society)***–मध्य युग की समाप्ति पर सामन्त युग की उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादन–सम्बन्धों के विरूद्ध आवाज उठानी शुरू करदी। नगरों में व्यापारी वर्ग ने नए–नए आविष्कारों का लाभ उठाकर उत्पादन प्रणाली में आश्चर्यजनक परिवर्तन किए और उद्योगों का तेजी से विकास होने लगा। कोयले और भांप की शक्ति के आविष्कार ने औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया। अब कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था का स्थान उद्योगों ने लेना शुरू कर दिया। अब पूंजीपतियों ने अपने उत्पादन को बढ़ाने के लिए श्रमिकों का सहारा लेना शुरू किया और उन्हें कम वेतन देकर उनका शोषण करना शुरू कर दिया। इस तरह औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप समाज दो वर्गों पूंजीपति तथा श्रमिक वर्ग में बंट गया। सामाजिक सम्बन्धों में आए नवीन परिवर्तनों से वर्ग–संघर्ष उग्र होने लग गया। ऐसा संघष आज भी विद्यमान है। पूंजीपतियों द्वारा श्रमिक वर्ग का शोषण कोई नई बात नहीं है। उनका शोषण लम्बे समय से होता आ रहा है। आज भी श्रमिक वर्ग पूंजीपति वर्ग के शोषण का शिकार है।

(ङ) ***समाजवादी युग अथवा समाज (Socialistic Society)***–श्रमिकों का अत्यधिक शोषण श्रमिकों को संगठित होने के लिए बाध्य करता है और विद्यमान व्यवस्था के खिलाफ क्रान्ति करने के लिए प्रेरित करता है। रूस की 1917 की क्रान्ति द्वार जार की तानाशाही का अन्त करना तथा सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होना इसका प्रमुख उदाहरण है। पूंजीपति वर्ग द्वारा दिए गए कष्टों से छुटकारा पाने के लिए क्रान्ति के सिवाय अन्य कोई उपाय श्रमिकों के पास नहीं है। यद्यपि यह क्रान्ति

चीन और रूस में ही आई है। विश्व के अनेक पूंजीवादी देश आज भी बेहिचक श्रमिकों का शोषण कर रहे हैं। मार्क्स का विश्वास था कि पूंजीवाद में ही अनेक विनाश के बीज निहित हैं। इसका विनाश अवश्यम्भावी है। इसके अन्त पर ही नए समाज व सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना होगी जो अगले चरण में पूर्ण साम्यवाद का रूप ले लेगा।

(च) ***साम्यवादी युग अथवा समाज (Communist Society)***–सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के बाद उत्पादन के साधनों पर सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित होगा और संक्रमणशील अवस्था से गुजरने के बाद समाजवादी व्यवस्था पूर्ण साम्यवाद का स्थान ले लेगी। इसे राज्यविहीन समाज की स्थिति प्रकट होगी। समाज में पूर्ण समानता और साम्य का साम्राज्य स्थापित होगा। पूंजीपति वर्ग बिल्कुल लुप्त हो जएगा और समाज में श्रमजीवियों का वर्ग ही शेष बचेगा। विरोधी वर्ग के अभाव में वर्ग संघर्ष भी समाप्त हो जाएगा। शोषण के सभी साधन भी लुप्त हो जाएंगे। इससे आदर्श समाज की अवस्था आएगी। मार्क्स ने इस व्यवस्था की दो विशेषताएं बताई हैं–

(i) यह अवस्था वर्ग–विहीन होगी। इसमें शोषक व शोषित दो वर्ग न होकर उत्पादन के साधनों का स्वामी बहुसंख्यक वर्ग श्रमिक वर्ग या सर्वहारा वर्ग होगा। राजनीतिक शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता न रहने पर राज्य नाम की सस्थाका स्वयं लोप हो जाएगा। क्योंकि राज्य पूंजीपति वर्ग के शोषण का प्रभावशाली साधन होता है। श्रमिक वर्ग को इसकी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।

(ii) इस अवस्था में 'सामाजिक संसाधनों के वितरण का सिद्धान्त' लागू होगा अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करेगा और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं हो जाएगी।

8. ***मानव-इतिहास की कुंजी वर्ग-संघर्ष है (Class Struggle is the key to Human History)***–मार्क्स का मानना है कि मानव समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। प्रत्येक युग में परस्पर विरोधी दो वर्ग रहे हैं। दास–युग में स्वामी और दास, सामन्तवादी युग में किसान और सामंत तथा पूंजीपति वर्ग (बुजुर्आ वर्ग) तथा श्रमिक वर्ग (सर्वहारा वर्ग) का अस्तित्व रहा है। इन दोनों वर्गों के हित अलग–अलग होने के कारण वर्ग–संघर्ष (Class-Struggle) का जन्म होता है। यही वर्ग संघर्ष समाज में परिवर्तन तथा विकास का प्रेरक तत्व है। मार्क्स का मानना है कि इसी वर्ग–संघर्ष के कारण अन्ततः समाजवाद की स्थापना होगी और सामाजिक सम्बन्धों का निर्धारण नए सिरे से होगी। उस अवस्था में समाज शोषण मुक्त होगा उसमें समानता तथा साम्यवाद का सिद्धान्त पूर्ण रूप से अपना कार्य करेगा।

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धान्त के निहितार्थ (Impliations of Marxist Theory of Historical Materialism)

1. किसी समाज के विकास की प्रक्रिया में आर्थिक तत्वों की भूमिका सबसे अधिक महत्वपूर्ण होती है।

2. इतिहास का अध्ययन मानव–समाज के विकास के नियम जानने के लिए किया जाता है।

3. प्रकृति के विकास के नियमों की तरह समाज के विकास के भी कुछ वैज्ञानिक नियम हैं।

4. उत्पादक–शक्तियों में परिवर्तन से उत्पादकीय सम्बन्धों में भी परिवर्तन हो जाता है।

5. प्रत्येक युग की सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था पर आधिपत्य उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व वाले वर्ग का ही होता है।

6. सामाजिक जीवन के परितर्वन आर्थिक शक्तियों के कारण होते हैं। इनके पीछे किसी ईश्वरीय इच्छा या संयोग का कोई हाथ नहीं होता है।

7. वर्ग–संघर्ष सामाजिक विकास की कुंजी है और दास–युग से लेकर सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद तक वर्ग–संघर्ष ने ही सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन किए हैं। लेकिन साम्यवादी युग की स्थापना पर इस वर्ग–संघर्ष की प्रक्रिया का अन्त हो जाएगा।

8. इतिहास की आर्थिक व्याख्या के माध्यम से मार्क्स पूंजीवाद के अन्त तथा साम्यवाद के आगमन की अनिवार्यता व्यक्त करता है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद की आलोचना
(Criticism of Historical Materialism)

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त अनेक आलोचनाओं का शिकार हुआ है। इसकी आलोचना के आधार निम्नलिखित हैं:–

1. ***मानव इतिहास के विकास में केवल आर्थिक तत्व ही निर्धारक नहीं (Economic Factor is not the only determinant of Human History)***–मार्क्स ने आर्थिक तत्वों को मानव समाज का निर्धारक मानने की भारी भूल की है। मानव इतिहास के विकास में धर्म, दर्शन, राजनीति, नैतिकता आदि का महत्वपूर्ण योगदान होता है। इसके अतिरिक्त जलवायु, न्याय की इच्छा, विवेक, लाभ तथा मानव की महतवकांक्षाएं, भावनाएं, अभिलाक्षाएं भी मानवीय क्रियाओं में प्रभावी रही है। जातीय पक्षपात, षड़यन्त्र, अन्धविश्वास, लैंगिक इच्छा, लैंगिक आकर्षण, अधिकार, नाम तथा प्रसिद्धि की लिप्साओं पर मार्क्स का सिद्धान्त प्रकाश नहीं डालता। संसार में संघर्षों का कारण आर्थिक तत्व ही नहीं रहे हैं। इनके पीछे और आर्थिक तत्वों ईर्ष्या, प्रदर्शन की इच्छा, शक्ति और सत्ता का प्रेम आदि का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है।

2. ***राजनीतिक सत्ता का एकमात्र आधार आर्थिक सत्ता नहीं है (Economic Power is not the only basis for Political Power)***–मार्क्स का मानना है कि समाज में जिस वर्ग का उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है, समाज की सत्ता पर भी उसका ही अधिकार होता है। पूंजीवादी अवस्था में तो यह ठीक है लेकिन हर अवस्था में संभव नहीं हो सकता। प्राचीन भारत में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के पास राजनीतिक सत्ता अत्यधिक थी, फिर भी वे आर्थिक सत्ता से अभावग्रस्त थे। मध्ययुग में पोप की शक्ति का आधार आर्थिक स्वामित्व पर निर्भर नहीं था। वर्तमान युग में कर्मचारी वर्ग का महत्व आर्थिक सत्ता के कारण न होकर उनकी मानसिक शक्ति के कारण है। अतः सदैव आर्थिक सत्ता ही राजनीतिक सत्ता का आधार नहीं होती।

3. ***दैवीय व संयोग तत्वों की उपेक्षा (Negligence of Godly and Coincidental Incidents)***–मार्क्स ने अपने इस सिद्धांत में संयोग तत्व की घोर उपेक्षा की है। न्यूटन

ने संयोगवश ही सेब को पेड़ से गिरते देखकर गुरुत्वाकर्षण का नियम प्रतिपादित किया था। एक दु:खी व्यक्ति को देखकर ही महात्मा बुद्ध का सारा जीवन दर्शन ही बदल गया। नेपोलियन कभी भी ख्याति प्राप्त नहीं कर सकता था यदि जिनोआ ने 1768 में कोर्सिका को फ्रांस को न सौंपा होता। नेपोलियन फ्रांस के स्थान पर इटली का नागरिक होता। 1917 में यदि जर्मनी की सरकार लेनिन को वापिस रूस लौटने की आज्ञा नहीं देती तो बोल्शेविक क्रांति नहीं होती। वर्तमान समय की संसदात्मक प्रणाली आकस्मिक घटनाओं का परिणाम है। इस प्रकार मानव इतिहास में परिवर्तन व विकास आकस्मिक कारणों से होते हैं, आर्थिक कारणों से नहीं।

4. ***आर्थिक तत्व ही संघर्ष का एकमात्र कारण नहीं है (Economic factors are not the only cause of struggle)***–मार्क्स का कहना है कि आज तक का इतिहास उत्पादन शक्तियों में होने वाले संघर्ष का परिणाम है। लेकिन सत्य तो यह है कि युद्ध केवल आर्थिक कारणों से ही नहीं हुए हैं। महाभारत का युद्ध, रावण पर राम का आक्रमण, आर्थिक प्रेरणाओं से युक्त नहीं थे। इनके पीछे मनोवैज्ञानिक तत्वों–ईर्ष्या, द्वेष, बदला, पाप का नाश करने व धर्म की रक्षा करने की भावना आदि बलशाली थी। सिकन्दर द्वारा भारत पर आक्रमण के पीछे उसकी विश्व विजय की महत्वाकांक्षा थी। दो महाशक्तियों में लम्बे समय तक चलने वाला शीतयुद्ध (Cold-war) विचारधाराओं का संघर्ष था, ब्रटेंड रसल ने कहा है–"हमारे राजनीतिक जीवन की बड़ी–बड़ी घटनाओं का निर्धारण भौतिक अवस्थाओं और मानवीय भावनाओं की पारस्परिक क्रियाओं के द्वारा होता है।" अतः संघर्षों के पीछे आर्थिक तत्वों के साथ गैर–आर्थिक तत्वों का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है।

5. ***उत्पादन प्रणाली ही विचार को जन्म नहीं देती, विचार भी उत्पादन प्रणाली को जन्म देते हैं (Not only Economic system forms ideas but ideas also form economic system)***–मार्क्स के इन सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन प्रणाली ही विचार की जन्मदाता है। जबकि सत्य तो यह है कि विचार भी उत्पादन प्रणाली को जन्म देते हैं। उदाहरणतः सोवियत प्रणाली, जो 1917 की क्रान्ति के बाद स्थापित की गई, साम्यवादी सिद्धान्त की उपज है। फासिस्ट प्राणी फासिस्ट सिद्धान्त जो इटली में मुसोलिनी ने पेश किया था, की उपज है। नाजीवादी प्रणाली जर्मनी में हिटलर के नाजीवाद की देन है। अतः विचार भी उत्पादन प्रणाली की जननी होते हैं।

6. ***मानवीय इतिहास के कालक्रम का निर्धारण संभव नहीं है (Determination of time period of human history is impossible)***–मार्क्स ने अपनी आर्थिक व्याख्या के अन्तर्गत इतिहास का काल विभाजन–दास युग, सामन्तवादी युग, पूंजीवादी युग, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व और साम्यवादी युग में किया है। उसका यह काल विभाजन गलत है। यह आवश्यक नहीं है कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायक पूंजीवाद के पूर्ण विकास के बाद ही आए। रूस में 1917 की क्रान्ति से पहले वहां पूंजीवाद न होकर कृषि प्रधान राज्य था। इसी तरह चीन सर्वहारा क्रान्ति से पूर्व कोई औद्योगिक दष्टि से विकसित राष्ट्र नहीं था। अतः मार्क्स का काल विभाजन तार्किक दष्टि से गलत है।

7. ***राज्य-विहीन समाज का विचार गलत है (Idea of stateless society is wrong)***–मार्क्स का यह सोचना गलत है कि इतिहास का विकास क्रम राज्यविहीन समाज पर आकर रूक जाएगा। क्या साम्यवादी युग में पदार्थ का अन्तर्निहित गुण 'गतिशीलता' समाप्त

हो जाएगा। यदि गतिशीलता का पदार्थ का स्वाभाविक गुण है तो उसमें साम्यवादी अवस्था में भी अवश्य ही परिवर्तन होगा। उत्पादन के साधन बदलेंगे, सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन आएगा तथा वर्गविहीन समाज का प्रतिवाद उत्पन्न होकर साम्यवाद को भी नष्ट कर देगा। अतः मार्क्स का 'गतिशीलता का सिद्धान्त' साम्यवाद के ऊपर आकर रूक जाएगा, तर्कसंगत व वैज्ञानिक नहीं हो सकता।

8. ***सार्वभौमिकता का अभाव (Lack of universalization)***–एक दार्शनिकतावादी सिद्धान्त के रूप में इतिहास की आर्थिक व्याख्या सारे संसार पर व हर क्षेत्र में लागू नहीं हो सकती। लॉस्की के अनुसार–"आर्थिक पष्ठभूमि पर सारा वर्णन करने का आग्रह मूलतः मिथ्या है।" उसने कहा है कि बाल्कान राष्ट्रवाद का केवल मात्र आर्थिक पष्ठभूमि के आधार पर वर्णन नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त मानव जीवन के समस्त पहलूओं को आर्थिक तत्व द्वारा प्रभावित मानना सर्वथा गलत है। आर्थिक तत्व मानवीय मामलों को प्रभावित तो कर सकता है, लेकिन उनका निर्धारण नहीं।

9. ***अवैज्ञानिकता (Unscientific)***–मार्क्स ने इस सिद्धान्त को गम्भीर अनुशीलन व वैज्ञानिक अध्ययन करके नहीं निकाला है। उसने हीगल को द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के आधार पर ही इसकी कल्पना की है। उसने पूंजीवाद के नाश के उद्देश्य से इस सिद्धान्त के वैज्ञानिक नियमों की ओर ध्यान नहीं दिया है। उसने दष्टांत तो बहुत दिए हैं, लेकिन वैज्ञानिक प्रमाणों का इस सिद्धान्त में सर्वथा अभाव है। स्वयं ऐंजिल्स भी मार्क्स की अवैज्ञानिकता को स्वीकार करता है। उतावलेपन के कारण मार्क्स ने इस सिद्धान्त को भ्रमपूर्ण बना दिया है। मार्क्स स्वयं पदार्थ में गतिशीलता की बात करता है और स्वयं ही साम्यवादी व्यवस्था में वर्ग–संघर्ष की समाप्ति की बात करके गतिशीलता के सिद्धान्त का विरोधी बन जाता है। अतः अन्तर्विरोधों से ग्रस्त होने के कारण यह सिद्धान्त भ्रांतिपूर्ण है।

यद्यपि मार्क्स के इस सिद्धान्त की काफी आलोचना हुई है। आलोचना के कुछ ठोस आधार भी हैं। लेकिन इस सिद्धान्त की पूर्ण उपेक्षा करना मार्क्स की महत्वपूर्ण देन की उपेक्षा करना है। जोड ने कहा है कि इस सिद्धान्त ने मार्क्स को अन्य किसी भी सिद्धान्त से अधिक प्रसिद्धि प्रदान की है। मार्क्स ने सर्वप्रथम इतिहास के क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक अध्ययन की परम्परा की नींव रखी है। चाहे हम मार्क्स द्वारा प्रस्तुत की गई इतिहास की व्याख्या से सहमत न हों, लेकिन यह बात तो सत्य है कि इतिहास किसी दैवीय इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं है। आज यह स्वीकार किया जाता है कि सारे इतिहास की मुय धारा में एक क्रमबद्धता अवश्य है और इसलिए सामाजिक विकास के नियम भी अवश्य हैं, चाहे ये नियम मार्क्स के नियमों से अलग हों। मार्क्स ने लम्बे समय से चली आ रही सामाजिक जीवन के अध्ययन की धर्म– प्रधान एवं मध्ययुगीन अध्ययन प्रणाली का पूर्ण अन्त कर दिया है और समाजशास्त्रों को एक नई गति व दिशा प्रदान की है। करयू हण्ट ने कहा है–"सामजशास्त्रों के सभी आधुनिक लेखक मार्क्स के प्रति ऋणी हैं, यद्यपि वे इसे स्वीकार नहीं करते।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स ने आर्थिक कारकों पर जोर देकर सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में एक नया कदम रखा है। इस बात से पूर्णतयाः इन्कार नहीं किया जा सकता कि आर्थिक शक्ति राजनीतिक शक्ति की नियामक नहीं है। आर्थिक तत्व की उपेक्षा करके इतिहास का निष्पक्ष अध्ययन करना असम्भव है। अतः मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त उसकी एक महत्वपूर्ण देन है।

वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त
(Theory of Class-Struggle)

मार्क्स की वर्ग–संघर्ष की धारणा उसके चिन्तन की एक महत्वपूर्ण धारणा है। मार्क्स ने इतिहास की प्रेरक शक्ति भौतिक है। उसका मानना है कि उत्पादन प्रक्रिया के मानव सम्बन्ध इतिहास का निर्माण करते हैं। उत्पादन प्रक्रिया धनी और निर्धन (Haves and Have nots) दो वर्गों को जन्म देती है। प्रत्येक वर्ग एक दूसरे से संघर्ष करता रहता है। यही समाज की प्रगति का आधार है। इस तरह मार्क्स का वर्ग–संघर्ष का सिद्धान्त जन्म लेता है। उसकी यह धारणा इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या तथा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त पर आधारित है। उसने ऐतिहासिक भौतिकवाद की सैद्धान्तिक प्रस्थापनाओं के आधार पर साम्यवादी घोषणापत्र (Communist Manifesto) में कहा है कि–"आज तक का सामाजिक जीवन का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।" सेबाइन ने भी उसकी पुष्टि करते हुए कहा है कि मार्क्स वर्ग–संघर्ष को ही सामाजिक परिवर्तन का माध्यम मानता है।

मार्क्स ने अपनी वर्ग–संघर्ष की धारणा 'आंगिस्टन थोरे' के दर्शन से ली है। इसलिए उसकी यह धारणा मौलिक नहीं है। फिर भी मार्क्स ने उसे एक व्यवस्थित व प्रामाणिक आधार प्रदान करके उसे विश्व राजनीतिक का प्रमुख तत्व बना दिया है। उसने वर्ग–संघर्ष की धारणा को तत्कालीन इंग्लैण्ड की तत्कालीन सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों पर आधारित किया है। उस समय इंग्लैण्ड में उत्पादन में अत्यधिक वद्धि हो रही थी। पूंजीपति वर्ग दिन–प्रतिदिन अमीर होता जा रहा था और श्रमिक वर्ग निरन्तर निर्धन हो रहा था। श्रमिक वर्ग में वर्ग–चेतना का विकास हो रहा था और वह पूंजीपति वर्ग के शोषण को रोकने के लिए संगठित रूप में संघों का निर्माण कर रहा था। मार्क्स ने पूंजीपति वर्ग के अत्याचार व अन्याय से दुःखी श्रमिक वर्ग के कष्टों को देखकर एक कल्पना के आधार पर वर्ग–संघर्ष की धारणा को निर्माण किया और कल्पना के ही आधार पर पूंजीवादी समाज के अन्त तथा समाजवाद के उदय का स्वप्न देखा जो शोषण मुक्त समाज का प्रतिबिम्ब होगा।

वर्ग संघर्ष का अर्थ
(Meaning of Class-Struggle)

मार्क्स ने वर्ग–संघर्ष की धारणा का उल्लेख अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साम्यवादी घोषणापत्र' (Communist Manifesto) में किया है। उसने 'वर्ग' शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थों में किया है। बुखारिन ने वर्ग को परिभाषित करते हुए कहा है–"सामाजिक वर्ग व्यक्तियों के उस समूह को कहते हैं जो उत्पादन की प्रक्रिया में एक हिस्सा अदा करते हैं और उत्पादन की प्रक्रिया में लिप्त दूसरे व्यक्तियों के साथ एक ही सम्बन्ध रखते हैं।" मार्क्स के अनुसार, "व्यक्तियों का वह समूह वर्ग है, जो अपने साधारण हितों की पूर्ति हेतु उत्पादन की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है।" अर्थात् जिस समूह के आर्थिक हित एक–से होते हैं, उसको वर्ग कहा जाता है। मार्क्स का कहना है कि समाज में सदैव ही दो वर्ग रहे हैं, जैसे स्वामी–दास, किसान–जमींदार, पूंजीपति–श्रमिक। संघर्ष को परिभाषित करते हुए मार्क्स ने कहा है कि संघर्ष का अर्थ केवल लड़ाई नहीं है बल्कि इसका व्यापक अर्थ है–रोष, असंतोष तथा आंशिक असहयोग। जब यह कहा जाता है कि वर्गों में अनादिकाल से सदैव संघर्ष होता रहा है तो इसका अभिप्राय यह होता है कि सामान्य रूप से असन्तोष औ रोष की भावना धीरे–धीरे शान्तिपूर्ण रीति से सुलगती रहती है और कुछ ही अवसरों पर यह भीषण ज्वाला का रूप ग्रहण कर लेती है।

वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त की व्याख्या
(Explanation of the Theory of Class-Struggle)

मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या करके यह नियम बनाया कि आज तक का संसार का इतिहास वर्ग–संघर्ष का इतिहास है। विश्व इतिहास आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के लिए विरोधी वर्गों में संघर्षों की शृंखला है। प्रत्येक काल और प्रत्येक देश में आर्थिक और राजनीति सत्ता की प्राप्ति के लिए किए गए संघर्ष इतिहास का अंग बन गए हैं। मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' में लिखा है–''प्राचीन रोम में कुलीन, सरदार, साधारण मनुष्य तथा दास होते थे। मध्य युग में सामन्त, सरदार तथा जागीरदार, संघ स्वामी, कामदार, अपरेन्टिस तथा सेवक होते थे। प्रायः इन समस्त वर्गों में इनकी उपश्रेणियां भी होती थी। ये समूह दमन करने वाले तथा दलित निरन्तर एक दूसरे का विरोध करते थे। इनमें कभी खुलकर तथा कभी छिपकर निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। प्रत्येक समय युद्ध के परिणामस्वरूप दोनों वर्ग नष्ट हो जाते थे।'' इस तरह समाज में युगों से दो वर्गों का अस्तित्व रहा है और उनमें संघर्ष भी निरन्तर होता रहा है। प्रत्येक वर्ग अपने हितों की पूर्ति के लिए संघर्ष के उपाय पर ही आश्रित रहा है। ऐसा वर्ग–संघर्ष आज भी पाया जाता है। आज यह संघर्ष अमीर–गरीब के बीच में है। आज उत्तर के विकसित देश दक्षिण के अविकसित देशों का शोषण कर रहे हैं और दोनों में विभाजन की खाई निरन्तर चौड़ी हो रही हैं आज अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर उत्तर–दक्षिण मतभेद वर्ग–संघर्ष का ही नमूना है।

मार्क्स ने वर्ग–संघर्ष के सिद्धान्त को ऐतिहासिक आधार पर प्रमाणित करने के लिए, आदम युग से आज तक मानव सभ्यता के विकास पर नजर डाली है। मार्क्स कहता है कि आदिम युग में मानव की आवश्यकताएं सीमित थीं और वह कन्द, फल खाकर अपना गुजारा करता था। उस युग में व्यक्तिगत सम्पत्ति का लोप था। प्रत्येक वस्तु पर सांझा अधिकार था। सभी व्यक्ति प्रेम–भाव से रहते थे। आदिम साम्यवादी अवस्था थी। लेकिन यह व्यवस्था अधिक दिन तक नहीं चली। इसका स्थान दास–समाज ने ले लिया, इस युग में उत्पादन के साधनों पर शक्तिशाली व्यक्तियों का अधिकार हो गया और वे स्वामी कहलाए। कमजोर व्यक्ति दास कहलाए जाने लगे। व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय ने समाज में वर्ग–संघर्ष को जन्म दिया। इस काल में समाज में दो वर्गों दासों व स्वामियों में संघर्ष तीव्र हो गया। स्वामी दासों का शोषण करने लग गए। इस युग में उत्पादन का प्रमुख साधन कृषि था। जब कृषि के साथ पशु–पालन भी शुरू हुआ तो सामन्तवादी युग का जन्म हुआ। इस युग में जनसंख्या बढ़ने से कृषि योग्य भूमि का भी विस्तार हुआ। अब सामन्त वर्ग ने सारी भूमि राजा से प्राप्त कर ली और उसके बदले राजा को हर सम्भव सैनिक व आर्थिक मदद देने का वचन दिया। इस तरह भूमि पर गिने चुने धनी व्यक्तियों का स्वामित्व हो गया और जनता का अधिकांश हिस्सा शोषित किसान वर्ग बन गया। जमींदारों (सामन्तों) ने किसानों का जमकर शोषण किया। उनकी दशा दासों के समान थी। लेकिन छोटे–मोटे उद्योग धन्धों की शुरुआत ने सामंतवादी व्यवस्था का भी अन्त कर दिया।

इसके बाद विज्ञान के आविष्कारों के परिणामस्वरूप उद्योगों के क्षेत्र में तीव्र उन्नति होने लगी और उद्योग धन्धों के विकास से समाज में पूंजीपति व श्रमिक दो वर्ग बन गए। जिनका उद्योगों पर पूर्ण नियन्त्रण था वे पूंजीपति कहलाए और जो कारखानों में काम करते थे, श्रमिक कहलाए। आज का संघर्ष पूंजीपति वर्ग व श्रमिक वर्ग का संघर्ष है। आज का युग पूंजीवाद का युग है। आज संघर्ष पहले की तुलना में आसान हो गया है। आज पूंजीवादी गुट व श्रमिक गुट

एक–दूसरे के सामने पूरे जोर से डटे हुए हैं। यह संघर्ष पश्चिमी सभ्यता की देन है। मार्क्स ने इस संघर्ष का गहन विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाला है कि पूंजीपति वर्ग अधिक से अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से श्रमिक वर्ग का शोषण करता है। श्रमिकों को मजदूरी कम दी जाती है और काम अधिक लिया जाता है। श्रमिक वर्ग अपने श्रम की पूरी मजदूरी प्राप्त करना चाहता है। इस तरह दोनों के हितों में टकराव होने लग जाता है। इस संघर्ष में श्रमिक वर्ग की स्थिति कमजोर होती है। श्रमिक को अपना तथा अपने परिवार का पेट भरने के लिए श्रम को सस्ते दामों पर बेचना पड़ता है। वह श्रम को अधिक दिन तक रोक नहीं सकता क्योंकि श्रम एक नाशवान वस्तु है। यदि वह श्रम को रोकता है तो उसे भूखा मरना पड़ता है। उसकी इस मजबूरी से पूंजीपति वर्ग भली–भांति जानता है। इसलिए वह उसे कम मजदूरी देकर उसका शोषण करता है। अतः श्रमिक पूंजीपति वर्ग के आगे झुक जाते हैं और पूंजीपति वर्ग कम वेतन पर उनसे काम कराता है। उनके श्रम का शोषण करके पूंजीपति वर्ग विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। पूंजीपति वर्ग अनी आर्थिक शक्ति के बल पर राजनीतिक सत्ता पर भी नियन्त्रण कर लेते हैं। धर्म जैसी सामाजिक वस्तु पर भी उनका ही वर्चस्व स्थापित हो जाता है। धर्म तथा राजनीतिक सत्ता का प्रयोग पूंजीपति वर्ग श्रमिक वर्ग का शोषण करने के लिए करता है। इस शोषण से मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय वर्ग–चेतना है। जब श्रमिक वर्ग पूंजीपति वर्ग के संगठित अत्याचारों के खिलाफ आवाज उठाने लगता है तो क्रान्ति होती है। लेकिन उचित उपायों के अभावों में प्रायः श्रमिक वर्ग अपनी राजनीतिक शक्ति के बल पर या धर्म का भय दिखाकर इस क्रान्ति या विद्रोह को दबा देता है। ऐसी क्रान्ति कभी–कभार ही सफल होती है। जब यह सफल होती है तो समाज में महान परिवर्तन होते हैं। सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक सम्बन्धों की पुर्नस्थापना होती है। श्रमिक वर्ग का अधिनायवाद स्थापित होता है और कालांतर में शोषण मुक्त साम्यवादी समाज की रचना होती है। 1917 की रूस की तथा चीन की क्रान्ति इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

मार्क्स का महना है कि एक दिन पूंजीपतियों और श्रमिकों के संघर्ष में अन्तिम विजय श्रमिकों की होगी क्योंकि पूंजीवाद में उसके विनाश के बीज निहित हैं, मार्क्स ने पूंजीवाद के विनाश के कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा है–

1. ***पूंजीवाद में व्यक्तिगत लाभ की दष्टि से उत्पादन***–पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन समाज के हित और उपभोग को ध्यान में न रखकर विशेष रूप से व्यक्तिगत लाभ के लिए होता है जिसके कारण समाज की मांग और उत्पादित माल (पूर्ति) में सन्तुलन खराब हो जाता है।

2. ***पूंजीवाद में विशाल उत्पादन तथा स्वाधिकार की ओर प्रवत्ति***–पूंजीवादी व्यवस्था में बड़े पैमाने पर उत्पादन एवं एकाधिकार की प्रवत्ति पाई जाती है। जिसके कारण थोड़े–से व्यक्तियों के हाथों में पूंजी आ जाती है और श्रमिकों की संख्या बढ़ती जाती है। इस तरह पूंजीपति वर्ग अपने विनाश के लिए संघर्ष श्रमजीवी वर्ग को शक्ति प्रदान करता है।

3. ***अतिरिक्त मूल्य पर पूंजीपतियों का अधिकार***–मार्क्स का कहना है कि पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन का उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ कमाना होता है। इसलिए अतिरिक्त मूल्य को पूंजीपति श्रमिकों को न देकर अपने पास रख लेते हैं। जबकि न्याय सिद्धान्त की दष्टि से इस पर श्रमिक का हक बनता है। यह अतिरिक्त मूल्य वह मूल्य है जो श्रमिक द्वारा उत्पादित माल की वास्तविक कीमत और उस वस्तु की बाजार कीमत

(Market Price) के मूल्य का अन्तर होता है। पूंजीपति इस अतिरिक्त मूल्य को अपनी जेब में रख लेता है। इससे श्रमिकों का शोषण होता है।

4. ***पूंजीवाद आर्थिक संकटों का जन्मदाता है***–मार्क्स कहता है कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली समय–समय पर आर्थिक संकटों को जन्म देती हैं प्रायः उत्पादन श्रमिक वर्ग की क्रय शक्ति से अधिक हो जाता है। तब लाभ की कोई आशा न रहने से पूंजीपति उत्पादित माल को नष्ट करके माल का कृत्रिम अभाव उत्पन्न करते हैं और इस तरह अस्थायी संकटों को जन्म देते हैं। पूंजीवाद की इस प्रवत्ति के कारण श्रमिक वर्ग एवं सामान्य जनता में घोर असन्तोष पनपता है जो पूंजीवाद द्वारा स्वयं ही अपने विनाश को बुलाना है। अर्थात् यह आर्थिक संकटों का जन्मदाता है।

5. ***पूंजीवाद में व्यक्तिगत तत्व का अन्त***–मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था में श्रमिक के वैयक्तिक चरित्र का लोप होकर उसका मशीनीकरण हो जाता है। पूंजीपति श्रमिकों के व्यक्तित्व विकास के लिए कोई योगदान नहीं देते। वे उनको मशीनों का दास बना देते हैं। उसकी सजनात्मक शक्ति का लोप हो जाता है, उसका जीवन निरन्तर पतन की तरफ जा रहा होता है। इस पतनावस्था का अन्त करने के लिए आखिरकार श्रमिक वर्ग में चेतना का उदय होने लगता है और पूंजीवाद के विनाश के बीज दिखाई देने लग जाते हैं।

6. ***पूंजीवाद श्रमिकों की एकता में सहायक है***–पूंजीवादी व्यवस्था के दोषपूर्ण होने से श्रमिकों में असंतोष पैदा होता है। इससे वे छुटकारा पाने के लिए एकता का प्रयास करने लगते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था में जहां अनेक उद्योग एक ही स्थान पर एकत्र होते हैं, वहीं उनमें लाखों काम करने श्रमिक भी आपस में अपने कष्टों के बारे में बातचीत करने लगते हैं। इससे दुःखों को दूर करने के लिए अर्थात् पूंजीपति वर्ग के शोषण से छुटकारा पाने के लिए संगठन बनाने की दिशा में प्रयास करने लग जाते हैं। इस तरह पूंजीवादी विकेन्द्रीकरण सुदढ़ श्रमिक संगठनों को जन्म देता है और पूंजीवाद का प्रखर आवाज में विरोध शुरू हो जाता है।

7. ***पूंजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक आन्दोलन का जन्मदाता है***–पूंजीवाद के दोष हर स्थान पर लगभग एक जैसे ही होते है। पूंजीवाद का तीव्र विकास विश्व के अनेक देशों को समीप लाता है। जब पूंजीवादी देश अपने उत्पादित माल को अपने देश में खपाने में असफल रहते हैं तो वे अन्य देशों में मंडियों की खोज करते हैं। इससे श्रमिकों से अन्य देशों के श्रमिकों से सम्पर्क करने का अवसर प्राप्त मिलता है। इस तरह श्रमिक राष्ट्रीय सीमाओं से बाहर निकलकर अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर संगठित होने लग जाते हैं और श्रमिक आन्दोलन विश्वव्यापी रूप धारण कर लेता है। इस तरह मार्क्स का विश्वास है कि एक दिन विश्व में पूंजीवाद के खिलाफ एक अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर क्रान्ति होगी और पूंजीवाद का विनाश होकर उसके स्थान पर साम्यवादी समाज की स्थापना होगी। यही मार्क्स का यथार्थ स्वप्न है।

इस तरह मार्क्स ने पूंजीवाद के आंतरिक दोषों के कारण उसके विनाश का स्वप्न देखा। उसका विश्वास था कि श्रमिक वर्ग के संगठित होने पर सर्वहारा क्रान्ति द्वारा पूंजीवाद की जड़ें उखड़ जाएंगी और उसके स्थान पर श्रमिक वर्ग की तानाशाही स्थापित हो जाएगी। धीरे–धीरे पूंजीवाद के अन्तिम अवशेष भी समाप्त हो जाएंगे और एक वर्ग–विहीन समाज की स्थापना होगी। इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार काम करेगा और समाज उसे योग्यतानुसार काम

देगा, इसमें वर्ग–संघर्ष का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। क्योंकि वर्ग विहीन या साम्यवादी समाज की स्थापना के उपरान्त समाज में केवल श्रमिक वर्ग ही शेष बचेगा। पूंजीपति वर्ग का पूरी तरह सफाया हो जाएगा। मार्क्स ने कहा है–"साम्यवादी समाज की उच्चतर स्थिति में जबकि व्यक्ति श्रम–विभाजन की पतनकारी अधीनता से मुक्त हो जाएगा और जब उसके साथ ही बौद्धिक तथा शारीरिक श्रम का विरोध भी समाप्त हो जाएगा, जब श्रम जीवन का साधन ही नहीं बल्कि स्वयं जीव की सबसे बड़ी आवश्यकता बन जाएगा, जब व्यक्ति की समस्त शक्तियों के विकास से उत्पादन की शक्ति भी उतनी ही बढ़ सकेगी और सामाजिक सम्पत्ति के समस्त स्रोत प्रचुरता से प्रवाहित होने लगेंगे तभी पूंजीवादी औचित्य का सीमित क्षितिज पार किया जा सकेगा और समाज अपनी पताका पर यह अंकित कर सकेगा कि प्रत्येक अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करें और प्रत्येक अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करे।" यही साम्यवादी समाज की स्थापना की स्थिति होगी।

वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त की आलोचनाएं
(Criticisms of the Theory of Class-Struggle)

मार्क्स के वर्ग–संघर्ष के सिद्धान्त की आलोचनाओं के निम्नलिखित आधार हैं–

1. ***वर्ग की अस्पष्ट एवं दोषपूर्ण परिभाषा (Vague and defective definition of class)–*** मार्क्स द्वारा दी गई वर्ग की परिभाषा के अनुसार आधुनिक समाज में मजदूरों और पूंजीपतियों के दो स्पष्ट वर्ग निश्चित नहीं किए जा सकते। आजकल उद्योगों में काम करने वाले अनेक मजदूर कम्पनियों के शेयर खरीदकर उद्योगों में हिस्सेदार बन जाते हैं और अतिरिक्त मूल्य के रूप में लाभ ग्रहण करने वाले पूंजीपति बन जाते हैं। इसी तरह उद्योगों के प्रबन्धकों को किस श्रेणी में रखा जाए? उन्हें न तो पूंजीपति वर्ग कहा जा सकता है और न ही मजदूर। सेबाइन ने कहा है कि–"मार्क्स के सामाजिक वर्ग की धारणा की अस्पष्टता उसकी भविष्यवाणी की कुछ गम्भीर गलतियों के लिए उत्तरदायी है।" अतः कहा जा सकता है कि मार्क्स के 'वर्ग' की परिभाषा अस्पष्ट व दोषपूर्ण है।

2. ***मानव इतिहास केवल वर्ग-संघर्ष का इतिहास नहीं है (Human History is not only the history of struggle)–*** मार्क्स का यह कथन कि आज तक का मानव इतिहास वर्ग–संघर्ष का इतिहास है, थथार्थ स्थिति को स्पष्ट नहीं करता। इसमें सन्देह नहीं है कि इतिहस युद्धों से भरा पड़ा है। लेकिन ये सभी युद्ध वर्ग–संघर्ष की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते। इनमें से अधिकतर युद्धों का उद्देश्य आर्थिक न होकर समान स्थिति वाले शासकों के बीच हुए हैं। प्राचीन व मध्ययुगीन के अनेक संघर्ष राजाओं के मध्य हुए हैं। डॉ० राधाकृष्ण ने वर्ग–संघर्ष की अवधारणा की समीक्षा करते हुए कहा है–"इतिहास केवल वर्ग–संघर्ष का ही लेखामात्र नहीं है। शब्दों के युद्ध, वर्गों के युद्ध की अपेक्षा अधिक हिंसक और अधिक सामान्य रहे हैं। गत महायुद्धों में राष्ट्रीयता की भावना वर्गीयता की भावना की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली थी। इतिहास में शासक और शासित, उमीर और गरीब, सदैव ही अपने देश के शत्रुओं से एकमत होकर लड़े हैं। हम अपने देश के पूंजीवादी मालिकों की अपेक्षा विदेश के श्रमिकों से अधिक घणा करते हैं। इतिहास में धर्म के नाम पर लड़ाईयां हुई हैं–पिछले युद्ध में मार्क्सवादी दो–चार अपवादों को छोड़कर अपने–अपने पूंजीवादी राज्यों की ओर से लड़े थे। भारत में हिन्दू–मुसलमानों की समस्या अथवा आयरलैण्ड में कैथोलिक

और प्रोटेस्टेंटों की समस्या, वर्ग संघर्ष की समस्या नहीं है। अतः वर्ग–संघर्ष की अपेक्षा अन्य तत्वों राष्ट्रीयता, धर्म व संस्कृति ने भी इतिहास का निर्माण किया है।

3. ***समाज में दो वर्ग मानना भूल है (To recognise only two classes in society is an error)***–आलोचकों का कहना है कि समाज में केवल दो ही वर्ग नहीं होते। पूंजीपति व श्रमिक वर्ग के अतिरिक्त एक मध्यम वर्ग (बुद्धिजीवी) भी होता है। यह वर्ग समाज के विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। समाज की प्रगति बुद्धिजीवी वर्ग पर ही निर्भर करती है। इसके अन्तर्गत इंजीनियर, वकील, डॉक्टर, अध्यापक व तकनीशियन आदि आते हैं। इस वर्ग की संख्या लगातार बढ़ रही है। इस वर्ग का होना मार्क्स के वर्ग–संघर्ष के सिद्धान्त का खण्डन करता है। अतः मार्क्स द्वारा समाज का दो वर्गों में किया गया विभाजन गलत है। समाज में दो के स्थान पर कई वर्ग हैं।

4. ***संघर्ष जीवन का मूल आधार नहीं है (Struggle is not the basis of life)***–मार्क्स का कहना है कि संघर्ष जीवन का आधार है। इसी पर जीवन का अस्तित्व निर्भर करता है। किन्तु सत्य तो यह है कि संघर्ष की बजाय प्रेम, त्याग, सहयोग, सहानुभूति, अहिंसा आदि के ऊपर सम्पूर्ण मानव समाज का अस्तित्व निर्भर करता है। आर्थिक क्षेत्र में भी संघर्ष की बजाय आपसी सहयोग व शांतिपूर्ण वातावरण में ही उत्पादन सम्भव है।

5. ***क्रान्ति का नेतत्व मध्यम वर्ग करता है (It is the middle clas not the labour class that leads the Revolution)***–मार्क्स का कहना गलत है कि श्रमिक वर्ग ही क्रान्ति का आधार होता है और भविष्य में भी सर्वहारा वर्ग ही क्रान्ति का बिगुल बजाएगा। सत्य तो यह है कि आज तक जितनी भी क्रान्तियां हुई हैं, उन सबका नेतत्व बुद्धिजीवियों ने किया था, न कि श्रमिकों ने। लेनिन ने स्वयं इस बात को स्वीकार करते हुए कहा है–"हमने कहा था कि मजदूर लोग अब तक इस योग्य नहीं है कि उनमें समाजवादी चेतना उत्पन्न हो सके। उनके अन्दर यह चेतना केवल बाहर से ही लाई जा सकती है। सभी देशों के इतिहासों से प्रमाणित होता है कि अपने अनन्य प्रयत्नों से मजदूर वर्ग केवल मजदूर सभाई चेतना विकसित कर सकता है, जिसे समाजवादी मोड़ देने के लिए संगठित 'बौद्धिक दल' का अस्तित्व आवश्यक है।" रुस और चीन की क्रान्तियों को सफल बनाने में लेनिन तथा माओ जैसे बुद्धिजीवियों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण रही है।

6. ***राष्ट्रीयता की भावना को कम महत्व देना (Less Importance to National Feelings)***–मार्क्स ने कहा है कि समाज के सभी वर्गों में वर्गीयता की भावना ही सर्वाधिक प्रबल होती है। सत्य तो यह है कि राष्ट्रीयता की भावना वर्गीयता की भावना से ऊपर होती है। द्वितीय विश्वयुद्ध में धुरी राष्ट्रों (जापान, इटली व जर्मनी) की महत्वपूर्ण भूमिका वर्गीयता की अपेक्षा उग्र–राष्ट्रीयता की भावना पर आधारित थी। जर्मनी में यहुदियों पर हिटलर द्वारा किए गए अत्याचार वर्ग–संघर्ष का परिणाम न होकर हिटलर की जातीय–श्रेष्ठता की भावना का परिणाम था। युद्ध के समय एक देश के अन्दर ही पूंजीपति व मजदूर दोनों वर्ग एक जगह संगठित होकर दूसरे देश के पूंजीपतियों व मजदूरों का विरोध करने लगते हैं। इसके पीछे मुख्य कारण राष्ट्रवाद की भावना ही कार्य करती है।

7. ***आर्थिक व सामाजिक वर्ग का अलग होना (Economic and Social Classes are Separate)***–आलोचकों का कहना है कि सामाजिक और आर्थिक वर्ग एक न होकर

अलग–अलग होते हैं। यद्यपि यह भी सम्भव है कि मार्क्स ने दोनों को एक मानकर उनका राजनीतिक दष्टि से सही प्रयोग करने का प्रयास किया होगा। किन्तु उसका यह प्रयास अनेक त्रुटियों का जन्मदाता बन गया है।

8. ***मार्क्स की भविष्यवाणी गलत साबित हुई (Predictions of Marx were not correct)***– मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि एक दिन पूंजीवाद का अन्त होगा और उसके स्थान पर सर्वहारा वर्ग का अधिनायत्व स्थापित होगा। उसकी यह भविष्यवाणी गलत साबित हुई। आज अनेक पूंजीवादी देश तेजी से अपना विकास कर रहे हैं। वहां पर उनके श्रमिक वर्ग के साथ सम्बन्ध अच्छे हैं। आज अनेक पूंजीवादी देशों में मजदूरों की दशा तेजी से सुधर रही हैं वे मजदूरों को उचित वेतन देकर श्रमिक–असंतोष को कम कर रहे हैं। वहां पर निकट भविष्य में किसी संगठित श्रमिक आन्दोलन की संभावना नजर नहीं आ रही है। रुस जहां पर श्रमिक तानाशाही द्वारा साम्यवाद की स्थापना हुई थी, वह भी टूटकर अधिक उदारवादी व्यवस्था की तरफ अग्रसर हो रहा है। आज उत्पादन प्रणाली में पूंजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग के अलावा तीसरा वर्ग (बुद्धिजीवी) भी तेजी से उभर चुका है। जर्मनी और इटली में पूंजीवाद का अन्त होने पर साम्यवाद के स्थान पर नाजीवाद व फासीवाद का विकास हुआ। ये दोनों विचारधाराएं साम्यवाद विरोधी थी। इस प्रकार मार्क्स का यह कथन असत्य सिद्ध हुआ कि वर्ग–संघर्ष के परिणामस्वरूप साम्यवाद की स्थापना होगी।

9. ***यह सिद्धान्त हानिकारक है (It is a very dangerous theory)***–कैटलिन ने मार्क्स के वर्ग–संघर्ष के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि यह सिद्धान्त आधुनिक कष्टों, दुःखों, रोगों और फासीवाद का जनक है। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि–"मैं मार्क्स पर यह आरोप लगाता हूं कि उसने द्वन्द्वात्मक प्रतिक्रिया के द्वारा फासीवाद और संघर्ष को जन्म दिया है, जो बीसवीं शताब्दी के कई कष्टों का कारण है।" लास्की ने भी कहा है–"पूंजीवाद की समाप्ति से साम्यवाद की अपेक्षा अराजकता फैल सकती है जिससे साम्यवादी आदर्शों से बिल्कुल असम्बन्धित कोई तानाशाही जन्म ले सकती है।" इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मार्क्स का वर्ग–संघर्ष का सिद्धान्त अनेक कष्टों को जन्म दे सकता है। इसलिए यह हानिकारक सिद्धान्त है।

उपरोक्त आलोचनों के आधार पर कहा जा सकता है कि मार्क्स का वर्ग–संघर्ष का सिद्धान्त सही नहीं है। प्रो० हंट ने इसे एक कल्पना कहा है। प्लैमनस्ज इसे विरोधाभासी सिद्धान्त का नाम देता है। यदि हम मार्क्स के इस सिद्धान्त को स्वीकार कर ले तो समाज में अराजकता फैल जाएगी और मानव–समाज संघर्षों का अखाड़ा बन जाएगा। दूसरी तरफ एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि मार्क्स की भविष्यवाणी गलत साबित हुई है कि पूंजीपति वर्ग का लोप हो जाएगा। यह भी आवश्यक नहीं है कि पूंजीवाद का अन्त होने पर साम्यवादी व्यवस्था ही स्थापित हो। केरयु हण्ट इसे वैज्ञानिक आधार पर मिथ्या मानते हैं। इस सिद्धान्त के आधार पर वर्ग–व्यवस्था का उचित विश्लेषण करना असम्भव है।

परन्तु अनेक कमियों के बावजूद यह सिद्धान्त इस व्यावहारिक राजनीतिक सत्य को प्रकट करता है कि यदि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिकों का लगातार अमानवीय शोषण एवं क्रुर दमन होता रहेगा तो इस अन्यायपूर्ण स्थिति के अन्त के लिए श्रमिक वर्ग द्वारा उग्र वर्ग–संघर्ष के रूप में खूनी–संघर्ष या क्रान्ति का होना अनिवार्य है। वस्तुतः 19वीं सदी की उग्र एवं क्रुर पूंजीवादी व्यवस्था के प्रसंग में मार्क्स के वर्ग–संघर्ष का विशिष्ट महत्व था और उसके इन विचारों ने पूंजीवाद पर निरन्तर दबाव बनाए रखने का कार्य भी किया, जिसके परिणामस्वरूप

पूंजीवादियों ने श्रमिक वर्ग के कष्टों की ओर ध्यान दिया और कल्याण की योजनाएं क्रियान्वित की। रुस में 1917 की सर्वहारा क्रान्ति की सफलता के बाद विश्व में मजदूरों और किसानों के सम्मान में वद्धि हुई। इस प्रकार अनेक दोषों के बावजूद यह कहा जा सकता है कि मार्क्स के वर्ग–संघर्ष सिद्धान्त का अपना विशेष महत्व है।

मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Marx's Theory of Surplus-Value)

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त कार्ल मार्क्स की राजनीतिक सिद्धान्त को एक महत्वपूर्ण देन है। मार्क्स ने इस सिद्धान्त का विवेचन अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Das Capital' में किया है। मार्क्स ने पूंजीपति वर्ग द्वारा श्रमिक वर्ग का शोषण करने की प्रक्रिया पर इस सिद्धान्त में व्यापक प्रकाश डाला है। मार्क्स का यह सिद्धान्त 'मूल्य के श्रम सिद्धान्त' (Labour Theory of Value) पर आधारित है। सेबाइन ने लिखा है–"अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त प्रकट रूप में मूल्य के श्रमिक सिद्धान्त का ही प्रसार था जिसे रिकार्डों तथा संस्थापित अर्थशास्त्रियों ने बनाया था। अगर मूल्य का श्रमिक सिद्धान्त नहीं होगा तो अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त भी नहीं होगा। अतः अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त श्रम सिद्धान्त का ही वंशज है।" यह सिद्धान्त सबसे पहले पैन्टी ने इंग्लैण्ड में प्रस्तुत किया था। इसे बाद में एडमस्थिम तथा रिकार्डों ने विकसित किया। इन दोनों अर्थशास्त्रियों ने निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि श्रम ही मूल्य का स्रोत हैं श्रम के बिना मूल्य का कोई महत्व नहीं हो सकता। प्रो० वेपर ने भी मार्क्स के मूल्य सिद्धान्त पर रिकार्डों का प्रभाव स्वीकार करते हुए लिखा है–"मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त रिकार्डों का ही व्यापक रूप है जिसके अनुसार किसी भी वस्तु का मूल्य उसमें निहित श्रम की मात्रा के अनुपात में होता है, बशर्तें कि यह श्रम–उत्पादन की क्षमता के वर्तमान स्तर के समान हो।"

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की व्याख्या (Explanation of the theory of surplus-value)

मार्क्स का कहना है कि पूंजीपतियों का धन असंख्य वस्तुओं का जमा भंडार है। इन सभी वस्तुओं की अपनी कीमत होती है। श्रम भी एक ऐसी ही वस्तु है। श्रम अन्य सभी वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करता है। किसी वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता की मात्रा का अनुमान लगाने के बाद ही निर्धारित हो जाता है। उपयोगिता की मात्रा का अनुमान किसी अन्य वस्तु से उसके विनिमय मूल्य पर ही आधारित होता है। इस तरह मूल्य सिद्धान्त के बारे में जानने के लिए किसी वस्तु के उपयोग मूल्य तथा विनिमय मूल्य की अवधारणा के बारे में जानना आवश्यक हो जाता है। मार्क्स ने 'अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त' का प्रतिपादन करने के लिए इन दोनों मूल्यों की विस्तत विवेचना की है।

1. उपयोग–मूल्य (Use-Value)
2. विनिमय–मूल्य (Exchange Value)

मार्क्स ने उपयोग मूल्य तथा विनिमय मूल्य में व्यापक आधार पर अन्तर किया है। उसका कहना है कि उपयोग मूल्य किसी वस्तु की मानव आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने में ही निहित है। उपयोगिता का अर्थ है मनुष्य की इच्छा पूरी करना, जो वस्तुएं मनुष्य की इच्छा पूरी करती है, वे उसके लिए उपयोगी व मूल्यवान है। उदाहरणार्थ–रेगिस्तान में पानी कम और रेत अधिक होता है। वहां रेत की बजाय पानी की उपयोगिता अधिक है, क्योंकि पानी मनुष्य की प्यास बुझाता है। अपनी उपयोगिता के कारण वहां पानी रेत से अधिक मूल्यवान होता है।

"विनिमय मूल्य" यह अनुपात है जिसके आधार पर एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु को प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति के पास घी है और किसी दूसरे के पास तेल है। यदि एक को घी की अपेक्षा तेल की आवश्यकता है और दूसरे को तेल की बजाय घी आवश्यकता है तो दोनों आपस में वस्तु विनिमय कर सकते हैं। एक व्यक्ति एक किलो घी देकर 4 किलो तेल प्राप्त करता है तो एक किलो घी का विनिमय मूल्य 4 किलो तेल होगा।

मार्क्स ने किसी वस्तु के उपयोग मूल्य की तुलना में विनिमय मूल्य को अधिक महत्व दिया है। यही मूल्य का मापदण्ड है। मार्क्स ने इन दोनों मूल्यों से श्रम को अधिक महत्वपूर्ण मानते हुए कहा है कि श्रम ही वस्तुओं का विनिमय मूल्य निश्चित करता है। अर्थात् किसी वस्तु का विनिमय मूल्य उस वस्तु के ऊपर लगाए गए श्रम की मात्रा के ऊपर निर्भर करता है। इसे श्रम सिद्धान्त कहा जाता है। मार्क्स ने उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि जमीन में दबा हुआ कोयला उपयोगी होने के कारण उपयोग मूल्य तो रखता है लेकिन जब तक उसे जमीन से खोदकर बाहर नहीं निकाला जाता है, जब तक उससे मशीन नहीं चलाई जा सकती है। अतः इस उद्देश्य से कोयले को जमीन से बाहर निकालने के लिए जो श्रम किया जाता है, वही उसका 'विनिमय मूल्य' (Exchange Value) निर्धारित करता है। इससे स्पष्ट है कि जब तक किसी प्राकृतिक पदार्थ पर मानव श्रम व्यय न हो तो वह पदार्थ विनिमय मूल्य से रहित होता है। मानव श्रम लगने पर ही उसका विनिमय मूल्य पैदा होता है। इस आधार पर मार्क्स कहता है कि प्रत्येक वस्तु का वास्तविक मूल्य वह श्रम है जो उसे मानव उपयोगी बनाने के लिए उस पर व्यय किया जाता है, क्योंकि वही 'विनिमय मूल्य' पैदा करता है।

अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value)– इस तरह मार्क्स श्रम को मूल्य का निर्धारक तत्व मानता है और उसके आधार पर ही अपने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की व्याख्या करता है। मार्क्स कहता है कि पूंजीवादी व्यवस्था में श्रमिक को विनिमय मूल्य के बराबर वेतन नहीं मिलता है, अपितु उसकी तुलना में काफी कम वेतन मिलता है। इस तरह सम्पूर्ण विनिमय के अधिकतर भाग को पूंजीपति हड़प जाता है। यह पूंजीपति द्वारा हड़पा जाने वाला मूल्य या लाभ ही अतिरिक्त मूल्य कहलाता है। मार्क्स के अनुसार–"अतिरिक्त मूल्य उन दो मूल्यों में से यदि हम विनिमय मूल्य में से श्रमिक के वेतन को घटा दें, तो जो राशि (मूल्य) बचती है, उसे ही अतिरिक्त मूल्य (Surplus-Value) कहा जाता है।" उसने आगे कहा है कि, "यह धन दो मूल्यों का अन्तर है, जिसे मजदूर पैदा करता है और जिसे वह वास्तव में पाता है।" अर्थात् यह वह मूल्य है, जिसे प्राप्त कर पूंजीपति मजदूर को कोई मूल्य नहीं चुकाता। मैकसी ने भी कहा है कि–"यह वह मूल्य है, जिसे पूंजीपति श्रमिकों के खून–पसीने की कमाई पर 'पथ कर' (Toll Tax) के रूप में वसूलता है।" मार्क्स के 'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त' को इस उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मान लीजिए एक श्रमिक 8 घण्टे काम करके एक दरी बनाता है जिसका विनिमय मूल्य 400 रु० है। इसमें से श्रमिक को मात्र 100 रु० ही मजदूरी के तौर पर मिलते हैं। इसका अर्थ यह है कि श्रमिक को केवल 2 घण्टे के श्रम के बराबर मजदूरी मिली। शेष 6 घण्टे का श्रम (300 रुपए) पूंजीपति ने स्वयं हड़प लिया। मार्क्स के इस सिद्धान्त के अनुसार यह 300 रुपए अतिरिक्त मूल्य है, जिस पर श्रमिक का ही अधिकार होना चाहिए। किन्तु व्यवहार में पूजीपति इस मूल्य को अपनी जेब में रख लेता है। उसे केवल पेटभर मजदूरी ही देकर उसका भरपूर शोषण करता है ताकि वह काम करने योग्य शरीर का स्वामी बन कर रह सके। इसे 'मजदूरी का लौह नियम' कहा जाता है। इसी के आधार पर पूंजीपति श्रमिक का वेतन निश्चित करके अतिरिक्त मूल्य पर अपना अधिकार बनाए रखता है। पूंजीपति की हार्दिक इच्छा

यही होती है कि अतिरिक्त मूल्य में वद्धि हो जाए। इस इच्छा का परिणाम, श्रमिकों के शोषण के रूप में निकलता है। मार्क्स का कहना है कि श्रमिकों के शोषण को रोकने का एकमात्र उपाय 'अतिरिक्त मूल्य' श्रमिकों की जेब में जाना है। क्योंकि किसी वस्तु के उत्पादन में श्रम ही सब कुछ होता है।

अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त के निहितार्थ
(Implications of the theory of Surplus-Value)

1. श्रम ही किसी वस्तु का मूल्य निर्धारक है। विनिमय मूल्य श्रम पर ही आधारित होता है।
2. समस्त विनिमय मूल्य पर केवल श्रमिका का अधिकार होता है, किन्तु व्यवहार में उसे वेतन के रूप में थोड़ा सा ही भाग मिलता है।
3. व्यवहार में विनिमय मूल्य पर पूंजीपति का ही अधिकार होता है।
4. अतिरिक्त मूल्य विनिमय मूल्य का वह भाग है जो श्रमिक को नहीं दिया जाता है तथा जिसे स्वयं पूंजीपति अपने पास रख लेता है। यह पूंजीपति द्वारा श्रमिक के धन की चोरी है और इस चोरी के कारण ही पूंजीपति को बड़ा फायदा होता है और उसके पास पूजी का संचय बढ़ता है।
5. पूंजीवाद श्रमिकों के घोर शोषण पर खड़ा है, जो एक अन्यायपूर्ण अवस्था है इसलिए इसके विरुद्ध क्रान्ति की जानी चाहिए।

'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त' की आलोचनाएं
(Criticisms of the theory of surplus-value)

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त बाहर से तो अति आकर्षक व सुन्दर दिखाई देता है। लेकिन वैज्ञानिक दष्टि से इसका विश्लेषण करने पर इसमें अनेक कमियां पाई जाती हैं, इसलिए यह सिद्धान्त आलोचना का शिकार बन गया है। बीयर ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि मार्क्स का यह सिद्धान्त अर्थ–शास्त्रीय सच्चाई की अपेक्षा सामाजिक या राजनीतिक नारे से अधिक महत्व नहीं रखता है। मार्क्स के इस सिद्धान्त की आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं–

1. ***पक्षपात पूर्ण दष्टिकोण** (Biased view)*–मार्क्स के अनुसार श्रम ही किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित करता है। अर्थात् श्रम ही एकमात्र मूल्य–निर्धारक तत्व है। इसलिए मार्क्स ने उत्पादन के अन्य साधनों, भूमि, पूंजी, मशीनों आदि की घोर उपेक्षा की है। उत्पादन में इन साधनों की भूमिका बहुत अधिक महत्वपूर्ण होती है। इनके अभाव में उत्पादन की कल्पना करना असम्भव है। मार्क्स ने श्रम को अधिक महत्व देकर अन्य साधनों के साथ भेदभाव करता है। इसलिए मार्क्स का अन्य साधनों के प्रति भेदभावपूर्ण दष्टिकोण साफ झलकता है।

2. ***मानसिक श्रम की उपेक्षा** (Disregard of Mental Labour*–मार्क्स ने अपने इस सिद्धान्त में शारीरिक श्रम को अधिक महत्व दिया है। आलोचकों का कहना है कि उत्पादन की वद्धि में तकनीकी ज्ञान, प्रबन्ध कुशलता तथा व्यावसायिक कुशलता आदि का भी बहुत बड़ा योगदान होता है। मानसिक श्रम ही किसी वस्तु के निर्माण व उसके तैयार होने पर बेचने के लिए उपयुक्त बाजार की तलाश करता है। मानसिक शक्ति ही किसी उद्योग के फायदे व धनी के बारे में विचार कर सकती है। लेकिन मार्क्स ने मानसिक श्रम को महत्व देकर बड़ी भूल की है।

3. ***उत्पादन पर व्यय का वर्णन नहीं (No Description of Expenditure made on production)***–मार्क्स ने वस्तुओं के उत्पादन में पूंजीपति द्वारा किए गए व्यय का कोई ब्यौरा इस सिद्धान्त में नहीं दिया है। पूंजीपति को अतिरिक्त मूल्य की राशि श्रमिकों के उत्तम जीवन, बेकारी व बोनस, मशीनों की घिसावट आदि के सुधार पर व्यय करना पड़ता है। अतः मार्क्स का यह कहना गलत है कि पूंजीपति अतिरिक्त मूल्य के अधिकतर हिस्से को हड़प जाता है।

4. ***प्रचारात्मक अधिक, आर्थिक कम (More stress on Publicity than on Economics)***–प्रो. केरयु हण्ट का विचार है कि–"मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त किसी भी रूप में 'मूल्य का सिद्धान्त नहीं है।' यह वास्तव में "शोषण का सिद्धान्त" है, जिसके द्वारा यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि साधन सम्पन्न वर्ग सदैव ही साधनहीन वर्ग के श्रम पर जीवित रहता है।" मैकस बियर ने भी कहा है–"इस विचार को अस्वीकार करना असम्भव है कि मार्क्स का सिद्धान्त आर्थिक सत्य के स्थान पर राजनीतिक और सामाजिक नारेबाजी है।"

5. ***अस्पष्ट सिद्धान्त (Theory not clear)***–अलेकजैण्डर ग्रे (Alexander Grey) ने कहा है कि क्या कोई भी हमें यह बता सकता है कि मूल्य से मार्क्स का वास्तव में क्या अभिप्राय था? इसके अलावा मार्क्स ने जिन पूंजीपतियों व मजदूरों का उल्लेख किया है, वे न जाने किस लोक से सम्बन्ध रखते हैं। मार्क्स ने मूल्य, दाम आदि शब्दों का प्रयोग बड़े मनमाने व अनिश्चित ढंग से किया है। मार्क्स के विचारों की अस्पष्टता इस बात से सिद्ध हो जाती है–"मजदूरी दुगने या तिगुने कर दीजिए मुनाफा स्वयंमेव ही दुगुना हो जाएगा।" बिना कुशलता व तकनीकी ज्ञान के मुनाफे में वद्धि होना असम्भव है। लेकिन मार्क्स इतनी बड़ी अस्पष्ट व असंगत बात सरलता से कह दी। इस तरह मार्क्स ने आर्थिक शब्दों व आर्थिक प्रक्रिया की मनमानी व्याख्या करके इस सिद्धान्त को भ्रांतिपूर्ण बना दिया है।

6. ***सामाजिक हित न कि आर्थिक हित का सिद्धान्त (Theory of Social not of the Economic Interest)***–सेबाइन ने कहा है कि–"मार्क्स के मूल्य–सिद्धान्त का प्रयोजन विशुद्ध रूप से आर्थिक न होकर नैतिक था, क्योंकि मार्क्स के मूल्य का सिद्धान्त कीमतों का सिद्धान्त नहीं, बल्कि सामाजिक हित एवं 'मानव मूल्य' का सिद्धान्त था।" बीयर ने भी इसकी पुष्टि करते हुए कहा है कि यह सिद्धान्त सामाजिक या राजनीतिक नारे से अधिक महत्व नहीं रखता है। यह सिद्धान्त मजदूरों के शोषण का इतना अधिक वर्णन करता है कि यह आर्थिक हित की बजाय सामाजिक हित की बात करता प्रतीत होता है।

7. ***गलत धारणाओं पर आधारित (Based on mis-conceptions)***–मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त कई गलत धारणाओं पर आधारित है। उदाहरण के रूप में–"मार्क्स ने कहा है कि 'अतिरिक्त मूल्य' पर श्रमिक का अधिकार होना चाहिए। यदि मार्क्स की इस बात को मान लिया जाए तो पूंजीपति उत्पादन क्यों करेंगे? कोई भी व्यक्ति लाभ कमाने के उद्देश्य से ही उत्पादन करता है। यदि सारा लाभ उसकी जेब में जाने की बजाय किसी वर्ग विशेष के पास जाएगा तो उसके दिमाग में कमी नहीं है कि वह उत्पादन जारी रखेगा। इस तरह गलत धारणाओं पर आधारित होने के कारण भी यह सिद्धान्त आलोचना का शिकार हुआ है।

8. ***मौलिकता का अभाव (Lack of Originality)***–मार्क्स ने यह सिद्धान्त अन्य अर्थशास्त्रियों रिकार्डों तथा एडम स्मिथ के श्रम सिद्धान्त पर आधारित किया है। इसलिए यह सिद्धान्त मार्क्स का मौलिक सिद्धान्त न होने के कारण अनेक भ्रांतियों का जनक बन गया और आलोचना का शिकार हुआ।

इस तरह मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त उत्पादन के विभिन्न पहलुओं की उपेक्षा करने के कारण अनेक आलोचनाओं का शिकार हुआ है। अनेक आलोचकों ने तो इसके नामकरण पर ही आपत्ति जतायी है। उन्होंने कहा है कि इस सिद्धान्त का उद्देश्य शोषण दिखाना है, पूंजीपति का चरित्र दिखाना है तथा समाजवाद द्वारा कारीगर का शोषण रोकना है, इसलिए इसका नाम शोषण का सिद्धान्त होना चाहिए न कि अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त। लेकिन अनेक दोषों के बावजूद भी यह कहना पड़ेगा कि शोषण के एक सिद्धान्त के रूप में यह सिद्धान्त आज भी उतना ही सही है जितना कि मार्क्स के समय में था क्योंकि मार्क्सवाद के सभी आलोचकों के द्वारा इस बात को स्वीकार किया गया है कि पूंजीवादी व्यवस्था में श्रमिक को अपना उचित अंश प्राप्त नहीं होता। पोपर का कहना है कि–"यदि मार्क्स का यह विश्लेषण दोषपूर्ण है लकिन शोषण का वर्णन करने के लिए यह आज भी काफी सम्मानीय है।" मार्क्स की भविष्यवाणियां गलत हो सकती हैं लेकिन उसके द्वारा पूंजीवाद का तर्कपूर्ण विरोध सही है। सेबाइन ने मार्क्स के इस सिद्धान्त का महत्व स्वीकार करते हुए कहा है–"अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त एक ऐसा मूल तत्व है जो पूंजीवाद की हृदय हिला देने वाली विभीषिकाओं को उद्घाटित करता है। यह सिद्धान्त इतना तर्कपूर्ण तथा ठोस है कि इसे चुनौती नहीं दी जा सकती और इसे स्वीकार कर लेने पर हम सकते हैं कि मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त पूंजीवाद के विरूद्ध श्रमिकों के हितों की रक्षा का अचूक शस्त्र है। यदि इस सिद्धान्त को आधा भी स्वीकार कर लिया जाए तो श्रमिक वर्ग के लिए प्रगति के नए द्वार खुल जाएंगे और उन पर मार्क्स का ऋण युगों–युगों के लिए अमिट रूप में चढ़ जाएगा तथा सामाजिक विषमता का लगभग अन्त हो जाएगा।

सर्वहारा वर्ग की तानाशाही
(Dictatorship of Prolectariat)

मार्क्स का कहना है कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही एक अस्थायी व्यवस्था होगी। यह पूंजीवाद से वर्ग–विहीन राज्य या समाजवादी समाज की स्थापना के मार्ग में एक संक्रमण काल के रूप में जानी जाएगी। इसका अन्त होते ही समाज में वर्ग–संघर्ष की समाप्ति हो जाएगी और एक राज्य–विहीन समाज की स्थापना होगी। राज्य–विहीन या समाजवादी समाज की स्थापना में कुछ समय अवश्य लगेगा। इसलिए कुछ समय तक पूंजीवादी व्यवस्था के अन्त के बाद श्रमिकों की तानाशाही स्थापित रहेगी, जिसकी प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं:–

1. ***राज्य पर सर्वहारा वर्ग का नियन्त्रण (Control of State by the Proletariat)***–मार्क्स का कहना है कि समाजवादी समाज की स्थापना से पहले सर्वहारा वर्ग की सफल क्रान्ति के द्वारा पूंजीवादियों का राज्य पर से नियन्त्रण समाप्त कर दिया जाएगा और सर्वहारा वर्ग शासन की बागड़ोर स्वयं अपने हाथ में लेगा। इसके बाद सर्वहारा वर्ग अपने हितों व वद्धि के लिए समाज में किये पूंजीवादी तत्वों के सफाए के लिए सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की स्थापना करेगा अर्थात् राज्य के ऊपर पूरी तरह से सर्वहारा वर्ग का नियन्त्रण स्थापित हो जाएगा।

2. ***सम्पत्ति का समाजीकरण (Socialisation of the Property)***–मार्क्स के अनुसार सर्वहारा वर्ग का अधिनायक तन्त्र निजी सम्पत्ति के अधिकार का अन्त करके उसके स्थान पर सार्वजनिक सम्पत्ति के अधिकार को जन्म देगा। सम्पत्ति के उत्पादन व वितरण के साधनों पर सारे समाज का स्वामित्व स्थापित किया जाएगा अर्थात् खानों, कारखानों, मशीनों, रेलों, जहाजों आदि को सारे समाज की अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति समझा जाएगा।

3. ***समाज हित में योजनाबद्ध तरीके से उत्पादन (Production in Social interest in a Planned Manner)***–मार्क्स का कहना है कि पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन का प्रमुख लक्ष्य निजी लाभ में वद्धि करना होता है। इसमें अतिरिक्त मूल्य पर पूंजीपति का अधिकार होता है। परन्तु समाजवादी समाज में उत्पादन का मूल उद्देश्य समाज के आर्थिक हितों की रक्षा एवं वद्धि होगा। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र द्वारा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आर्थिक योजनाएं बनाकर ही उत्पादन किया जाएगा। इससे आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त होगा।

4. ***योग्यतानुसार कार्य व कार्यानुसार वेतन का सिद्धान्त (Principle of Wages according to ability and nature of work)***–मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी समाज में अनेक श्रमिक बेरोजगार होते हैं अथवा उन्हें योग्यतानुसार काम नहीं मिलता है और उन्हें कार्य की तुलना में कम वेतन दिया जाता है। किन्तु समाजवादी व्यवस्था में प्रत्येक–व्यक्ति के लिए योग्यतानुसार कार्य दिया जाएगा, सर्वहारा वर्ग की तानाशाही द्वारा पूंजीवाद के नियम बदल दिए जाएंगे और समाजवादी समाज में रोजगार के नियमों की स्थापना की जाएगी अर्थात् योग्यता के अनुसार सभी को रोजगार प्रदान किया जाएगा।

5. ***शोषण का अन्त होगा (There will be no Exploitation)***–मार्क्स का कहना है कि पूंजीवादी व्यवस्था जैसा श्रमिकों का शोषण समाजवादी व्यवस्था में नहीं होगा। श्रमिक वर्ग की तानाशाही स्थापित होते ही शोषण के सभी साधन समाप्त कर दिए जाएंगे। समाज में श्रम का महत्त्व बढ़ेगा। जो श्रम नहीं करेगा, उसे भोजन प्राप्त नहीं होगा। श्रमिक वर्ग की तानाशाही स्थापित होते ही मानव के शोषण की प्रवत्ति समाप्त हो जाएगी और समाज में अन्त में एक ही वर्ग (श्रमिक वर्ग) रह जाएगा। यह अवस्था समाजवादी समाज की होगी जिसमें शोषक वर्ग और उत्तराधिकार के नियम दोनों का अन्त हो जाएगा।

6. ***लोकतान्त्रिक व्यवस्था होगी (Democratic Set-up)***–मार्क्स के अनुसार सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र की स्थापना होते ही पूंजीवाद का सफाया हो जाएगा और समाज में एक नई व्यवस्था का जन्म होगा। पूंजीवाद के लिए तो यह व्यवस्था अधिनायकवादी होगी, किन्तु श्रमिकों के लिए यह लोकतान्त्रिक व्यवस्था होगी। पूंजीवाद के अन्त के बाद श्रमिक वर्ग की तानाशाही के अन्तर्गत श्रमिक वर्ग अपने हितों के लिए लोकतांत्रिक ढंग से कार्य करेगा। सार्वभौमिक व्यस्क मताधिकार की प्रणाली द्वारा श्रमिकों के प्रतिनिधि चुने जाएंगे और शासन का संचालन श्रमिक वर्ग ही करेगा। शासन संचालन में सबकी इच्छा का ध्यान रखा जाएगा। इसमें किसी एक दल के पास सत्ता का केन्द्रीकरण नहीं होगा।

इस तरह श्रमिक वर्ग की तानाशाही द्वारा समाजवादी समाज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त होगा। मार्क्स ने कहा है कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र एक संक्रमणशील (अस्थायी) व्यवस्था होगी। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की देख–रेख में ही समाजवादी समाज में एक ऐसा गुणात्मक विकास होगा कि यह समाज क्रमशः साम्यवादी समाज में बदल जाएगा अर्थात् वर्ग विहीन तथा राज्य विहीन समाज में बदल जाएगा। मार्क्स के अनुसार–"सर्वहारा क्रान्ति के बाद मजदूर वर्ग की तानाशाही की स्थापना होगी। जिसके अधीन समाजवाद निखर कर साम्यवादी समाज में विकसित हो जाएगा।"

वर्ग-विहीन राज्य-विहीन समाज (Classless-Stateless Society)

मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'Communist Manifesto' में साम्यवादी समाज के बारे में विस्तार से लिखा है। उसके अनुसार सर्वहारा वर्ग की तानाशाही एक अस्थायी व्यवस्था है। मुख्य व्यवस्था तो साम्यवादी समाज है जो वर्ग–विहीन तथा राज्य–विहीन है। यह व्यवस्था द्वन्द्ववादी प्रक्रिया का स्वाभाविक परिणाम है जो वर्ग–संघर्ष की समाप्ति के बाद राज्य–विहीन तथा वर्ग–विहीन समाज की स्थापना करता है। यह समाज की एक आदर्श व्यवस्था है। मार्क्स और एंजिल्स की मान्यता थी कि पहले वर्तमान पूंजीवादी राज्य सर्वहारा वर्ग द्वारा क्रान्ति करके नष्ट कर दिया जाएगा और बाद में सर्वहारा राज्य का वर्ग उन्मूलन के बाद स्वतः विलोप हो जाएगा। राज्य के विलोप की यह प्रक्रिया एक लम्बी और क्रमिक प्रक्रिया है जो तभी पूर्णताः प्राप्त करती है जबकि समाज स्वशासन के लिए पूर्णता तैयार हो जाता है। दूसरे शब्दों में जब समाजवाद का निर्माण पूर्ण हो जाता है और सर्वहारा अधिनायकत्व सम्पूर्ण जनता के राज्य में परिणत हो जाता है। एंजिल्स ने इस ओर संकेत करते हुए कहा है कि अन्त में जब राज्य पूरे समाज का सच्चा प्रतिनिधि बन जाता है तब वह अपने आपको अनावश्यक बना देता है। जब ऐसा कोई वर्ग नहीं रह जाता है जिसे पराधीन बनाकर रखने की आवश्यकता हो, जब वर्ग–शासन और उत्पादन की वर्तमान व्यवस्था पर आधारित व्यक्तिगत जीवन संग्राम और उनसे

पैदा होने वाली टक्करें और ज्यादतियां समाप्त हो जाती हैं, तब ऐसी कोई चीज नहीं बचती जिसको दबाकर रखना जरूरी हो और तब एक विशेष दमनकारी शक्ति की या राज्य की कोई आवश्यकता नहीं रहती। वह पहला कार्य जिसके द्वारा राज्य अपने आपको सचमुच पूरे समाज का प्रतिनिधि बना देता है अर्थात् समाज के नाम पर उत्पादन के साधनों को अपने अधिकार में कर लेना–यह कार्य ही राज्य के रूप में उसका आखिरी स्वतन्त्र कार्य होता है। एक क्षेत्र के बाद दूसरे क्षेत्र में, सामाजिक सम्बन्धों में राज्य का अनावश्यक हस्तक्षेप बनता जाता है और फिर अपने आप समाप्त हो जाता है। व्यक्तियों के शासन का स्थान, वस्तुओं का प्रबन्ध तथा उत्पादन की प्रक्रियाओं का संचालन ग्रहण कर लेता है। राज्य को रद्द नहीं किया जाता, वह अपने आप मर जाता है। समाजवादी समाज के बारे में आगे मार्क्स ने कहा है–"नए साम्यवादी समाज की प्रमुख विशेषता पूर्णहीनता एवं राज्यहीनता होगी। इसमें समाज एक परिवार की भांति होगा और प्रत्येक व्यक्ति योग्यतानुसार कार्य करेगा तथा आवश्यकतानुसार उपभोग करेगा। इस समाज में राज्य की किसी भी रूप में आवश्यकता नहीं रहेगी।"

वर्ग विहीन एवं राज्य विहीन समाज के बारे में मार्क्स का कहना है कि, "जिस समाज में उत्पादकों के स्वैच्छिक आधार पर नए ढंग से उत्पादन का संगठन स्थापित कर लिया जाता है, वहां सम्पूर्ण राज्य मशीनरी को चरखे और कांसे के कुल्हाड़े के साथ पुरातत्व संग्रहालय में, जहां कि उसका उपयुक्त स्थान है, रख दिया जाता है।" लेनिन ने भी मार्क्स के मत का समर्थन करते हुए कहा है–"राज्य का उसी समय पूर्णतया विलोप हो जाएगा जब समाज इस नियम को अपना लेगा 'हर एक से उसकी क्षमता के अनुसार और हर एक को उसकी आवश्यकता के अनुसार' अर्थात् उस समय जबकि लोग सामाजिक आदान–प्रदान के मौलिक नियमों का पालन करने में इतने अभ्यस्त हो जाएंगे और जब उनका श्रम इतना उत्पादक हो जाएगा कि वे स्वेच्छापूर्वक अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करने लगेंगे।

इस तरह उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाजवादी समाज का निर्माण राज्य के विलुप्त होने की प्रक्रिया में ही ऐसे समाज का निर्माण सम्भव है, जिसके झण्डे पर मार्क्स के अनुसार यह लिखा होगा–'हर एक से अपनी क्षमता के अनुसार और हर एक को अपनी आवश्यकता के अनुसार' इसके साथ ही इस तरह के समाज के निर्माण के लिए अनिवार्य शर्त, सम्पूर्ण विश्व में समाजवाद की विजय एवं उसका सुदढ़ीकरण है। अगर वर्तमान समय की तरह विश्व के कुछ राज्यों में समाजवाद प्रभावपूर्ण होता है और बाकी में पूंजीवादी एक सशस्त्र खतरे के रूप में बना रहता है, तो ऐसे हालात में सुरक्षा की दष्टि से समाजवादी राज्य असीमित काल तक राज्य की उपस्थिति बनाए रखने के लिए विवश होंगे। परिणामस्वरूप वे चाहते हुए भी राज्य के विलोपीकरण और पूर्ण समाज के युग में प्रवेश करने की दिशा में प्रगति नहीं कर सकेंगे। लेकिन मार्क्स के मतानुसार यह स्थिति अधिक समय तक जारी नहीं रह सकती। सामाजिक विकास के नियमों के अनुसार धीरे–धीरे विश्व के समस्त पूंजीवादी राज्य समाजवादी राज्यों में बदल जाएंगे और इस तरह अन्ततोगत्वा राज्य के विलोपीकरण का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा तथा विश्व मानवता प्रतिघात और भीतरी घात (अन्तर्द्वन्द्व) के भय से मुक्त होकर साम्यवादी समाज के युग में प्रवेश करेगी अर्थात् तब समाज से शोषण व भय का नाश होगा और विश्व समाज नई दिशा की ओर उन्मुख होकर मानवता की लम्बी त्रासदी का उन्मूलन कर देगा।

कार्ल मार्क्स का योगदान
(Contribution of Karl Marx)

वैज्ञानिक समाजवाद के जनक कार्ल मार्क्स का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में विशेष महत्व है, यद्यपि मार्क्स के सिद्धान्तों की अनेक आधारों पर आलोचना भी हुई है, लेकिन इससे मार्क्स का महत्व कम नहीं हो जाता। प्रो० वेपर ने उसे 19वीं सदी का सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्ति माना है। मैकसी ने भी मार्क्स के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि अनेक आलोचनाओं के बावजूद भी मार्क्स आधुनिक युग के राजनीतिक और आर्थिक चिन्तन में एक शक्तिशाली तत्व बना हुआ है। लुईश वाशरमैन ने कहा है कि समाजवाद ने उससे एक दर्शन और दिशा प्राप्त की है। इस आधार पर स्पष्ट तौर पर कहा जा सकता है कि मार्क्स जैसा महान साम्यवादी सन्त आज तक कोई अन्य नहीं हुआ है। आधुनिक मार्क्सवादी विचारधारा भी इस सन्त की ऋणी है। मार्क्स की प्रमुख देन निम्नलिखित हैं–

1. ***वैज्ञानिक दष्टिकोण (Scientific Approach)***–मार्क्स ने अपने सिद्धान्तों को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है। उसके सिद्धान्त आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में अपने गुण के कारण काफी लोकप्रिय है। उसने समाजवादी चिन्तन को वैज्ञानिक दष्टिकोण प्रदान करके जो क्रमबद्धता का गुण उसमें भरा है, वह उसकी महान देन है। उसने अपने रजनीतिक चिन्तन को इतिहास से जोड़कर एक तर्कसंगत, वैज्ञानिक और नई दिशा प्रदान की है। उसने वैज्ञानिकता अैर तार्किकता में समन्वय स्थापित किया है। मैकसी ने उसके वैज्ञानिक दष्टिकोण के बारे में लिखा है–"समाजवाद को वैज्ञानिक रूप देना मार्क्स के माने हुए सिद्धान्तों में से था। उसने समाजवाद को केवल वैज्ञानिक आधार ही प्रदान नहीं किया बल्कि उसे विशाल शक्ति भी प्रदान की।"

2. ***सामाजिक जीवन का यथार्थवादी चित्रण (Realistic Description of Social Life)***– मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के आधार पर सामाजिक जीवन का यथार्थवादी चित्रण किया है। उसने सामाजिक संस्थाओं के संचालन के आर्थिक कारकों को वास्तविक शक्ति प्रदान कर समाजशास्त्रों को सशक्त बना दिया। उसने वैधानिक और राजनीतिक संस्थाओं तथा आर्थिक प्रणाली में आपसी सम्बन्धों की प्रगाढ़ता सिद्ध की और इस तरह स्वयं को प्रभावशाली सामाजिक दार्शनिकों की अग्रिम पंक्ति में प्रतिष्ठित किया। वेपर ने लिखा है कि इस देन के कारण मार्क्स को एक महत्वपूर्ण दार्शनिक समझना चाहिए।

3. ***धर्म और विज्ञान का संयोग (Combination of Science and Religion)***–प्रसिद्ध विद्वान वेपर ने कहा है–"मार्क्स ने धर्म और विज्ञान के संयोग से युग की महान सेवा की है।" पुरातन के प्रेमियों के लिए उसके पास धर्म की तथा नवीनता के पुजारियों के लिए उसके पास विज्ञान की पिटारी है तथा समाजवादी प्रकाश की किरण है।

4. ***समाजवादी दर्शन का यथार्थ विश्लेषण (Realistic Anslysis of Social Philosophy)***– मार्क्स से पूर्व भी काल्पनिक समाजवादियों–चार्ल्स, फोरियर, ओविन, प्रौंधा आदि ने समाजवादी विचारधारा पर अपने विचार प्रकट किए थे। लेकिन मार्क्स ही ऐसा प्रथम विचारक था जिसने समाजवाद के यथार्थ रूप का चित्रण करके उसे वैज्ञानिक आधार प्रदान किया।

5. ***साम्यवादी विचार-दर्शन का प्रतिपादन (Propounder of Communist Philosophy)***– मार्क्स को ही साम्यवादी विचार–दर्शन का प्रतिपादक माना जाता है। उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के ऊपर ही आधुनिक साम्यवाद की ईमारत खड़ी हुई है। लेनिन, स्टालिन और माओ जैसे महान साम्यवादी विचारक मार्क्सवाद से ओत–प्रोत रहे हैं। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित कृतियां 'साम्यवादी घोषणा–पत्र' (Communist Manifesto) और 'दास कैपिटल' (Das Capital) साम्यवादियों की 'बाइबल' कही जाती है और मार्क्स को साम्यवादी सन्त कहा जाता है।

6. ***पूंजीवाद के दोषों को उजागर करना (Brings to light evils of Capitalism)***–मार्क्स की ऐतिहासिक अमरता उसके उस अथक संघर्ष में छिपी हुई है, जो उसने पूंजीवाद के शोषण और अन्याय के विरूद्ध किया था। मार्क्स ने इस संघर्ष में करोड़ों, दलितों, पीड़ितों और शोषितों की भावनाओं को उजागर किया है। उसने अपने सिद्धान्तों के माध्यम से शोषितों में एक ऐसी भावना को पैदा किया जो पूंजीवाद के विरूद्ध संघर्ष कर सकती थी। मार्क्स का यह अटूट विश्वास था कि पूंजीवाद के विरूद्ध इस संघर्ष में सर्वहारा वर्ग की विजय होगी तथा वर्ग–विहीन समाज का स्वप्न साकार होगा, लेनिन ने कहा है–"मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन ने ही सर्वहारा वर्ग को उस आत्मिक दासता से मुक्ति पाने का मार्ग दिखाया, जिसने सभी उत्पीड़ित वर्ग अब तक सिसकते हुए दिन काट रहे थे।" लेनिन का इशारा स्पष्ट तौर पर पूंजीवादी व्यवस्था के शोषित रूप की तरफ ही है।

7. ***श्रमिक-वर्ग में नई आशा, विश्वास तथा चेतना का संचार करना (To Enthuse new hopes, confidence and consciousness in labour class)***–मार्क्स ने कहा है कि पूंजीवाद का पतन अनिवार्य है तथा उसके खिलाफ संघर्ष में श्रमिकों की ही विजय होगी। इससे श्रमिकों को पूंजीवाद के खिलाफ संघर्ष करने की प्रबल प्रेरणा व शक्ति प्राप्त हुई। उसके वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त ने श्रमिकों में नई आशा, विश्वास, चेतना, एकता व शक्ति की जो भावना भरी, और श्रमिक आन्दोलनों को जन्म दिया।

8. ***समाजवादी आन्दोलन का प्रेणता (Propounder of Socialist Movement)***–मार्क्स ने श्रमिक वर्ग में नई चेतना पैदा करके समाजवादी आन्दोलन का रास्ता तैयार किया। उसने समाजवादी आन्दोलनों की सफलता के लिए वही कार्य किया जो मैकियावैली ने राज्य के सिद्धान्त के लिए किया था। बर्लिन ने लिखा है–"19वीं सदी में कितने सामाजिक आलोचक तथा क्रान्तिकारी हुए जो किसी भी रूप में कम मौलिक नहीं थे, लेकिन कोई भी ऐसा नहीं था जो मार्क्स जैसा दढ़–निश्चयी हो, अपने जीवन के प्रत्येक कार्य को तात्कालिक व्यावहारिक बनाने के लिए इतना तल्लीन हो जिसके लिए बलिदान से अधिक पवित्र और कुछ नहीं था।"

9. ***साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरूद्ध प्रबल स्वर (Stren voice against imperialism and colonialism)***–मार्क्स को समाजवादी क्रान्तियों का अग्रदूत माना जाता है। उसके विचारों से प्रेरणा पाकर एशिया अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी ताकतों के विरूद्ध व्यापक जन आन्दोलन उठ खड़े हुए। 1917 की रुसी क्रान्ति की सफलता से प्रेरणा पाकर एशिया व अफ्रीका के देश भी अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संगठित प्रयास करने लगे और उन्होंने भी उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद के विरूद्ध तीव्र प्रतिक्रियाएं व्यक्त करनी शुरू कर दी। इस तरह मार्क्स ने मानवता की बहुत सेवा की है।

10. ***विश्व में साम्यवादी राष्ट्रों का आविर्भाव (Emergence Communist Countries in the World)***–मार्क्स ने विश्व के सामने ऐसे सिद्धान्त पेश किए, जिनकी व्यावहारिक परिणति साम्यवादी राष्ट्रों के आविर्भाव के रूप में हुई। 1917 की रुसी क्रान्ति के बाद रुस में साम्यवाद की स्थापना तथा 1949 में चीन में माओ के नेतत्व में साम्यवादी शासन की स्थापना के पीछे मार्क्सवाद का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त हंगरी, पोलैण्ड, चकोस्लोवाकिया, यूगोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मीनी, बुलगारिया, अल्बानिया आदि देशों में भी साम्यवादी सरकारें स्थापित होना मार्क्सवाद के प्रभाव को दर्शाता है। यद्यपि वर्तमान में अनेक देशों से साम्यवाद का पतन हो चुका है। लेकिन कुछ देशों में साम्यवादी विचारधारा आज भी जिन्दा है। चीन में इसका प्रयोग आज भी हो रहा है। इससे मार्क्सवाद की लोकप्रियता का पता चलता है।

11. ***मार्क्सवाद विश्व के करोड़ों लोगों के लिए आशा की किरण है (Marxism is a ray of hope for Millions of People)***–आज सैकड़ों वर्ष बाद भी विश्व में मार्क्स के करोड़ों अनुयायी हैं। आज मार्क्सवादी विचारधारा विश्व के करोड़ों दलितों व शोषितों के लिए आशा की नई किरण है। मार्क्सवाद उन्हें अपने ऊपर हो रहे अन्याय व शोषण के विरूद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा दे रहा है।

12. ***एक नई सभ्यता और विचारधारा का प्रतीक (Symbol of New Civilization and Thought)***–मार्क्सवादी विचारधारा ने विश्व के सामने नई सभ्यता और विचारधारा का विकास किया। साम्यवादी सभ्यता, पाश्चात्य सभ्यता से भिन्न है। यह एक ऐसी विचारधारा के रूप में उभरकर हमारे सामने आयी है जो शोषण–रहित समाज की अवधारणा (समाजवादी–समाज) के रूप में प्रसिद्ध है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद एक प्रगतिशील दर्शन है जिसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक अन्याय को जड़ से समाप्त करना है। प्रो० पोपर ने कहा है–"कथनी के स्थान पर करनी पर बल देने वाली विचारधारा होने के कारण मार्क्सवाद निश्चय ही हमारे समय की सबसे अधिक महत्वपूर्ण सुधारवादी विचारधारा है।" मार्क्सवादी विचारधारा के महत्व को स्पष्ट करते हुए प्रसिद्ध अर्थशास्त्री शुम्पीटर ने कहा है–"मार्क्सवाद एक धर्म है और मार्क्स इसका पैगम्बर है।" मार्क्स के सिद्धान्तों को 19वीं तथा 20वीं सदी में जितनी लोकप्रियता मिली उतनी अन्य किसी विचारधारा को नहीं मिली हैं आज विश्व में करोड़ों निर्धन, शोषित व पूंजीवाद से पीड़ित लोग मार्क्स को अपना आराध्य देव मानते हैं और शोषण से छुटकारा पाने के लिए प्रयासरत् हैं। आज जिन देशों में साम्यवादी सरकारें हैं, वहां श्रमिकों के कल्याण की तरफ पूरा ध्यान दिया जा रहा है। आज जहां पर भी और जिन देशों में साम्यवादी दल सक्रिय है, वहां पर वहां की सरकारें किसी न किसी रूप में कम या अधिक साम्यवादी नीतियां अवश्य अपना रही हैं। इस दष्टि से मार्क्सवाद ही आधुनिक युग का लोकप्रिय दर्शन साबित हो रहा है। यद्यपि आज अनेक देशों से साम्यवाद का पतन हो चुका है या होने की राह पर है, लेकिन फिर भी उन समाजों में वर्ग–संघर्ष के रूप में मार्क्सवाद आज भी किसी न किसी तरह जिंदा है। जब तक देशों में शोषण, बेरोजगारी, निर्धरता आदि समस्याएं मौजूद हैं तब तक मार्क्सवाद की उपयोगिता, उसका आकर्षण एवं औचित्य भी किसी न किसी रूप में अवश्य ही विद्यमान रहेगा। वेवर का यह कथन सत्य है कि मार्क्स जैसा राजनीतिक चिन्तन अभी तक पैदा नहीं हुआ है। सारे संसार के साम्यवादियों में वह एक महान चिन्तक था। वह एक ऐसा साम्यवादी सन्त था जिसने शोषक वर्ग के लिए अथक कार्य किया और पूंजीवादी समाज के मन में शोषक वर्ग के प्रति चिन्ता की लहर पैदा की। अतः राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मार्क्स की देन अमूल्य व शाश्वत् है।

अध्याय-2: व्लादीमीर इलिच लेनिन (Vladimir Illich Lenin)

परिचय (Introduction)

व्यावहारिक साम्यवाद के जनक व रुसी क्रान्ति के नायक लेनिन राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण हस्ती हैं। उन्होंने मार्क्स की सैद्धान्तिक विचारधारा को व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का महान कार्य किया है। उन्होंने मार्क्स के साम्यवादी कार्यक्रम को रुस की परिस्थितियों के अनुसार संशोधित व परिमार्जित किया है। उन्होंने मार्क्सवाद को अप्रासांगिकता से बचाने के लिए तथा आपेक्षाकर्ताओं का मुंह बन्द करने के लिए उसमें कई संशोधन किए और एक प्रसिद्ध पुस्तक 'Imperialism: The Highest Stage of Capitalism' की रचना की। साम्यवादी विचारक लेनिन ने मार्क्स पर किए गए आपेक्षों का समाधान करने तथा रुस की बदली हुई परिस्थितियों के मार्क्सवाद को प्रासांगिक बनाने का महत्वपूर्ण प्रयास इस पुस्तक में किया है। इसी तरह लेनिन ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को भी नया रूप दिया है। उसने क्रान्ति के बारे में जो विचार दिए हैं, वे भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। लेनिन को अनेक विचारकों ने क्रान्ति के शास्त्र का आचार्य कहा है। उसकी सबसे महत्वपूर्ण देन पेशेवर क्रान्तिकारी का विचार है। लेनिन ने मार्क्सवाद को पैरों के बल खड़ा करके, उसे क्रियात्मक रूप देकर, रुसी क्रान्ति को सफल बनाकर विश्व के सामने एक आदर्श प्रस्तुत किया है। निःसन्देह लेनिन रुसी क्रान्ति के नायक, व्यावहारिक साम्यवाद के जनक, व्यावहारिक क्रान्तिकारी व पथ–प्रदर्शक तथा महान साम्यवादी दार्शनिक हैं। उनका राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में वह स्थान है जो मार्क्स का है।

जीवन परिचय (Life Sketch)

रुसी सर्वहारा क्रान्ति के नेता, विश्व के महान राजनीतिक विचारक तथा आधुनिक रुसी व्यवस्था के निर्माता व्लादीमीर इलिच लेनिन का जन्म 9 अप्रैल, 1870 को रुस के यूलियानोवस्क नामक स्थान पर एक मध्यमवर्गीय सरकारी निरीक्षक के घर हुआ। उनका वास्तविक नाम व्लादीमीर इलचि उल्यानोव था। जब वे निर्वासित होकर साबबेरिया में लेना नदी के किनारे रहने लगे तो उनका नाम लेनिन पड़ गया। लेनिन के पांच भाई–बहन थे। वे सभी क्रान्तिकारी थे। उन सभी ने रुस की क्रान्ति में भाग लिया था। उसके सबसे बड़े भाई को जार अलैकजैन्डर की हत्या के प्रयास के अपराध में देशद्रोह का आरोप लगाकर मत्यु के घाट उतार दिया गया था। इस घटना का लेनिन के मानस पटल पर गहरा प्रभाव पड़ा और वह एक क्रान्तिकारी बन गया।

लेनिन बी०ए० पास करने के बाद कलान विश्वविद्यालय में कानून की शिक्षा प्राप्त करने चला गया, वहां पर उसे क्रांतिकारी क्रियाकलापों के कारण एक बार विश्वविद्यालय से निष्कासित किया गया। 1891 में कानून की परीक्षा उसे सेन्ट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय से पास की। यहां

पर उसने मजदूरों के क्रान्तिकारी संगठनों का भी मार्गदर्शन किया। जार ने उसकी क्रान्तिकारी गतिविधियों के कारण उसे रुस से निष्कासित कर दिया और वह सीधा साइबेरिया जाकर लेनी नदी के किनारे रहने लगा। इस दौरान उसने अपने समाजवादी विचारों को पोषित किया। उसने इस दौरान अनेक पुस्तकें लिखीं और विदेशी भाषाओं का ज्ञान भी प्राप्त किया। 1900 में वापिस रुस आकर उसने समाजवादी लोकतन्त्रीय दल के नेता प्लेखनोव के साथ मिलकर कार्य किया। उसने समाजवादी प्रचार हेतु विदेशों में जाने का अवसर भी प्राप्त हुआ। उसने समाजवादी लोकतन्त्रीय दल को संगठित व अनुशासित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। लेकिन 1903 में यह दल दो भागों–बोल्शेविक तथा मेन्शेविक में बंट गया। लेनिन ने बोल्शेविक गुट का नेतत्व किया और समाजवादी क्रान्ति को संगठित करने का प्रयास किया। उसने पेशेवर क्रान्तिकारियों की टुकड़ी तैयार की और 1905 की मजदूर क्रान्ति के असफल रहने पर वह विदेशों में चला गया। 1917 की क्रान्ति के समय लेनिन वापस रुस आ गया और साम्यवादी क्रान्ति को सफल बनाने के लिए इसकी बागड़ोर अपने हाथ में ली।

लेनिन ने अपनी कुशाग्र बुद्धि तथा विलक्षण प्रतिभा के बल पर क्रान्ति को सफल बनाकर रुस के शासन को जार की तानाशाही से मुक्ति दिलाई और शासन की बागड़ोर अपने हाथ में ली। उसके बाद लेनिन ने सर्वहारा शासन को मजबूत बनाने के कई प्रयास किए और 1924 तक सोवियत शासन का प्रमुख बना रहा। 1918 में लेनिन को मारने का भी प्रयास किया गया, लेकिन वह बच गया। उसने सोवियत संघ का संविधान भी बनाया। 1924 में उसकी बीमारी के कारण मत्यु हो गई। उसकी मत्यु पर अनेक विचारकों ने उसे साम्यवाद का आध्यात्मिक गुरु कहा। स्तालिन ने कहा कि लेनिन ने मार्क्सवाद की रुस की परिस्थितियों के अनुसार ढालने तथा उन्हें अद्यतनीन (up-to-date) बनाने का महान कार्य किया गया है। बुखारिन ने उसे एक शक्तिशाली सिद्धान्तवेत्ता की संज्ञा दी। इस तरह लेनिन की महानता का पता उसको दी गई श्रद्धांजलियों से चलता है। निःसन्देह लेनिन रुस के महान दार्शनिक थे। उनकी बराबरी अन्य कोई मार्क्सवादी विचारक नहीं कर पाया।

महत्वपूर्ण रचनाएं
(Important Works)

लेनिन समाजवादी चिन्तन के इतिहास एक महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारक है। उन्होंने एक राजनीतिक व शासक के साथ–साथ अच्छा लेखक होने का भी गौरव प्राप्त है। उसकी बहुमुखी प्रतिभा का पता निम्नलिखित पुस्तकों से चलता है–

I. ***Imperialism-The Highest Stage of Capitalism***–लेनिन की यह रचना बहुत महत्वपूर्ण है। लेनिन के इस पुस्तक में मार्क्सवाद पर लगे आपेक्षों का समाधान किया है। उसने बताय है कि अनेक देशों में पूंजीवाद समाप्त होने की बजाय बढ़ने का कारण उसको पोषित होने के लिए अनुकूल परिस्थितियों का मिल जाना है। लेनिन साम्राज्यवाद के रूप में पूंजीवाद का विकास उसकी अन्तिम प्रगति है। इसके बाद साम्राज्यवाद के दोषों के कारण पूंजीवाद का नाश अवश्यम्भावी है।

II. ***State and Revolution***–लेनिन ने इस पुस्तक में क्रान्ति की कार्य–पद्धति व कला पर व्यापक चर्चा की है। उसने संसार की क्रान्तियों का गहरा अनुशीलन करके क्रान्ति के सम्बन्ध में कुछ नियम इस पुस्तक में प्रतिपादित किए हैं। लेनिन ने राज्य सम्बन्धी विचार भी इस पुस्तक में दिए हैं।

III. ***What is to be done***–लेनिन ने इस पुस्तक में संगठित व पेशेवर क्रान्तिकारियों के विचार का प्रतिपादन किया है। लेनिन ने कहा है कि यदि क्रान्ति को एक पेशा मान लिया जाए तो मुट्ठी भर क्रान्तिकारी भी क्रान्ति को सफल बना सकते हैं। इसी कारण लेनिन को क्रान्ति का आचार्य कहा जाता है।

IV. ***Materialism and Empiric Criticism***–लेनिन ने इस पुस्तक में मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की पुर्नव्याख्या की है। सेबाइन ने कहा है कि लेनिन ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को एक उच्च ज्ञान बना दिया है जिसमें समस्त विद्वानों के गहनतम प्रश्नों को समझने की क्षमता है। कुछ विचारकों का मानना है कि लेनिन ने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को पैरों के बल खड़ा किया है।

इनके अतिरिक्त लेनिन की अन्य रचनाएं–'Two Tactics of Social Democracy in Democratic Revolution', 'The Revolution of 1917', 'Left Wing Communism', 'An Infantile Disorder', 'The Soviets at Work', 'One Step Forward', 'Two Steps Back', तथा 'The Proletarian Revolution and Kautsky Renegade' हैं। इन सभी रचनाओं में लेनिन ने मार्क्सवाद के संशोधित सिद्धान्तों का परिमार्जन किया है और अपने कुछ नए साम्यवादी विचार भी प्रतिपादित किए हैं।

समकालीन परिस्थितियां
(Contemporary Situations)

लेनिन एक ऐसे समय की उपज है जब रुस में जार शासकों की तानाशाही थी। बचपन से ही लेनिन क्रान्तिकारियों के परिवार से संबंध रखता था। उसे जार शासकों की तानाशही से घणा थी। रुस में भ्रष्टाचार का बोलबाला था। किसी भी व्यक्ति को देशद्रोह के अपराध मे मत्युदण्ड दे दिया जाता था। किसान वर्ग व मजदूर वर्ग का जीवन बड़ा दु:खी था। माफीनामे बेचे जाते थे। नौकरियां रिश्वत लेकर दी जाती थी। प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार व तानाशाही प्रजा के दु:खों का प्रमुख कारण थी। औद्योगिक क्रान्ति ने श्रमिक वर्ग की दशा को ओर खराब कर दिया था। बौद्धिक क्षेत्र में भी मार्क्स के सिद्धान्तों की आलोचना हो रही थी। लेनिन ने मार्क्सवाद का बचाव करने का बीड़ा उठाया और स्वयं राजनीति के क्षेत्र में कदम रखकर जनता को जार की तानाशाही से मुक्ति दिलाने के प्रयास शुरू कर दिए। 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति को सफल बनाने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। लेनिन ने प्रतिकूल परिस्थितियों में भी रुसी समाज के लिए बहुत महत्वपूर्ण कार्य किए हैं।

पूंजीवादी साम्राज्यवाद का सिद्धान्त
(Theory of Capitalist Imperialism)

मार्क्स की पूंजीवाद के अन्त के बारे में की गई भविष्यवाणियों की असत्यता से बचाने के लिए लेनिन ने 1916 में एक पुस्तक 'Imperialism: The Highest Stage of Capitalism' की रचना की। मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि पूंजीपति वर्ग–मजदूर वर्ग के आपसी संघर्ष में पूंजीपति वर्ग का सफाया हो जाएगा। लेकिन कई देशों में पूंजीपति व श्रमिक वर्ग में शांतिपूर्ण सम्बन्धों का विकास हुआ और पूंजीपति वर्ग का विकास होने लगा। इस स्थिति को देखकर अनेक विचारकों ने मार्क्स के सिद्धान्तों पर आपेक्ष करने शुरू कर दिए। मार्क्स का सफाया अनुनायी होने के नाते लेनिन ने मार्क्स को आलोचनाओं से बचाने का बीड़ा उठाया। लेनिन ने कहा कि पूंजीवाद एक नए और अन्तिम दौर में पहुंच चुका है जिसे वह साम्राज्यवाद के रूप में अपना पोषण कर रहा है।

लेनिन ने कहा कि 1914 के प्रथम विश्वयुद्ध में भाग लेने वाले सभी देशों के विभिन्न वर्गों ने आपसी मतभेद और संघर्ष भूलकर राष्ट्रीय एकता के लिए कार्य किया। सभी देशों के श्रमिक यह भूल गए कि उनका कोई देश नहीं होता। इसलिए मार्क्स की वर्ग संघर्ष की धारणा लागू नहीं हो सकी और मार्क्स की अन्य भविष्यवाणियां भी असत्य प्रतीत होने लगी। लेनिन ने कहा है कि ब्रिटेन जैसे पूंजीपति वर्ग की दशा खराब न होने का कारण इनको उपनिदेशवाद व साम्राज्यवाद से प्राप्त होने वाला धन है। ब्रिटेन के पूंजीपति वर्ग का सर्वहारा वर्ग ब्रिटेन में नहीं है, भारत में है। ब्रिटेन के श्रमिक वर्ग को भी भारत से काफी फायदा हुआ है, इसलिए वहां के श्रमिक भी अच्छा जीवन जी रहे हैं। उनकी स्थिति मध्यम वर्ग जैसी बनी हुई है। साम्राज्यवाद न सर्वहारा वर्ग तथा शोषण का स्वरुप बदल दिया है। लेनिन का कहना है कि मार्क्स के सिद्धान्तों का साम्राज्यवाद से कोई विरोध नहीं है, अपितु यह उनको पुष्ट करने वाला ही है। यद्यपि यह सत्य है कि मार्क्स ने इस स्थिति के बारे में कभी नहीं सोचा कि पूंजीवाद साम्राज्यवाद की अन्तिम स्थिति में पहुंचकर नष्ट होगा। इसी कारण मार्क्स का आपेक्षों का सामना करना पड़ा।

लेनिन ने साम्राज्यवाद का सिद्धान्त पेश करते हुए कहा कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद की अन्तिम अवस्था है। पूंजीवाद का अधिकाधिक विकास होने से उसमें केन्द्रीयकरण की प्रवत्ति भी बढ़ती है और विभिन्न उद्योगों के बड़े–बड़े संगठन, ट्रस्ट आदि बनने लगते हैं। सारे उद्योगों पर मुट्ठीभर पूंजीपतियों का एकाधिकार होने लगता है। यही स्थिति वित्तीय क्षेत्र में भी आती है। बैंकों पर उद्योगपतियों का नियन्त्रण स्थापित होकर केन्द्रीयकरण को बढ़ावा मिलता है। इस प्रकार के उद्योगों और वित्तीय पूंजी की स्वाभाविक प्रवत्ति विस्तारवादी होती है। पूंजीपति अपनी पूंजी अपने देश के साथ–साथ दूसरे देशों में भी लगाकर उद्योग स्थापित करते हैं। इस तरह के भारी मुनाफा कमाने की इच्छा रखते हैं। इससे पूंजी व माल का निर्यात होने लगता है। इसके तीन सम्भावित परिणाम निकलते हैं–

I. इसका पहला परिणाम यह है कि पूंजीपति जिन देशों में अपनी पूंजी निवेश करते हैं, वहां अपना मुनाफा बढ़ाने के लिए वहां के कच्चे माल को प्राप्त करके, तैयार माल के रूप में बेचकर अपना ध्येय प्राप्त करना चाहते हैं। इसके लिए वे वहां पर अपने उपनिवेश स्थापित करने के विभिन्न प्रयासों द्वारा वहां की जनता का औपनिवेशिक शोषण करने का प्रयास करने लगते हैं। भारत का ब्रिटेन द्वारा किया गया शोषण इसका प्रमुख उदाहरण है।

II. इसका दूसरा परिणाम युद्धों का होना है। इस प्रकार के पूंजीवादी साम्राज्यवाद में अनेक देश, मंडियां व उपनिवेश प्राप्त करने के लिए आपसी संघर्ष करने लगते हैं ताकि वे अपने–अपने हितों को सुरक्षित बना सकें। इससे युद्धों की भरमार होने लग जाती है। इस तरह पूंजीवादी साम्राज्यवाद के कारण युद्धों का जन्म होता है।

III. इसका तीसरा परिणाम साम्राज्यवाद के अन्तर्विरोधों को जन्म के रूप में होता है। अपने स्वार्थों के लिए लड़े जाने वाले साम्राज्यावादी युद्ध में पूंजीपति वर्ग श्रमिक वर्ग को अपनी बलि का बकरा बनाने का प्रयास करता है। वह उन्हें आवश्यक शास्त्र शिक्षा देकर राष्ट्र के नाम पर दूसरे देशों में लड़ने के लिए भेजता है। लेकिन यह वर्ग जल्दी ही समझ जाता है कि उनका असली शत्रु कौन है और वे संगठित होकर पूंजीवाद के विरूद्ध विद्रोह कर देते हैं। इसमें वर्ग–संगठन के कारण श्रमिकों को ही विजय होना अवश्यम्भावी हो जाता है। इस तरह राष्ट्रीयता के नाम पर लड़ा जाने वाला युद्ध ही वर्ग–युद्ध का रूप लेकर पूंजीवाद को नष्ट कर देता है।

लेनिन ने कहा है कि इस तरह के अनेक अन्तर्विरोध पूंजीवादी साम्राज्यवाद में पाए जाते हैं। जब सम्पूर्ण विश्व का विभाजन पूंजीवादी साम्राज्यवादियों के बीच हो जाता है तो इन अन्तर्विरोधों के कारण पूंजीवाद का नष्ट होना स्वाभाविक है। इस व्यवस्था में निम्नलिखित अन्तर्विरोध पाए जाते हैं–

I. ***पूंजी व श्रम में विरोध***–लेनिन ने कहा है कि पूंजीवादी व्यवस्था का प्रथम अन्तर्विरोध श्रम और पूंजी के रूप में पाया जाता है। पूंजीपति का ध्येय श्रमिक लाभ कमाना होना है। इसके लिए वह श्रमिकों को कम मजदूरी देकर अपना लाभ बढ़ाता है। इस तरह श्रमिकों का शोषण होने से वे क्रान्ति की ओर अग्रसर होने लगते हैं।

II. ***साम्राज्यवादी ताकतों में अन्तर्विरोध***–लेनिन का कहना है कि प्रत्येक साम्राज्यवादी शक्ति नए बाजार, नए प्रदेश एवं कच्चे माल के स्रोत तलाशने के प्रयास में लगी रहती है। राष्ट्रीय स्तर पर यह संघर्ष पूंजीपतियों के मध्य में चलता है और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इसका स्वरूप साम्राज्यवादी हो जाता है।

III. ***उपनिवेशवाद तथा शासित वर्ग में विरोध***–लेनिन ने कहा है कि उपनिवेशीय नियन्त्रण वाले क्षेत्रों की जनता औपनिवेशिक अत्याचारों से मुक्ति पाने के लिए सदैव मौके की तलाश में रहती है। दूसरी तरफ उपनिवेशीय ताकतें अपनी पकड़ मजबूत बनाने की चेष्टा करती है। इससे दोनों में संघर्ष शुरू हो जाता है।

इस तरह लेनिन ने स्पष्ट किया है कि पूंजीवाद अपने आंतरिक विरोधों के कारण स्वतः ही नष्ट हो जाएगा।

लेनिन ने पूंजीवाद के साम्राज्यवादी चरण का जो विवरण दिया है, वह मार्क्स के पूंजीवादी संचयन के सिद्धान्त का ही विकास है। लेनिन ने इस सिद्धान्त द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि मार्क्स को पूंजीवाद से जिन परिणामों की आशा थी वे वास्तव में कुछ घटनाओं के कारण प्राप्त हुए जिनकी कल्पना करने में मार्क्स असमर्थ था। ये घटनाएं थीं–एकाधिकार, वित–पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का जन्म। साम्राज्यवाद पूंजीवादी विकास की उच्चतम अवस्था है। वह उस प्रक्रिया का एक भाग है जिसके द्वारा एक अधिक उच्च पूंजीवाद विहिन अथवा साम्यवादी समाज तथा अर्थव्यवस्था का निर्माण हो रहा है। आज विश्व में दो विरोधी शक्तियों–साम्राज्यवादी तथा क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग में संघर्ष चल रहा है। साधनों की दष्टि तथा पूंजीवादी और साम्राज्यवादी आगे हैं, लेकिन उनमें एकता नहीं रह सकती। इसके विपरीत सर्वहारा वर्ग में एकता अवश्य स्थापित होगी। इससे पूंजीवादी साम्राज्यवाद का अन्त होकर समाजवाद की स्थापना होगी।

इस साम्राज्यवादी विश्लेषण द्वारा लेनिन के साम्राज्यवाद की निम्नलिखित विशेषताएं दष्टिगोचर होती है–

I. ***एकाधिकारवाद की प्रवत्ति का जन्म***– लेनिन ने कहा है कि पूंजीवाद साम्राज्यवाद में उत्पादन का केन्द्रीयकरण और पूंजी का विस्तार इस अवस्था तक पहुंच जाता है कि एकाधिकारवाद का जन्म होता है और आर्थिक जीवन में इसका हस्तक्षेप बढ़ जाता है। इस व्यवस्था में खुली प्रतियोगिता होने के कारण सदैव ही पूंजीपतियों को फायदा होता है। छोटे–छोटे पूंजीपति खुली प्रतिस्पर्धा में पिछड़ जाते हैं। ज्यों–ज्यों पूंजी में बढ़ोतरी होती है वैसे–वैसे उत्पादन भी बढ़ने लगता है। उत्पादन को बेचने के लिए पूंजीवादी ताकतें अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की तलाश करने लगते हैं तो साम्राज्यवादी

प्रतिस्पर्धा शुरू हो जाती है। यह प्रतिस्पर्धा बड़े–बड़े उन्हीं पूंजीवादी देशों के बीच ही होती है जिनका पूंजी व उत्पादन के साधनों पर पूरा एकाधिकार होता है।

II. ***बैंक पूंजी व उद्योग पूंजी का एकीकरण***–लेनिन का कहना है कि औद्योगिक पूंजी के साथ विलय होने से वित्तीय पूंजीवाद और पूंजीपतियों का विकास होता है। उद्योगपति और बैंकर सर्वाधिक प्रभावशाली वर्ग के लोग होने के कारण विदेशों में स्थानीय पूंजीपतियों को इस शर्त पर पूंजी उधार देते हैं कि वे सारा तैयार माल और मशीनें उनहीं से खरीदेंगे। इस तरह दोहरा लाभ कमाकर उद्योगपति व बैंकर आपस में बांट लेते हैं। इस प्रकार औद्योगिक पूंजी व बैंक पूंजी का एकीकरण होने से पूजीवादी साम्राज्यवाद का अपार विकास हुआ है।

III. ***पूंजी का निर्यात***–लेनिन का कहना है कि पहले तो पूंजीपति केवल उत्पादित माल का निर्यात करते हैं, लेकिन धीरे–धीरे वे पूंजी का भी निर्यात शुरू कर देते हैं। वे विदेशों में अपनी पूंजी लगाकर वहीं पर उद्योग लगाते हैं और वहीं से कच्चा माल उत्पादन भी करते हैं। लेनिन ने लिखा है–"पूंजीपति एक तो ब्याज से और दूसरी तरफ अपनी पूंजी के निवेश से भारी लाभ कमाते हैं।" यूरोप के देशों–इंग्लैण्ड, फ्रांस व जर्मनी ने पूंजी के निर्यात द्वारा अपना पूंजीवादी साम्राज्यवाद स्थापित किया है।

IV. ***पूंजीपति गुटों का निर्माण***–लेनिन ने कहा है कि बड़े–बड़े उद्योगपति आपस में मिलकर उत्पादन की प्रतिस्पर्धा में कमी करते हैं और अलग–अलग वस्तुओं का निर्माण करके विशेष वस्तु पर अपना एकाधिकारवाद स्थापित कर लेते हैं। इस तरह भारी मुनाफा कमाकर फिर से पूंजी का निवेश करके और अधिक मुनाफा कमाते हैं। जैसे–जैसे मुनाफा बढ़ता है, वैसे–वैसे पूंजी बढ़ती है और जैसे–जैसे पूंजी बढ़ती है, एकाधिकार भी बढ़ता है। इस तरह एकाधिकार के कारण विश्व का अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों के रूप में विभाजन हो जाता है।

V. ***विश्व का आर्थिक व भौगोलिक विभाजन***–लेनिन का कहना है कि बड़े–बड़े उद्योगपति पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को रोकने के लिए भौगोलिक आधार पर अपनी मंडियां बांट लेते हैं। 19वीं व 20वीं सदी में अमेरिका व रुस द्वारा चीन, अफ्रीका और एशिया के देशों का विभाजन इसी आधार पर किया गया था।

लेनिन ने कहा है कि पूंजीवादी साम्राज्यवाद की यह व्यवस्था अधिक दिन तक चलने वाली नहीं है। साम्राज्यवाद के विपरीत परिस्थितियां एक दिन पूंजीवाद का अवश्य नाश कर देगी। पूंजीपतियों की अस्थाई एकता समाप्त हो जाएगी और सर्वहारा वर्ग संगठित होकर पूंजीवाद का नाश कर देगा।

पूंजीवादी साम्राज्यवाद के सिद्धान्त की आलोचना
(Criticisms of the Theory of Capitalist Imperialism)

यद्यपि लेनिन ने मार्क्स को कई आपेक्षों से बचाने का प्रयास तो किया, लेकिन वे स्वयं इस सिद्धान्त के कारण कई आलोचनाओं का शिकार हो गए। इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएं निम्नलिखित हैं–

1. ***ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना (Ignores the Historical Facts)***–लेनिन ने ऐतिहासिक घटनाक्रम को तोड़–मरोड़कर और उल्टा करे प्रस्तुत किया है। लेनिन साम्राज्यवाद के विकासक्रम को एक–दूसरे के साथ होने वाली तथा कारण कार्य का सम्बन्ध रखने

वाली पांच दशाओं के रूप में माना है। इसमें पहले तो उत्पादन व पूंजी का केन्द्रीयकरण द्वारा एकाधिकार की प्रवत्ति का पाया जाना है। दूसरी अवस्था में बैंकिंग व वित्तीय पूंजी का केन्द्रीयकरण होता है और तीसरी दशा में पूंजी का निर्यात शुरू हो जाता है। चौथी दशा में पूंजीवादी साम्राज्यवाद की प्रक्रिया शुरू होकर पांचवी दशा में विश्व का साम्राज्यवादी विभाजन हो जाता है। लेनिन ने पहली व दूसरी दशा के विकास का समय 1900 ई० के आसपास माना है। अतः साम्राज्यवाद की दशा इसके बाद ही आनी चाहिए क्योंकि कार्य सदैव कारण के बाद में ही पैदा होता है। ऐतिहासिक दष्टि से यह तथ्य गलत है, क्योंकि सभी यूरोपीय साम्राज्य 1900 ई० से पहले ही बन चुके थे। 1857 तक भारत पर अंग्रेजों का पूर्ण अधिकार स्थापित हो चुका था। अतः लेनिन का साम्राज्यवाद का सिद्धान्त ऐतिहासिक दष्टि से भ्रान्तिपूर्ण है।

2. ***आर्थिक शक्ति राजनीतिक घटनाओं को प्रभावित नहीं करती है (Economic Forces does not effect the Political events)***–लेनिन ने कहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का मूल कारण यह है कि विश्व की मंडियों का बंटवारा तथा साम्राज्यों का निर्माण विभिन्न देशों की राजनीतिक शक्ति के आधार पर होता है। लेनिन के इस मत से मार्क्स के इतिहास की आर्थिक व्याख्या के सिद्धान्त पर कुठाराघात होता है। मार्क्स ने आर्थिक शक्ति को ही विश्व–युद्धों का कारण माना था, सत्य तो यह है कि लेनिन और मार्क्स दोनों ही गलत है। राजनीतिक घटनाओं पर अन्य अनेक शक्तियों का भी प्रभाव पड़ता है।

3. ***अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीवादीद विकास की धारणा अस्पष्ट है (Conception of the Development of International Capitalism is Vague)***–लेनिन ने कहा है कि पूंजीपति ही अपनी सरकारों को राजनीतिक आक्रमण करने व विस्तारवादी नीति अपनाने के लिए दबाव डालते हैं। लेकिन प्रायः व्यवहार में ऐसा नहीं होता। व्यवहार में यह कार्य राजनीतिज्ञ करते हैं, पूंजीपति नहीं। युद्ध का निर्णय बड़े स्तर पर महत्वाकांक्षी व राष्ट्रीय हितों की प्रबल इच्छा रखने वाले सत्ताधारकों द्वारा लिया जाता है। ऐतिहासिक दष्टि से भी लेनिन की यह बात असाध्य है। 19वीं सदी में जिन राज्यों ने साम्राज्यवाद का विस्तार किया उन्हीं ने पूंजीवाद का भी विस्तार किया था, पूंजीवाद साम्राज्यवाद के बाद की दशा है, न कि पहले की। अतः लेनिन की अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीवादी विकास की धारणा अस्पष्ट व असत्य है।

4. ***पूंजी निर्यात साम्राज्यवाद का जनक नहीं है (Export of Capital does not lead to Imperialism)***–लेनिन का यह कथन बिल्कुल ही गलत व सारहीन है कि पूंजी–निर्यातक देश की साम्राज्यवाद के जनक है। स्विट्जरलैण्ड लम्बे समय से पूंजी का निर्यात करता रहा है, लेकिन उसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में तटस्थता की नीति अपनाई है और कभी भी साम्राज्यवाद का पोषण नहीं किया है। अतः पूंजी–निर्यात और साम्राज्यवाद में कोई सम्बन्ध नहीं है।

5. ***पूंजी-निर्यात से जीवन स्तर ऊँचा नहीं होता (Export of Capital is no guarantee for higher Standard of Living)***–लेनिन का विचार था कि पूंजी निर्यात से किसी भी देश का जीवन–स्तर ऊँचा होता है। यह बात पूर्ण रूप से सत्य नहीं है। स्वीडन और डेनमार्क पूंजी–निर्यातक देश न होते हुए भी फ्रांस व बेल्जियम से जीवन स्तर में काफी ऊँचे हैं। इन देशों का न तो कोई साम्राज्य है और फिर भी इनका जीवन स्तर काफी ऊँचा है।

6. ***पूंजी का आयात निर्धनता का जनक नहीं है (Import of Capital does not create Poverty)***–लेनिन का यह विचार गलत है कि केवल पूंजी निर्यातक देश ही समद्ध बन सकते हैं, आयात करने वाले देश नहीं। आस्ट्रेलिया, कनाडा तथा अमेरिका ने काफी लम्बे समय तक पूंजी का आयात करके ही समद्धि व विकास का लक्ष्य हासिल किया था। इस बात का कोई उदाहरण नहीं है कि ये देश पूंजी–आयात करने के बाद निर्धन बन गए। आज इन देशों की गिनती विश्व के विकसित देशों में होती है। अतः लेनिन की यह बात असत्य है कि पूंजी निर्यात समद्धि का तथा पूंजी आयात निर्धनता का सूचक है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि लेनिन ने मार्क्सवाद को आलोचनाओं से बचाने के लिए अपना पूंजीवादी साम्राज्यवाद का सिद्धान्त तो प्रस्तुत कर दिया, लेकिन वे इन भ्रान्तियों को दूर नहीं कर सके जो मार्क्स के सिद्धान्तों को भी थी। लेनिन ने स्वयं ऐतिहासिक तथ्यों को इस प्रकार तोड़–मरोड़कर पेश किया कि उसका यह सिद्धान्त असत्य व भ्रामक बन गया। वेवर ने लिखा है–"लेनिन का मार्क्सवाद के समर्थन में प्रतिपादित किया गया साम्राज्यवादी सिद्धान्त बेईमानी और असत्यता से परिपूर्ण है और यह ईमानदारी और सत्य से शून्य है। यह सिद्धान्त मार्क्सवाद की आपेक्षों से रक्षा करने वाला नहीं, बल्कि अपने गुरु की शिक्षाओं का परित्याग करने वाला है।" लेनिन ने मार्क्स के 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' के सिद्धान्त के ही विपरीत कथन दिए हैं। सच्चाई चाहे कुछ भी हो, एक बात तो निर्विवाद रूप से स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि लेनिन ने मार्क्सवाद को आपेक्षों से बचाने के लिए अपना यह सिद्धान्त प्रस्तुत करके कुछ नई बातों से राजनीतिक चिन्तकों को परिचित अवश्य कराया है। अतः लेनिन का पूंजीवादी साम्राज्यवाद का सिद्धान्त पूर्णतयाः महत्वहीन नहीं है।

क्रान्ति का सिद्धान्त और समरनीति
(Theory and Strategy of Revolution)

लेनिन ने अपने क्रान्ति सम्बन्धी विचार अपनी प्रसिद्ध पुस्तक State and Revolution में दिए हैं, लेनिन ने मार्क्स का सच्चा अनुयायी होते हुए भी समाजवाद के विकासवादी सिद्धान्त का प्रबल वि रोध किया है। उसने मार्क्सवाद के विपरीत कार्य करते हुए भी अपने इस विचार में मार्क्स की आत्मा को बनाए रखा है। उसका क्रान्ति का सिद्धान्त एक व्यावहारिक पक्ष है, लेनिन ने बर्नस्टाइन तथा ब्रिटेन के फेबियन दल की इस बात का खण्डन किया है कि समाजवाद धीरे–धीरे विकासवादी प्रक्रिया द्वारा भी स्थापित हो सकता है। लेनिन ने क्रान्ति शास्त्र का आचार्य होने के नाते क्रान्ति के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कहा है कि क्रान्ति द्वारा ही समाजवाद की स्थापना हो सकती है।

लेनिन अपनी पुस्तक 'State and Revolution' में लिखा है कि "आजकल श्रमिक आन्दोलन के अन्तर्गत मार्क्स के सिद्धान्तों के क्रान्तिकारी पक्ष को भूला दिया गया है। इससे मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी आत्मा को धूमिल कर दिया है। ऐसी परिस्थितियों में मार्क्सवाद की वास्तविक

शिक्षाओं जिनमें उनका क्रान्तिकारी पक्ष भी शामिल है, को पुनः प्रतिष्ठित करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है।'' लेनिन ने कहा है कि कुछ लोगों ने मार्क्स के राज्य के शनैःशनैः समाप्त होने के विचार का गलत अर्थ निकाला है। मार्क्स का ऐसा कहने का तात्पर्य पूंजीवादी राज्य के धीरे–धीरे क्रमिक अन्त में नहीं, बल्कि श्रमिक तानाशाही के समाप्त होने में था। ऐंजिल्स ने कहा था कि पूंजीवादी राज्य को धीरे–धीरे नहीं बल्कि क्रान्ति द्वारा बलपूर्वक नष्ट किया जाना है। इसलिए मार्क्स की शिक्षाओं की सही व्याख्या यही है कि राज्य को क्रान्ति द्वारा समाप्त किया जाए।

यद्यपि मार्क्स ने सभी देशों में क्रान्ति को अनिवार्य नहीं माना था, उसका मानना था कि लोकतन्त्रीय देशों में इसकी आवश्यकता नहीं है। लेकिन लेनिन ने कहा कि एकाधिकारवादी पूंजी, साम्राज्यवाद एवं महायुद्ध ने परिस्थितियों को बदल दिया है। आज ब्रिटेन और अमेरिका जैसे लोकतन्त्रीय देश भी साम्राज्यवादी एवं सैनिकवादी बन गए हैं। अतः इन देशों में श्रमिकों के सामने यही एकमात्र उपाय है कि वे क्रान्ति की ओर अग्रसर हों।

लेनिन के क्रान्ति सिद्धान्त का व्यावहारिक पक्ष (Practical Aspect of Lenin's Theory of Revolution)

लेनिन ने अपने क्रान्ति सिद्धान्त को व्यावहारिकता प्रदान करने के लिए 1905 में 'Two tactics of Soical Democracy in Democratic Revolution' तथा 1917 में 'State and Revolution' पुस्तकें लिखी। लेनिन ने 1905 की मजदूर क्रान्ति का भी नेतत्व किया था। इसके असफल रहने पर उसने 1917 की क्रान्ति का आधार तैयार किया। लेनिन ने जार की तानाशाही से पीड़ित जनता को संगठित करके जार का तख्ता पलट दिया। लेनिन ने शांतिपूर्ण मार्क्सवादियों को चुनौती देकर कहा कि विकासवादी तरीके से समाजवाद की स्थापना करने की बजाय उन्हें भी क्रान्ति का समर्थन करना चाहिए। 1917 की क्रान्ति में अनेक ऐसे मार्क्सवादी भी शामिल हुए जो शांतिपूर्ण तरीके से समाजवाद लाने की बात करते थे। उसने 'दल सिद्धान्त' का प्रतिपादन करके अपने क्रान्ति के सिद्धान्त को व्यापक आधार प्रदान किया। उसने सर्वहारा वर्ग में वर्ग–चेतना पैदा करने, उसे क्रान्ति के लिए तैयार करने तथा क्रान्ति का आह्वान करने के लिए थोड़े से योग्य व कुशल क्रान्तिकारियों का दल तैयार किया। लेनिन का विश्वास था कि आवश्यक संगठन ही रुस की जारशाही का तख्ता पलटकर यहां पर श्रमिक वर्ग की तानाशाही स्थापित कर सकता है। इसलिए उसने 1917 की क्रान्ति द्वारा जारशाही का अन्त करके रुस में श्रमजीवी वर्ग की तानाशाही स्थापित की।

क्रान्ति की अनिवार्यता (Inevitability of Revolution)

लेनिन का मानना था कि रुस की परिस्थितियां अलग तरह की हैं। रुस में औद्योगिक विकास इतना नहीं हुआ है कि श्रमिक वर्ग स्वयं संगठित होकर पूंजीपतियों के खिलाफ आवाज उठा सके। मार्क्सवादी व्यक्ति की मार्क्स के सिद्धान्तों व शिक्षाओं का गलत अर्थ निकालकर श्रमिक क्रान्ति का मार्ग अवरुद्ध कर रहे हैं। समाजवाद की स्थापना धीरे–धीरे नहीं हो सकती। रुस की परिस्थितियों को देखते हुए वहां पर क्रान्ति द्वारा राजसत्ता को हटाना जरूरी है ताकि वहां पर श्रमिक वर्ग की तानाशाही स्थापित की जा सके। इसलिए लेनिन ने रुस में साम्यवादी क्रान्ति को अनिवार्य मानकर स्वयं 1917 की रुसी क्रान्ति का सफल संचालन किया और वहां पर जार का तख्ता पलटकर श्रमिक वर्ग की तानाशाही स्थापित की।

क्रान्ति की समरनीति
(Strategy of Revolution)

लेनिन ने विश्व की अनेक क्रान्तियों का गहन अध्ययन करने के बाद क्रान्ति की समरनीति पर अपने विचार प्रतिपादित किए। 1905 की रुसी क्रान्ति की असफलता का ताज पहनने के बाद लेनिन ने निरर्थक हिंसा का विरोध करना शुरू कर दिया था। लेनिन ने यह बात स्वीकार की कि क्रान्ति एक कला है और इसे सिखाया जा सकता है। जो व्यक्ति क्रान्ति की कला को जानता है, वही सफल क्रान्तिकारी होता है। सफल क्रान्ति की तकनीक निम्नलिखित बातों पर आधारित होती है:–

(क) क्रान्ति को खेल–तमाशा न समझकर, सोच–विचार करके ही शुरू करना चाहिए और इसे उद्देश्य पूर्ति तक जारी रखना चाहिए। क्रान्ति की बीच में ही छोड़ने से क्रान्ति के समस्त ध्येय स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं।

(ख) क्रान्ति करने से पहले अपनी स्थिति तथासमय का सही अनुमान लगा लेना चाहिए। यदि एक निश्चित स्थल व निश्चित समय पर समची शक्ति का प्रयोग न होगा तो विरोधी पक्ष क्रान्ति को कुचल सकता है।

(ग) क्रान्तिकारियों को शत्रु पक्ष पर उस समय एकाएक हमला करना चाहिए जब उसकी सेनाएं इधर–उधर बिखरी हों अर्थात् क्रान्तिकारियों को घात लगाकर ही आक्रमण करना चाहिए ताकि शत्रु पक्ष को सम्भलने का अवसर न मिले।

पेशेवर क्रान्तिकारियों के संगठित दल का महत्व
(Importance of the organised party of professional Revolutionaries)

लेनिन ने 1917 की रुसी क्रान्ति को व्यावहारिक व सफल बनाने के लिए स्वयं एक पेशेवर क्रान्तिकारियों के दल का निर्माण किया था। उसका कहना है कि पेशेवर क्रान्तिकारी ही क्रान्ति को सफल बनाने में अग्रणी भूमिक निभा सकते हैं। इसलिए उसने पेशेवर क्रान्तिकारियों के संगठित दल का विचार प्रस्तुत किया है, लेनिन ने पेशेवर क्रान्तिकारी का अर्थ उस व्यक्ति से लिया है जिसने क्रान्ति करने और इसे सफल बनाने को ही अपना व्यवसाय मान लिया हो। जिस प्रकार पुलिस तथा सेना को प्रशिक्षण दिया जाता है, उसी तरह पेशेवर क्रान्तिकारियों के लिए भी समुचित शिक्षा व प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए। लेनिन का कहना है "मुट्ठी भर प्रशिक्षित क्रान्तिकारी हजारों मजदूरों से अधिक अच्छा काम कर सकते हैं।" लेनिन ने इस बात का खुलासा अपनी पुस्तक 'What is to be done' में किया है। उसने कहा है कि प्रशिक्षित व संगठित क्रान्तिकारियों का दल कठोर अनुशासन में बंधा होना चाहिए और उसकी समस्त गतिविधियां गुप्त होनी चाहिए। इस दल को साम्यवादी सिद्धांतों का गहरा ज्ञान होना चाहिए। लेनिन ने लिखा है–"लड़ाकू हरावल दस्ते की भूमिक वही पार्टी अदा कर सकती है जो सबसे अधिक उन्नत सिद्धान्तों के आधार पर चलती हो।"

लेनिन ने साम्यवादी क्रान्ति को फल बनाने के लिए एक विशेष प्रकार के साम्यवादी दल का निर्माण करने की बात कही और स्वयं साम्यवादी दल को कठोर अनुशासन में बांधकर 1917 की साम्यवादी क्रान्ति को सफल बनाकर पेशेवर क्रान्तिकारियों के संगठित दल के महत्व को सिद्ध किया। लेनिन ने प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान रुस की उपयुक्त परिस्थितियों का लाभ उठाकर पूंजीवाद के विकास के बिना ही साम्यवादी क्रान्ति को सफल बनाया। लेनिकन का विश्वास था कि प्रथम विश्वयुद्ध में रुस की हार अवश्य होगी। इसलिए उसने सुदढ़ साम्यवादी दल की स्थापना करके क्रान्ति का पथ प्रशस्त किया। इस तरह औद्योगिक रूप से पिछड़े देश रुस

में भी लेनिन ने समाजवादी क्रान्ति कामार्ग प्रशस्त करके महान कार्य किया। अतः निःसन्देह कहा जा सकता है कि लेनिन क्रान्ति शास्त्र के आचार्य थे। उनके क्रान्ति के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों में जो समन्वय देखने को मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उसका पेशेवर क्रान्तिकारियों के दल का विचार राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उसका अमूल्य योगदान है।

लेनिन का दल-सिद्धान्त
(Lenin's Theory of Party)

लेनिन का दल–सिद्धान्त उसके साम्यवादी क्रान्ति के सिद्धान्त का आधार है। लेनिन ने साम्यवादी क्रान्ति की सफलता के लिए संगठित दल की आवश्यकता पर जोर दिया है। लेनिन ने मार्क्सवाद को संशोधन करते हुए वर्ग चेतना के स्थान पर दलीय संगठन को ज्यादा महत्वपूर्ण बताया है। उसका विचार था कि कोई भी क्रान्ति को सुदढ़ और सुसंगठित दल के बिना असफल होगी। उसका विश्वास था कि पूंजीवाद श्रमिक वर्ग की क्रान्तिकारी चेतना को बलपूर्वक दबा सकता है, क्योंकि उसके पास शस्त्र बल होता है। इसलिए सर्वहारा क्रान्ति को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि सर्वहारा वर्ग का मार्ग–दर्शन करने, उसे क्रान्ति तथा संघर्ष के लिए तैयार करने और उसे समाजवाद की दिशा में शिक्षित तथा प्रशिक्षित करने के लिए थोड़े से ऐसे व्यक्तियों का संगठन आवश्यक है जो पेशेवर क्रान्तिकारी हो।

लेनिन के दल को विशिष्ट रूप में परिभाषित करते हुए सेबाइन ने कहा है कि दल कुछ विशिष्ट बुद्धिजीवियों और नीतिज्ञ पुरुषों का एक सुसंगठित गुट होता है। यह चुने हुए बुद्धिजीवियों का गुट इस अर्थ में है कि उसका मार्क्सवाद विषयक ज्ञान मार्क्स के सिद्धान्तों की शुद्धता को कायम रखता है तथा इसके द्वारा दल की नीति का पथ–प्रदर्शन होता है। जब दल शक्ति प्राप्त कर लेता है तब राज्य की नीति का पथ–प्रदर्शन करता है। वह चुने हुए नीति–निपुण पुरुषों का संगठन इस अर्थ में है कि चुनाव और कठोर दलीय अनुशासन तथा प्रशिक्षण के कारण ये लोग दल तथा साम्यवादी क्रान्ति के प्रति पूरी तरह निष्ठावान बन जाते हैं।

लेनिन का विश्वास था कि अनुशासन, संगठन, नेतत्व और शक्ति के बिना दल का विकास नहीं हो सकता। पार्टी उन्हीं लोगों को लेकर बनाई जा सकती है जो क्रान्तिकारी लक्ष्य के प्रति सबसे अधिक निष्ठावान होते हैं। जब तक इच्छा की एकता, कार्यवाही की एकता और अनुशासन की एकता द्वार पार्टी का संगठन नहीं होगा तब तक वह मजदूर वर्ग के अग्रणी लड़ाकू दल की भूमिका अदा नहीं कर सकती। इस तरह लेनिन ने अपने दल के सिद्धान्त को लोकतन्त्रीय केन्द्रवाद पर आधारित किया है।

लेनिकन का मत था कि दल का कार्य समाजवादी आन्दोलनों का नेतत्व करना, सर्वहारा वर्ग को समाजवादी सिद्धान्तों से अवगत कराना, क्रान्ति के विचारों का प्रसारण करना, क्रान्ति की तकनीक का प्रशिक्षण देना तथा क्रान्ति काल में सर्वहारा वर्ग का नेतत्व करना है। शक्तिशाली दलीय संगठन एक अजेय शक्ति होता है। इसकी आवश्यकता न केवल क्रान्ति से पूर्व होती है बल्कि यह पूंजीवादी राज्य का विनाश करने एवं श्रमजीवी वर्ग की तानाशाही स्थापित करने के लिए भी आवश्यक है। यदि दल को मजदूर वर्ग के अग्रणी दल की भूमिका निभानी है तो यह अपेक्षित है कि उसे क्रान्तिकारी सिद्धान्त और क्रान्ति के नियमों का भी ज्ञान हो। दल का प्रयोजन सर्वहारा वर्ग और सम्पूर्ण जनता की भलाई करना है, इसलिए इसे कठोर अनुशासन को बंधा हुआ होना चाहिए था। इसका संगठन सर्वोत्तम, निःस्वार्थ, लगनशील, पूर्ण चेतना से युक्त तथा दूरदर्शी व्यक्तियों से किया जाना चाहिए।

लेनिन दल को एक गिर्जा तथा धर्माज्ञा के समान समझता था। वह नहीं चाहता था कि सदस्यों को दल की आलोचना करने का अधिकार प्राप्त हो। उसने कहा है कि दल के सदस्य स्वेच्छा से ही एक–दूसरे के साथी बनते हैं और उनका विशेष लक्ष्य शत्रु को पराजित करना है, इसलिए उन्हें बहस व विवादों से दूर रहना चाहिए। लेनिन ने कहा है कि दल की सफलता के लिए दल में लौह–अनुशासन का होना अनिवार्य है। दल की आलोचना करने का अधिकार किसी को भी नहीं दिया जा सकता। इसलिए स्वयं लेनिन ने भी जीवन भर दल के कठोर अनुशासन में बंधकर ही शुद्ध व शीर्ष स्तर के व्यक्ति ही ले सकते हैं जो मार्क्सवाद में पूर्ण निष्ठा रखते हों और दल के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तैयार रहते हैं। उनके निर्णयों को लागू करना दल के सभी सदस्यों का परम धरम है।

लेनिन ने दल की सदस्यता के बारे में कहा है कि इसकी सदस्यता उन्हीं लोगों को दी जानी चाहिए जो स्वयं को साम्यवादी सिद्ध कर सकें और दल के लिए अपना सब कुछ त्याग करने के लिए तैयार रहें। लेनिन ने ऐसे दल के निर्णय पर जोर दिया जो सैनिक अनुशासन पर आधारित हो और क्रान्ति के समय शत्रु का पूर्ण सफाया कर दे।

दल-सिद्धान्त का महत्व
(Importance of the Theory of Party)

लेनिन का दल–सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण देन है। लेनिन का दल सिद्धान्त उसके साम्यवादी क्रान्ति तथा दलीय अधिनायकवाद के सिद्धान्त का आधार है। रुसी क्रान्ति के प्रमुख नेता ट्राट्स्की तथा स्टालिन दोनों ने लेनिन के इस सिद्धान्त को अपनाया और साम्यवादी दल को संगठित किया। समाजवादी क्रान्ति की सफलता संगठित साम्यवादी दल के प्रयासों का ही परिणाम थी। यदि लेनिन ने अपने साम्यवादी दल को दलीय अनुशासन में न बंधा होता तो 1917 की सर्वहारा क्रान्ति को जार आसानी से कुचल सकता था। आज लेनिन का दल–सिद्धान्त सभी साम्यवादी देशों की शासन–प्रणाली का प्रमुख तत्व है। माओ ने भी चीन के साम्यवादी दल की नीतियों को लेनिन के दलीय अनुशासन से आबद्ध किया। अतः लेनिन का दल सम्बन्धी साम्यवादी विचारधारा को एक अमूल्य योगदान है।

दल-सिद्धान्त की आलोचना
(Criticism of the Theory of Party)

लेनिन का दल–सम्बन्धी सिद्धान्त साम्यवादी दर्शन के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण देन होते हुए भी आलोचना का शिकार हुआ है। इसकी आलोचना करते हुए अनेक आलोचकों ने कहा है कि दल को थोड़े से ही चयनित बुद्धिजीवियों और अनुशासित व्यक्तियों का संगठन बना देना घातक है। इससे केन्द्रीयकरण तथा तानाशाही की प्रवत्ति का जन्म होता है। इसको असीमित शक्ति तथा सत्ता प्राप्त होने पर यह जनता के हितों के विपरीत भी जा सकता है। दूसरी बात यह है कि यह लोकतन्त्र के खिलाफ भी है। कठोर दलीय अनुशासन तथा गिने–चुने व्यक्तियों द्वारा निर्णय लिया जाना लोकतन्त्र के लिए घातक होता है। लेनिन ने लोकतन्त्रीय केन्द्रीयकरण की बात करके लोकतन्त्र के साथ एक भद्दा मजाक किया है। उसका यह सिद्धान्त केन्द्रीयकरण की प्रवत्ति का द्योतक है, क्योंकि समस्त निर्णय ऊपरी स्तर पर लिए जाते हैं और निम्न स्तर पर उनका पालन करना अनिवार्य होता है। दल के किसी भी सदस्य को दल की गलत नीतियों की भी आलोचना करने का अधिकार प्राप्त नहीं है, यह सिद्धान्त सम्पूर्ण शासन व्यवस्था पर साम्यवादी दल का एकाधिकार स्थापित करने का पक्षधर है। इसमें साधारण व्यक्ति को अपनी भावनाएं प्रकट करने का कोई अधिकार नहीं है। लोकतन्त्रीय केन्द्रवाद का सिद्धान्त मात्र एक

औपचारिकता बनकर रह जाता है। उम्मीदवारों का चयन भी दल के अधिकारतन्त्र के हाथों की कठपुतली बनकर रह जाता है। अतः लेनिन का दल–सिद्धान्त लोकतन्त्रीय आस्थाओं पर एक कुठाराघात है।

सर्वहारा-वर्ग की तानाशाही
(Dictatorship of the Proletariat)

लेनिन ने अपने क्रान्ति सम्बन्धी सिद्धान्त में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का कई बार उल्लेख किया है। उसका माननाा है कि क्रान्ति के स्थायी परिणाम तभी प्राप्त हो सकते हैं, जब क्रान्ति के बाद शासन व्यवस्था में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होगी, सर्वहारा वर्ग के अधिनायतन्त्र द्वारा ही समाजवाद की स्थापना हो सकती है। क्रान्ति के बाद जब साम्यवादी दल सत्ता संभाल लेगा, तब वह सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित करेगा, उत्पादन के साधनों को सार्वजनिक स्वामित्व में रखेगा और अपनी सारी शक्ति तथा राज्य के सारे संसाधनों का प्रयोग इस तरह करेगा कि पूंजीवाद के अवशेषों को मिटाया जा सके। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के अन्तर्गत किसी प्रतिस्पर्धी दल का कोई अस्तित्व नहीं होगा। यदि ऐसा न किया गया तो पराजित पूंजीपति वर्ग संगठित होकर दोबारा क्रान्ति करके या सरकार गिराकर सत्तारुढ़ होने का प्रयास कर सकता है। विरोधी दल के अभाव में वर्गभेद मिटेगा और समाज वर्ग–विहीन होगा तथा राज्य भी लुप्त हो जाएगा।

लेनिन ने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की अवधारणा को नया रूप देने का प्रयास किया है। लेनिन ने सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के स्थान पर साम्यवादी दल की तानाशाही की व्यवस्था की है। लेनिन का विश्वास था कि मजदूरों में न तो क्रान्तिकारी भावना होती है और न ही क्रान्ति के आने पर वे उसका नियन्त्रण करने तथा उसे ठीक तरह से संचालित करने की योग्यता रखते हैं। यह कार्य तो पेशेवर क्रान्तिकारियों का सुव्यवस्थित, अनुशासनप्रिय और क्रान्तिशास्त्र का ज्ञाता अल्पसंख्यक दल ही कर सकता है। इसके लिए दल को अपनी अधिनायकता स्थापित करने की आवश्यकता पड़ती है। लेनिन इसे सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता कहता है, किन्तु वास्तव में यह साम्यवादी दल की सर्वहारा वर्ग पर स्थापित की जाने वाली अधिनायकता है। ट्रॉटस्की ने भी इस बात की पुष्टि की है।

लेनिन ने श्रमिक वर्ग की तानाशाही को दो भागों में बांटकर इसका दोनों ही अवस्थाओं में प्रयोग किया है, लेनिन ने सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को–I. श्रमजीवी क्रान्ति के साधन, II. संक्रमणकालीन राज्य के रूप में प्रस्तुत किया है। श्रमजीवी या सर्वहारा क्रान्ति के साधन या यन्त्र के रूप में श्रमजीवी तानाशाही क्रान्ति की प्रगति व सफलता का आधार है। लेनिन ने सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को एक यन्त्र के रूप में स्वीकार करते हुए कहा है कि इसका उद्देश्य सर्वप्रथम शोषणकर्त्ताओं (पूंजीपतियों) को उखाड़ फेंकना तथा श्रमिक क्रान्ति को प्राप्त करना तथा उसे पूर्ण करना है। लेनिन ने कहा है–"श्रमिक वर्ग का अधिनायकवाद वह शक्ति है जो सर्वहारा वर्ग में बुर्जुआजी शक्ति के विरुद्ध अंकुश लगाती है और अपनी जीत सुरक्षित रखती है।" लेनिन ने आगे कहा है–"सर्वहारा वर्ग की तानाशाही सर्वहारा क्रान्ति का एक ऐसा यन्त्र है जिसका उद्देश्य शोषणकर्ताओं के प्रतिरोध का दमन करना और श्रमिक क्रान्ति को सफल बनाना तथा उसे पूर्ण बनाना है।" लेनिन का मानना है कि श्रमिक वर्ग की तानाशाही के बिना पूंजीपति वर्ग को परास्त करना क्रान्ति के स्थाई परिणाम नहीं दे सकता। ऐसी अवस्था में पूंजीपति वर्ग अवसर मिलते ही सर्वहारा शासन का तख्ता पलट सकते हैं। इसलिए क्रान्ति के परिणामों को स्थाई बनाने के लिए सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व आवश्यक होता है।

लेनिन का कहना है कि श्रमजीवी तानाशाही न केवल क्रान्ति का साधन है बल्कि उसका कार्य यह भी है कि वह श्रमिक वर्ग की शक्तिशाली पूंजीपति वर्ग के खिलाफ संगठित भी करती है। लेनिन ने लिखा है–"सर्वहारा तानाशाही पुराने समाज की शक्तियों और परम्पराओं के विरुद्ध एक अविरल संघर्ष है जो रक्तपूर्ण भी है और रक्तहीन भी, हिंसापूर्ण भी है और अहिंसक भी, आर्थिक भी है और सैनिक भी तथा शिक्षात्मक भी है और प्रशासकीय भी।" सर्वहारा वर्ग की तानाशाही एक ऐतिहासिक युग है जिसमें पूंजीवाद का सम्पूर्ण विनाश और साम्यवाद की स्थापना होगी।

लेनिन ने सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को 1917 की क्रान्ति का आधार बनाकर एक साधन के रूप में प्रयुक्त किया था। यदि करेन्सकी सरकार के पतन के बाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित नहीं की जाती तो विदेशी पूंजीपतियों से सहायता पाने वाली रुस की प्रतिगामी शक्तियां पुरानी बुर्जुआ सरकार को पुनः सत्तारुढ़ कर सकती थी। 1917 की सर्वहारा क्रान्ति के लम्बे समय के बाद भी रुस में सर्वहारा वर्ग की ही अधिनायकता रही और पूंजीवादी ताकतें अपना सिर नहीं उठा सकी।

संक्रमणकालीन राज्य या पूंजीपति वर्ग पर शासन करने वाले राज्य के रूप में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के बारे में लेनिन ने कहा है कि श्रमिक वर्ग की तानाशाही एक ऐसे संगठन के रूप में होती है, जिसमें एक वर्ग (श्रमिक वर्ग) दूसरे वर्ग पर (पूंजीपति वर्ग) अपना नियन्त्रण स्थापित करके उसका शोषण करता है। इस प्रकार यह पूंजीवादी व्यवस्था के समान ही है। लेकिन दोनों में अन्तर यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था में अल्पसंख्यक वर्ग (पूंजीपति वर्ग) बहुसंख्यक वर्ग (श्रमिक वर्ग) का शोषण करता था, लेकिन सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के अन्तर्गत बहुसंख्यक वर्ग (श्रमिक वर्ग), अल्पसंख्यक वर्ग (पूंजीपति वर्ग) का शोषण करता है। ऐसे व्यवस्था में राज्य विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग का शोषण करके दलित वर्ग को लाभ पहुंचाता है। इस संक्रमणकालीन राज्य के रूप में श्रमिक तानाशाही अपनी प्रतिरोधी शक्तियों को बलपूर्व कुचलने के लिए विवश होती है। पराजित पूंजीपति की मनोदशा घायल सांप जैसी होती है। वह अवसर मिलते ही अपनी खोई हुई शक्ति व प्रतिष्ठा पाने के लिए लालायित रहता है। इसलिए सर्वहारा वर्ग को इस संक्रमणकालीन अवस्था में अपनी शक्ति का प्रयोग पूंजीपतियों की शक्ति का दमन तथा नवीन समाज की रचना करने के लिए करना पड़ता है, लेनिन ने कहा है कि यह अवस्था एक लम्बी अवस्था है। इसमें श्रमिक वर्ग को अपने विरोधियों का दमन करने के लिए एक लम्बा संघर्ष करना पड़ेगा। उसे अपनी निरंकुश शक्ति का प्रयोग करके सच्चे साम्यवाद की ओर अग्रसर होना होगा। यही व्यवस्था सर्वहारा वर्ग की तानाशाही है। अतः श्रमिक अधिनायकवाद एक ऐसी सत्ता है जो प्रत्यक्ष रूप से शक्ति पर आधारित है और कानून की सीमा से बाहर है। इसे हिंसा द्वारा प्राप्त किया जाता है और पूंजीवाद के विनाश हेतु इसका प्रयोग किया जाता है।

सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता की विशेषताएं (Features of the Dictatorship of the Proletariat)

1. ***शक्ति पर आधारित (Based on Force)***–लेनिन की श्रमिक तानाशाही कोरी पाश्विक शक्ति पर आधारित है और यह प्रत्येक कानून और नियमों से परे है। कौत्सकी ने कहा है–"अधिनायकता वह शक्ति है जो शक्ति पर आधारित है तथा किसी नियम या कानून द्वारा प्रतिबंधित नहीं है।" यह पूंजीपतियों के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग द्वारा हिसा से प्राप्त की जाती है और सुरक्षित रखी जाती है। अतः यह शक्ति का दर्शन है।

2. ***लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता का अभाव (Lack of Demorcracy and Liberty)***–लेनिन का सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का विचार पूंजीपतियों से स्वाधीनता का अधिकार छीन लेता है। पूंजीपति वर्ग को न तो चुनाव लड़ने का अधिकार रहता है और न चुनाव प्रचार का। सर्वहारा तानाशाही की समाप्ति ही इन्हें स्वतन्त्रता तथा अन्य अधिकार दिला सकती है।

3. ***नवीन व्यवस्था की स्थापना (Establishment of a New Order)***–श्रमिक वर्ग की तानाशाही का उद्देश्य शासन परिवर्तन करना ही नहीं है, बल्कि पुराने पूंजीवादी राज्य के सम्पूर्ण भ्रष्ट तन्त्र को समाप्त करके नई व्यवस्था का निर्माण करना है। इस व्यवस्था में समूचे शासन यन्त्र में परितर्वन किया जाता है। नौकरशाही, पुलिस, सेना और कानून सब कुछ बदल जाते हैं।

4. ***साम्यवादी दल का शासन (Rule of Communist Party)***–लेनिन का श्रमिक तानाशाही साम्यवादी दल की तानाशाही है। कहने को तो यह श्रमिक वर्ग का शासन होता है, लेकिन व्यवहार में सारी शक्ति साम्यवादी दल में केन्द्रित होती है और यह दल लोकतांत्रिक केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त के आधार पर कार्य करता है।

5. ***यह एक नवीन प्रकार का वर्ग संघर्ष है (It is a class-struggle in new form)***–इस व्यवस्था में संसदीय प्रणाली के लिए कोई जगह नहीं है। लेनिन ने सोवियत नामक नए संगठन के हाथों में लोकतन्त्र की शक्ति प्रदान की है। उसने कहा है कि श्रमिक लोग सोवियत नामक संगठन द्वारा लोकतन्त्र का उपभोग करेंगे लेकिन इस व्यवस्था में श्रमिकों को ही अधिकार प्राप्त होते हैं और पूंजीपति वर्ग का श्रमिक वर्ग द्वारा शोषण किया जाता है। इस तरह यह नवीन प्रकार का वर्ग संघर्ष है।

सर्वहारा तानाशाही का व्यावहारिक रूप
(Practical form of the Dictatorship of Proletariat)

लेनिन ने सिद्धान्त में तो इसे श्रमजीवी लोकतन्त्र का नाम दिया हे, लेकिन व्यवहार में यह तानाशाही मजदूर वर्ग ही नहीं, बल्कि मजदूर वर्ग पर है। व्यवहार में मजदूर वर्ग साम्यवादी दल के अधीन है और सारी शक्ति साम्यवादी दल में ही केन्द्रित है। मजदूर वर्ग की तानाशाही का व्यावहारिक अर्थ है–विचार स्वतन्त्रता का अपहरण, मतभेद रखने वालों का दमन और सामाजिक जीवन पर पूर्ण नियन्त्रण। सर्वहारा तानाशाही गिने–चुने प्रभावशाली साम्यवादियों का निरंकुश तन्त्र मात्र है। इस प्रकार का अधिनायकतत्व नेताओं का अधिनायकतत्व है। दल के साधारण सदस्यों को न तो कोई अधिकार प्राप्त है और न कोई स्वतन्त्रता। इसमें तानाशाही शक्ति को मर्यादित करने वाले सभी तत्वों का अभाव है। लोकतन्त्र शब्द का प्रयोग एक दिखावा है। दल के सदस्यों को बोलने का भी अधिकार प्राप्त नहीं है। 1917 की सर्वहारा क्रान्ति के बाद रुस में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के स्थान पर साम्यवादी दल तथा उस पर नियन्त्रण रखने वाले गिने–चुने व्यक्तियों का ही शासन रहा है। लेनिन के बाद स्टालिन ने कठोर दलीय सिद्धान्तों के अनुसार अपनी तानाशाही स्थापित करके रुस में शासन किया। लम्बे समय तक स्टालिन ने अपनी मत्यु तक रुस के सर्वेसर्वा तथा निरंकुश शासक के रूप में शासन किया। लेकिन सर्वहारा वर्ग की तानाशाही रुस में लम्बे समय तक नहीं चल सकी। पहले तो यह साम्यवादी दल की तानाशाही के नाम पर व्यक्ति विशेष की तानाशाही बनी और बाद में उदारवाद की एक ऐसी आंधी आई कि सोवितय संघ में साम्यवादी शासन की जड़ें हिल गईं। आज रुस में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का नामोनिशान भी नहीं है।

संसदीय प्रजातन्त्र की आलोचना
(Criticism of Parliamentary Democracy)

लेनिन ने संसदीय प्रजातन्त्र की आलोचना करते हुए कहा है कि संसद बुर्जुआ वर्ग के हितों में वद्धि करने वाली सस्थाएं हैं। संसद जनता को मूर्ख बनाती है। लेनिन ने अपनी पुस्तक 'Left Wing Communism' में संसदीय व्यवस्था को निकृष्ट बताया है। उसने श्रमिक वर्ग की तानाशाही को ही वास्तविक लोकतन्त्र कहा है। उसका कहना है कि साम्यवाद का लक्ष्य संसदीय व्यवस्था को समाप्त करना है, क्योंकि यह पूंजीपति वर्ग की प्रतिनिधि होती है। अपनी धन शक्ति के बल पर पूंजीपति चुनाव में स्वयं खड़े होकर या अपने प्रतिनिधि खड़े करके संसदीय शासन की बागडोर अपने हाथों में ले लेते हैं। संसदीय व्यवस्था श्रमिकों के हित में नहीं होती है। इसका साम्यवाद से केवल इतना सम्बन्ध हो सकता है कि साम्यवाद इसे खत्म करना चाहता है। संसदीय व्यवस्था श्रमिक वर्ग के शुभचिन्तकों के लिए कए घणित वस्तु है और इससे अधिक घातक और क्रान्ति विरोधी कोई अन्य वस्तु नहीं हो सकती, इसएि इसे अन्दर और बाहर दोनों ही स्थानों से नष्ट करना चाहिए।

लेनिन का विश्वास था कि संसद में सम्पूर्ण विधि निर्माण कार्य तथा व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्य केवल मात्र पूंजीपति वर्ग के हित के लिए ही किए जाते हैं और जनसाधारण को मूर्ख बनाया जाता है। लेनिन ने लिखा है–"राज्य व्यवस्था चाहे वैधानिक राजतन्त्रों की हो या गणतन्त्रों की, सब जगह संसदों का रूप तथा कार्य प्रणाली पूंजीपतियों के हित साधन तथा जनसाधारण एवं सर्वहारा वर्ग के शोषण की ओर निर्देशित रहती है।" इसलिए जब क्रान्ति द्वारा सर्वहारा वर्ग की सत्ता स्थापित होगी तो वही वर्ग संसदीय प्रणाली का अन्त करके राष्ट्र का निर्माण करेगा।

लेनिन ने संसदीय प्रजातन्त्र के साथ उसकी दलीय व्यवस्था की भी आलोचना की है। लेनिन का कहना है कि संसदीय प्रजातन्त्र के व्याप्त बहुमत दल का बहुमत न होकर पूंजीपतियों द्वारा रचा गया षड्यन्त्र होता है। ये दल बुर्जुआ समाज के ही प्रतिनधि होते हैं। पूंजीपति वर्ग चुनावों के दौरान उन्हें विशेष सहायता देकर सत्ता के पास पहुंचा देता है। ये अल्पमत के प्रतिनिधि होते हुए भी बहुमत पर शासन करते हैं। इसलिए साम्यवादी क्रान्ति द्वारा संसदीय प्रजातन्त्र के साथ–साथ इस बुराई को भी समाप्त किया जाएगा। समाज को विभिन्न वर्गों में बांटने वाले इन संगठनों के स्थान पर साम्यवादी दल का ही अस्तित्व रहेगा और वही दल श्रमिकों के कल्याण के लिए कार्य करेगा, सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित करेगा तथा पूंजीपतियों का दमन करेगा।

मार्क्सवाद में संशोधन
(Modifications in Marxism)

लेनिन ने मार्क्सवाद को समसामयिक व प्रासांगिक बनाने के लिए कई प्रयास किए। उसने मार्क्सवाद को रुसी परिस्थितियों के अनुसार परिमार्जित किया, स्टालिन ने स्वीकार किया है कि लेनिन का दर्शन मार्क्सवाद का रुसी संस्करण है। लेकिन मार्क्स का सच्चा अनुयायी होने के नाते लेनिन के सामने मार्क्सवाद को आपेक्षों से बचाने के लिए कोई अन्य विकल्प नहीं था, लेनिन ने मार्क्सवाद को व्यावहारिक बनाने के लिए उसे संशोधनवाद रूपी पोशाक से सुसज्जित किया है। उसके द्वारा मार्क्सवाद में किए गए संशोधन या परिवर्तन निम्नलिखित हैं–

1. ***क्रान्ति के सिद्धान्त में संशोधन***–लेनिन ने मार्क्स के क्रान्ति के सिद्धान्त में भी कुछ

परिवर्तन किए हैं। मार्क्स का मानना था कि पूंजीवादी व्यवस्था के विकसित होने की दशा में ही क्रान्ति हो सकती है। लेकिन लेनिन ने कहा कि रूस जैसे पिछड़े देश में भी क्रान्ति हो सकती है। लेनिन के 1917 की क्रान्ति को सफल बनाकर रुस जैसे औद्योगिक रूप से पिछड़े देश में भी क्रान्ति के सिद्धान्त को लागू किया। इस तरह लेनिन मार्क्सवाद से दूर हट गया। उसने मार्क्स की भविष्यवाणी के विरूद्ध कार्य किया। इसी तरह लेनिन ने क्रान्ति के साधनों में भी परिवर्तन किए। मार्क्स के अनुसार श्रमिक वर्ग पूंजीवाद के खिलाफ क्रान्ति के शस्त्र के रूप में कार्य करेगा। लेकिन लेनिन ने इस बात का खण्डन करते हुए सफल क्रान्ति के लिए अनुशासित व प्रशिक्षित साम्यवादी को महत्व दिया। उसने कहा कि साधारण श्रमिकों को पूंजीपति प्रलोभन देकर खरीद सकता है और समाजवाद का रास्ता रोक सकता है। पूंजीपतियों के पास राज्य का सशस्त्र बल होता है, वे क्रान्ति को दबा सकते हैं। इसलिए क्रान्ति को सफल बनाने के लिए पेशेवर क्रान्तिकारियों का होना आवश्यक है।

2. ***सर्वहारा वर्ग की तानाशाही***—लेनिन ने मार्क्स के सर्वहारा के अधिनायकवाद के स्थान पर साम्यवादी दल की अधिनायकता स्थापित की है। मार्क्स का विचार था कि श्रमिक क्रान्ति के बाद शासन व सत्ता पर सर्वहारा वर्ग की ही तानाशाही स्थापित रहनी चाहिए। लेनिन ने कहा कि श्रमिकों में क्रान्तिकारी भावना का अभाव होता है। उनको संगठित करने में साम्यवादी दल जो पेशेवर क्रान्तिकारियों का समूह होता है, वही उचित मार्गदर्शन देकर उन्हें सही ढंग से नियन्त्रित कर सकता है। 1917 की क्रान्ति के बाद लेनिन ने सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के स्थान पर साम्यवादी दल की तानाशाही ही स्थापित की।

3. ***आर्थिक नियतिवाद का विरोध***—मार्क्स ने विश्व की प्रत्येक घटना के पीछे द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का हाथ मानता थां उसने आर्थिक नियतिवाद पर जोर देकर कहा था कि पूंजीवाद के आन्तरिक विरोधों से इसका पतन होना अवश्यम्भावी है, चाहे हम प्रयास करें या न करें। लेनिन ने इस बात का खण्डन करते हुए मानवीय प्रयासों को महत्व दिया। उसने कहा कि मानव प्रयत्नों ने हम इतिहास की धारा को मोड़ सकते हैं और वांछित परिणाम प्राप्त कर सकते हैं। लेनिन ने कहा कि पूंजीवाद का नाश स्वयं होने वाला नहीं है। इसके लिए सशस्त्र व संगठित क्रान्ति द्वारा प्रयास करना जरूरी है। लेनिन ने इस बात की प्रतीज्ञा नहीं की कि रुस में पूंजीवाद अपने अन्तर्विरोधों के कारण समाप्त हो जाएगा। उसने सर्वहारा क्रान्ति द्वारा पूंजीवाद का अन्त करके मार्क्स के आर्थिक नियतिवाद को करारा झटका दिया।

4. ***कृषक वर्ग को महत्व***—मार्क्स ने क्रान्ति के बाद समस्त भूमि पर सर्वहारा राज्य के नियन्त्रण पर जोर दिया था। लेकिन लेनिन ने कहा कि क्रान्ति के बाद भूमि का अधिकार थोड़े समय के लिए किसानों के पास ही छोड़ा जाना चाहिए। लेनिन ने 1917 की सर्वहारा क्रान्ति के बाद देश की आर्थिक व्यवस्था में कृषि को महत्व दिया। मार्क्स ने कृषक वर्ग की पूर्णतयाः उपेक्षा की थी।

5. ***पूंजीवाद में संशोधन***—मार्क्स ने पूंजीवाद के बारे में ही अपने विचार दिए थे। उसने यह कभी नहीं सोचा था कि पूंजीवाद की समाप्ति से पहले इसका नया रूप भी प्रकट होगा। लेनिन ने पूंजीवाद के बारे में मार्क्स द्वारा की गई भविष्यवाणियों को असत्य होने से बचाने के लिए अपना पूंजीवादी साम्राज्यवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

लेनिन ने कहा कि पूंजीवाद की अन्तिम व सर्वोच्च अवस्था साम्राज्यवाद ही है। मार्क्स ने साम्राज्यवाद के बारे में कभी विचार नहीं किया।

6. ***द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की पुर्नव्याख्या***–मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सामाजिक दर्शन तक ही सीमित था। लेनिन ने उसे नया रूप देने का कार्य किया। लेनिन ने अपनी पुस्तक 'Materialism and Impiric Criticism' में मार्क्स के भौतिकवाद का वैज्ञानिक विश्लेषण किया। लेनिन ने कहा कि द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रयोग प्राकृतिक विज्ञानो में भी किया जा सकता है। इस तरह लेनिन ने द्वन्द्वात्मक पद्धति को सार्वभौमिक बना दिया। सेबाइन ने कहा है–"लेनिन ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को एक ऐसा उच्च ज्ञान बना दिया जिसमें समस्त विज्ञानों के गहनतम प्रश्नों को समझने की योग्यता थी।"

इस तरह लेनिन ने मार्क्सवाद में कई संशोधन किए। उसने मार्क्सवाद को समसामयिक बनाने तथा रुस की परिस्थितियों में ढालने का महत्वपूर्ण कार्य किया। लेकिन ऐसा करने के प्रयास में वह मार्क्सवाद से दूर होता गया, सेबाइन ने लिखा है–"जिस प्रकार मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद को उल्टा करके पैरों के बल खड़ा किया था, उसी प्रकार लेनिन ने भी मार्क्स के सिद्धान्तों का शीर्षासन कर दिया है।" लेकिन लेनिन ने मार्क्सवाद में चाहे कितने भी संशोधन किए हों, वे तत्कालीन रुसी परिस्थितयों की मांग थे और उसने मार्क्सवाद को आपेक्षों से बचाना था। अतः मार्क्सवाद में संशोधन करना उसके लिए अपरिहार्य बन गया था। उसने मार्क्सवाद को एक जीवित और विकासशील दर्शन बनाकर महत्वपूर्ण कार्य किया है। वेपर ने कहा है–"लेनिन मार्क्सवाद का चाहे न्यायोचित व्याख्याकार न हो, तथापि रुस को उसने जो देन दी है, वह अमूल्य है।" अतः लेनिन द्वारा मार्क्सवाद में किए गए परिवर्तन न्यायोचित है।

लेनिन का मूल्यांकन
(An Evaluation of Lenin)

लेनिन कोई मौलिक विचारक न होने के बावजूद भी साम्यवादी जगत में वही स्थान रखता है जो मार्क्स को प्राप्त है। लेनिन ने मार्क्सवाद को व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। लेनिन ने मार्क्सवाद को रुसी परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए उसमें कई परिवर्तन भी किए, लेकिन उसने मार्क्सवाद की आत्मा को नष्ट नहीं होने दिया। लेनिन ने मार्क्स के क्रान्ति के सिद्धान्त को व्यापक व नया रूप दिया। उसने पेशेवर क्रान्तिकारियों का विचार देकर क्रान्ति के सिद्धान्त को और अधिक प्रासांगिक व मूल्यवान बनाया। उसने एक क्रमबद्ध तथा तार्किक चिन्तक होने के नाते पूंजीवाद का साम्राज्यवादी सिद्धान्त प्रस्तुत यिका। 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति को सफल बनाने में लेनिन का बहुत बड़ा हाथ रहा। उसने क्रान्ति के बाद कृषक वर्ग को महत्व देकर एक महत्वपूर्ण कार्य किया।

लेकिन लेनिन ने सर्वहारा वर्ग और पूंजीपति वर्ग में निरन्तर संघर्ष रहने की जो बात कही, वह आज सत्य नहीं है। आज अनेक देशों में इन दोनों वर्गों में शांतिपूर्ण सम्बन्ध हैं। अनेक देशों में पूंजीपति वर्ग श्रमिकों के कल्याण का पूरा ध्यान रख रहे हैं। आज साम्यवादी देश स्वयं भी आपसी फूट का शिकार है। रुस और चीन साम्यवाद पर अलग–अलग विचार रखते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कई देशों में साम्यवादी सरकारें बनने के बाद शीघ्र ही उनका पतन हुआ है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद साम्राज्यवाद को समाप्त करने में सर्वहारा वर्ग की बजाय राष्ट्रवादी चेतना ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस दष्टि से लेनिन की भविष्यवाणियां और सिद्धान्त निरर्थक साबित हुए हैं। 1990 में स्वयं रुस का साम्यवादी दल भी अपना प्रभुत्व

स्थापित रखने में असफल रहा और सोवियत संघ का विभाजन हो गया। लेनिन की राज्यविहीन या पूर्ण साम्यवाद की धारणा कल्पना लोक की वस्तु साबित हुई है। आज तक किसी भी देश में पूर्ण साम्यवाद नहीं आया है। लेनिन मार्क्सवाद में संशोधन करने के चक्कर में स्वयं मार्क्सवाद से इतना दूर चला गया कि उसने मार्क्सवाद का ही रूप विकृत कर दिया।

इतना होने के बावजूद भी यह बात तो निर्विवाद रूप से स्वीकार करनी पड़ेगी कि लेनिन ने शोषित जनता को जार की तानाशाही से मुक्ति दिलाकर एक महत्वपूर्ण कार्य किया। उसने साम्यवादी क्रान्ति को व्यावहारिक जामा पहनाया। उसने पेशेवर क्रान्तिकारियों का विचार देकर मार्क्स की आत्मा को चार–चांद लगाए। उसने मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को आपेक्षों से बचाया और उन्हें रुसी परिस्थितियों में प्रासांगिक बनाया। अतः आधुनिक साम्यवाद उनका बहुत ऋणी है। उसने मार्क्सवाद को जो योगदान दिया है, वह काफी महत्वपूर्ण है और लेनिन साम्यवादी चिन्तकों के बीच में एक महान हस्ती है। उनका राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में वही स्थान है जो मार्क्स का है।

इकाई-II

अध्याय-3: मानवेन्द्र नाथ राय (M.N. Roy)

परिचय (Introduction)

नवमानवतावाद के प्रतिष्ठाता व समन्वयकारी दष्टिकोण के पक्षधर एम०एन० राय भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण हस्ती हैं, उनका सम्पूर्ण जीवन अनेक उतार चढ़ावों से परिपूर्ण रहा है। उन्होंने एक क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी विचारक के रूप में शुरू करके उदारवादी लेखक के रूप में अपना चिन्तन पूरा किया। अपने राजनीतिक चिन्तन के अन्तिम पड़ाव में वे मार्क्सवाद के कट्टर विरोधी तथा मानवीय स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक बन गए। भारतीय राजनीतिक चिन्तन मेंउनका नव मानवतावाद का सिद्धान्त उनकी सबसे बड़ी देन है और सम्पूर्ण समाजवादी चिन्तन के इतिहास में वे एक नैतिक संशोधनवादी के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने मानवीय स्वतन्त्रता को मार्क्सवाद की कट्टरता से मुक्ति दिलाने का जो महत्वपूर्ण कार्य किया है वही उसका भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उत्कृष्ट कार्य है और इसी कारण वे भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उदारवादी विचारक के रूप में प्रसिद्ध हैं।

जीवन परिचय (Life Sketch)

एम०एन० राय का जन्म 6 फरवरी, 1886 को पश्चिमी बंगाल (भारत) के परगना जिले के अरबेलिया गांव में हुआ। उनका बचपन का नाम नरेन्द्र नाथ भट्टाचार्य था। उनके पिता पंडित दीन बन्धु भट्टाचार्य एक स्कूल अध्यापक थे। उनकी शिक्षा–दीक्षा भिंगरीपोटा में हुई। वे प्रारम्भ से ही क्रान्तिकारी विचारों के थे और समकालीन क्रान्तिकारियों से प्रेरित थे। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा के दौरान ही वे 'श्रीमद्भगवद्गीता', बंकिम चन्द्र चटर्जी की 'आनन्दमठ', अरविन्द घोष की 'भवानी मन्दिर' पुस्तकों का अध्ययन कर चुके थे। उन्होंने वीर सावरकर के बलिदान और संघर्षमय जीवन से प्रेरित होकर यतीन्द्र मुखर्जी का बायां हाथ बनने का प्रयास किया। यतीन्द्र मुखर्जी सशस्त्र क्रान्ति द्वारा भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए कृत संकल्प थे। 1907 में वे प्रथम बार कलकत्ता में राजनैतिक डकैती के अपराध में पकड़े गए और उन्हें जेल की हवा खानी पड़ी। यहीं से उनका संघर्षमय जीवन शुरू हुआ और यतीन्द्र के साथ देने के आरोप में वे 1910-1915 तक जेल में ही रहे। उनके जीवन पर स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, परमहंस और स्वामी दयानन्द सरस्वती का भी बहुत प्रभाव पड़ा। इन्हीं की प्रेरणा से वे क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी बने।

राय जी का व्यक्तित्व एक लौह पुरुष का व्यक्तित्व था। उन्होंने 1915 में जेल से छूटने के

बाद एक भावी क्रान्तिकारी कार्यक्रम की योजना बनाई और एक संयुक्त क्रान्तिकारी संगठन की स्थापना की। उन्होंने बाद में एक संगठन का नाम 'युगान्तर पार्टी' रखा। अपने क्रान्तिकारी लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वे सर्वप्रथम 1915 में चार्ल्स ए० मार्टिन के नाम से जावा पहुंचे। यहां पर अपने उद्देश्य में असफल रहने के बाद वे फादर मार्टिन के नाम से पेरिस रवाना हुए। इसी दौरान भारत में उसके परम मित्र क्रान्तिकारी जतिन मुखर्जी की पुलिस मुठभेड़ में मौत हो गई और अन्य क्रान्तिकारियों को जेल में डाल दिया गया। इससे उसने भारत आने का विचार त्याग दिया और वे सीधे 1916 में सेन फ्रांसिस्को पहुंचे। यहां पर वे अपने जीवन को नया मोड़ देना चाहते थे। इसलिए यहां पर अपनी सम्भावित गिरफ्तारी से बचने के लिए उन्होंने अपने मित्र के सुझाव पर अपना स्थायी नाम मानवेन्द्र नाथ राय रख लिया। अमेरिका में रहकर वे समाजवादी शक्तियों को संगठित करने लगे। इससे मैक्सिको के समाजवादी आन्दोलन में नया बदलाव आया। यहां पर उन्होंने समाजवादी दल को नेशनल काफ्रेंस के चेयरमैन का पदभार संभाला। अमेरिका में उनकी भेंट अमेरिकी लड़की मिस ऐपलिन हैन्ट से 1916 में हुई और उससे विवाह कर लिया। 1926 में दोनों में विवाह–विच्छेद होने पर उन्होंने दोबारा मिस ऐलेन गोड्सचाक से विवाह कर लिया और इससे उनका सम्पर्क लगभग 20 वर्ष तक रहा।

राय प्रारम्भ से ही एक मार्क्सवादी थे, लेकिन धीरे–धीरे उनके जीवन में बदलाव आता गया और वे आगे जाकर एक कट्टर मार्क्सवादी बन गए। 1919 में वे रुस गए और वहां पर 'कोमिन्टर्न' के सम्पर्क में आए। इससे उन्हें भारत में जाकर साम्यवादी दल की स्थापना का विचार किया। 1922 में वे साम्यवादी दल के प्रचार प्रसार हेतु 'एशियाई बोर्ड' के सदस्य के रूप में जर्मनी भी गए और यहां पर उनहोंने 'Vanguard of Indian Independence' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया। 1927 में वे चीनी साम्यवादी दल को परामर्श देने हेतु चीन गए। यहां पर उन्होंने साम्यवादियों को सलाह दी कि वे अपनी सामाजिकता की पष्ठभूमि तैयार करने के लिए कृषक क्रान्ति की योजना शुरू करें। इससे चीन के साम्यवादियों को नई दिशा प्राप्त हुई और चीन में राष्ट्रीय आन्दोलन में वहां के साम्यवादी दल ने माओ के नेतत्व में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

लेकिन राय एक महान राष्ट्रवादी विचारक बने। इसलिए उनकी मार्क्सवाद के प्रति आस्था में कमी आने लगी। मार्क्सवाद की कठोरता से दु:खी होकर राय ने महसूस किया कि मार्क्सवाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कुचलता है। आगे चलकर उसके लेनिन से भी मतभेद हो गए और वह अन्त में 14 वर्ष के लम्बे विदेशी प्रवास के बाद 1930 में डॉ० महमूद के नाम से बम्बई में पहुंच गया। इस दौरान उनकी दूसरी पत्नी मिस ऐलेन गोड्सचाक भी उनके साथ भारत आ गई। ऐलेन ने जीवनपर्यन्त राय का साथ निभाया। वह समस्त राजनीतिक गतिविधियों में राय का पूरा साथ देने लगी। 1931 में पण्डित जवाहरलाल नेहरू के निमन्त्रण पर वे कराची अधिवेशन में गुप्त रूप से शामिल हुए तो पुलिस द्वारा पहचान लिए गए और उन्हें 6 वर्ष की कैद हो गई। जेल से रिहा होने के बाद वे कांग्रेस में शामिल हो गए। लेकिन गांधी जी के विचारों से उनके मन में विद्रोह की भावना भड़क उठी और उन्होंने सरेआम गांधी जी की निन्दा करनी शुरू कर दी, उसने महात्मा गांधी को राजनीतिक गतिविधियों को ढोंग कहना शुरू कर दिया। उन्होंने गांधी जी के धर्म के विचार की भी आलोचना की और कहा कि गांधी जी की नीति कभी भारत को स्वतन्त्र नहीं करा सकती। इसी दौरान उन्होंने बम्बई से 'Independent India' नामक समाचार पत्र का प्रकाशन शुरू कर दिया और इसके माध्यम से भारत की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष शुरू कर दिया। 1939 में गांधी जी की नीतियों से दु:खी होकर उन्होंने भारतीय कांग्रेस के भीतर ही एक 'League of Radical Congressmen' की स्थापना की। 1940

में राय ने अपने समर्थकों सहित कांग्रेस छोड़ दी और एक नए दल 'Radical Democratic Party' की स्थापना की। इसी दौरान द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने पर राय ने कांग्रेस की युद्ध में न शामिल होने सम्बन्धी घोषणा के परिणामस्वरूप घोषणा की कि भारतीयों को इस युद्ध में अंग्रेजों का साथ देना चाहिए ताकि विश्व में लोकतन्त्र विरोधी ताकतों को आगे बढ़ने से रोका जा सके। इसी कारण राय को भारत विरोधी कहा जाने लगा और राय जी उलझन में फंस गए।

1944 में राय ने 'भारतीय मजदूर संघ' की स्थापना की ताकि देश के मजदूरों को संगठित किया जा सके। 1946 में उनकी विचारधारा में महान व आधारभूत अन्तर आय और उन्होंने अपने दल 'Radical Democratic Party' (RDP) को भंग कर दिया। अब वे अपने नवीन दर्शन को अमली जामा पहनाने में जुट गए जो आगे चलकर नव–मानवतावाद (Radical Humanism) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अब उन्होंनें पूंजीवादी और समाजवादी दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं की आलोचना करनी शुरू कर दी। राय जी ने ऐसे समाजवाद की स्थापना में प्रयास शुरू कर दिए जो व्यक्ति की समानता व स्वतन्त्रता की रक्षा कर सके। उन्होंने दल विहीन प्रजातन्त्र की स्थापना के बारे में सोचना शुरू कर दिया और शेष जीवन 'भारतीय नव–जागरण संस्था' की सेवा में अर्पित कर दिया। अपनी लम्बी जीवन यात्रा समाप्त करके वे 25 जनवरी, 1954 को इस संसार से विदा हो गए। यद्यपि वे किसी सुस्पष्ट विचारधारा का प्रतिपादन नहीं कर सके, फिर भी उनका भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में नाम अमर हो गया। अपने नव–मानवतावाद सम्बन्धी विचारों के कारण राय आज भी उदारवादी लेखकों के दिलों में जिन्दा है।

महत्वपूर्ण रचनाएं
(Important Works)

राय ने 1922 में लिखना शुरू किया। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज में जागति लाने का बेड़ा उठाया। उनकी प्रमुख रचनाएं निम्नलिखित हैं–

1. ***इण्डिया इन ट्रान्जिशन (India in Transition)***–यह राय की प्रथम रचना है। इसमें राय ने समकालीन भारत की संक्रमणशील समस्याओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने इस पुस्तक में उदारवाद और उग्रवाद दोनों को ही भारतीय समस्याओं का समाधान करने के लिए अयोग्य पाया है। उनका विश्वास था कि देश की प्रगति प्रगतिशील शक्तियों के द्वारा ही हो सकती है। उन्होंने भारतीय श्रमिकों और किसानों के दुःखों का कारण पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के दोषों को बताया। उन्होंने कहा कि जब तक श्रमिक वर्ग व किसान वर्ग सुखी नहीं होगा, भारत विकास नहीं कर सकता। इसलिए सबसे प्रथम कार्य श्रमिकों व किसानों की दशा सुधारने का होना चाहिए। उन्होंने इस पुस्तक में तीन विषयों–भारतीय पूंजीपति वर्ग का उदय, कृषक जनता का दरिद्रीकरण तथा नगरीय सर्वहारा की दरिद्रता पर विचार करते हुए कहा कि वहत उद्योग ही भारत का भविष्य निर्धारित करेंगे। उन्होंने बताया कि भारत में स्वतन्त्रता संग्राम और वर्ग–संघर्ष साथ–साथ चलने के कारण भारत का सामाजिक विकास भी नहीं हुआ है। उन्होंने महात्मा गांधी द्वारा चलागए गए आन्दोलनों को भी इस पुस्तक में आलोचना करते हुए महात्मा गांधी को एक ढोंगी व्यक्ति की संज्ञा दी है। उन्होंने इस पुस्तक में निष्कर्ष तौर पर कहा है कि भारत की स्वतन्त्रता का कार्य अनिवार्यतः किसानों और मजदूरों को ही संगठित होकर करना पड़ेगा।

2. ***इण्डियाज प्रॉबलम्स एण्ड देयर सॉलूशन (India's Problems and their Solution)***– इस पुस्तक का प्रकाशन भी 1922 के अन्त में हुआ। इस पुस्तक में उन्होंने पूर्णतः मार्क्सवादी विचारक के रूप में गांधीवादी समाजवाद की आलोचना की है। उन्होंने गांधीवादी विचारधारा के विपरीत एक ऐसे क्रान्तिकारी दल का गठन करने की आवश्यकता पर जोर दिया है। जो विद्यमान राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था के विरूद्ध संघर्ष कर सके। उन्होंने इस पुस्तक में जनता को सामूहिक हड़ताल तथा प्रदर्शन करने का भी आह्वान किया है। उन्होंने सविनय अवज्ञा के स्थान पर 'जुझारू सामूहिक कार्यवाही' करने की आवश्यकता पर बल दिया है।

3. ***वन इयर ऑफ नॉन-को-ऑप्रेशन (One year of Non-co-operation)***–राय ने इस पुस्तक का प्रकाशन 1923 के किया। इस पुस्तक में उन्होंने गांधी जी को एक ऋषि समझकर उनकी सन्त थॉमस एकवीनास व सार्वारनोला से तुलना की। इस पुस्तक में उन्होंने गांधी जी के चार रचनात्मक कार्यक्रमों की सराहना की। ये कार्यक्रम थे–1. राजनीतिक लक्ष्यों के सामूहिक कार्यवाही का प्रयोग, 2. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का एकीकरण, 3. अहिंसा का प्रयोग, 4. असहयोग का करों को न चुकाने के लिए प्रयोग। इसके साथ ही साथ राय ने गांधी के दर्शन की कुछ कमियों को भी इस पुस्तक में उजागर किया। उन्होंने कहा कि गांधी जी का कार्यक्रम आर्थिक कार्यक्रम से दूर रहा, उन्होंने राजनीति में धर्म का प्रयोग किया, चरखे का प्रयोग गलत है तथा गांधीवाद दुर्बल और निस्तेज सुधारों का समर्थक है।

4. ***दि फ्यूचर ऑफ इण्डियन पॉलिटिक्स (The Future of Indian Politics)***–1926 में राय ने अपनी इस पुस्तक की रचना की जिसमें उन्होंने पीपुल्स पार्टी (लोक दल) का महत्व प्रतिपादित किया। राय ने इस पुस्तक की रचना ऐसे समय में की जब स्वराज्य दल अपनी आन्तरिक फूट का शिकार था और गांधी जी राजनीति से लगभग सन्यास लेने ही वाले थे। राय ने इस पुस्तक में विश्वास व्यक्त किया कि भारतीय राजनीति पर भविष्य में विद्यार्थी, निम्न बुद्धिजीवी, दस्तकार, छोटा व्यापारी, किसान आदि वर्गों के स्वार्थों का प्रभुत्व रहेगा। इसलिए उन्होंने जन समुदाय को राष्ट्रवाद का आधार बनाने पर जोर दिया। उन्होंने एक भारतीय मजदूर दल की स्थापना की आवश्यकता पर भी इस पुस्तक में लिखा, इस पुस्तक में उन्होंने एक ऐसे दल की स्थापना पर बल दिया जिसमें निम्न मध्य वर्ग, किसान तथा सर्वहारा सम्मिलित हों।

इनके अतिरिक्त राय ने अनेक पत्र–पत्रिकाओं में भी अपने विचार प्रकाशित करवाए और अनेक रचनाएं लिखीं। 1937 में उन्होंने इन्डिपेन्डेंट इण्डिया (Independent India) नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया जिसका नाम 1949 में 'Radical Humanist' पड़ा। उनकी अन्य रचराएं निम्नलिखित हैं–

1. मैटीरियलिज्म (Materialism)
2. रीजन, रोमांटिसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन (Reason, Romanticism and Revolution)
3. न्यू ओरिएंटेशन (New Orientation)
4. आवर प्राब्लम्स (Our Problems)
5. बियाण्ड कम्युनिज्म टु ह्युमनिज्म (Beyond Communism to Humanism)
6. रैडिकल ह्यूमैनिस्ट (Radical Humanist)

7. दी वे टु डयूरेबल पीस (The way to Durable Peace)
8. न्यू ह्यूमनिज्म एण्ड पॉलिटिक्स (New Humanism and Politics)
9. दि कॉन्सीट्यूशन ऑफ फ्री इण्डिया (The Constitution of Free India)
10. दि प्रॉब्लम्स ऑफ फ्रीडम (The Problems of Freedom)
11. नेशनलिज्म एण्ड डेमोक्रेसी (Nationalism and Democracy)
12. प्लानिंग इन न्यू इण्डिया (Planning in New India)
13. नेशनल गवर्नमेण्ट एण्ड पीपल्ज गवर्नमण्ट (National Government and People's Government)
14. दि हिस्टॉरिकल रोल ऑफ इस्लाम (The Historical role of Islam)
15. माई एक्सपीरियन्सेज इन चायना (My Experiences in China)
16. प्लेण्टी एण्ड पॉवर्टी (Plenty and Poverty)
17. पॉलिक्सि पॉवर एण्ड पार्टीज (Politics, Power and Parties)
18. रिवोल्यूशन एण्ड काउण्टर रिवोल्यूशन इन चाइना (Revolution and Counter Revolution in China)

इस प्रकार राय ने देश विदेश की राजनीतिक घटनाओं पर अनेक लेख व पुस्तकें लिखीं, जिनमें समकालीन राजनीति का विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया गया है। एक भारतीय राजनीतिक विचारक होने के साथ–साथ उन्हें पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में भी सम्मानजनक स्थान प्राप्त है।

राय के चिन्तन का विकास
(Evolution of Roy's Philosophy)

राय का राजनीतिक चिन्तन अनेक उतार–चढ़ावों से परिपूर्ण है। अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में जब उन्होंने राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेना शुरू किया तो वे एक क्रान्तिकारी स्वभाव के व्यक्ति थे। लेकिन अपने जीवन के अन्तिम पड़ाव में एक उदारवादी विचारक बन गए। लेकिन प्रारम्भ से अन्त तक वे स्वतन्त्रता के विचार के पोषक रहे। प्रारम्भ में वे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के पक्षधर थे और बाद में मानवीय स्वतन्त्रता के कट्टर समर्थक बन गए। इस प्रकार उनके विचारों के प्रारम्भिक चरण व अन्तिम चरण के बीच एक गहरी व चौड़ी खाई है। इसलिए उनके चिन्तन के विकास क्रम को समझना आवश्यक है ताकि राय की विचारधारा की दुराग्रहता को दूर किया जा सके। राय के चिन्तन का विकास क्रम निम्नलिखित भागों में बांटा जा सकता है:–

1. प्रथम चरण (1901-1915 तक): अराजकतावाद, व्यवहारवाद, रोमांचक क्रांति तथा आतंकवाद अर्थात् क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी के रूप में।
2. दूसरा चरण (1916-1945 तक): मार्क्सवादी, क्रान्तिकारी मार्क्सवादी, क्रान्तिकारी कांग्रेसी व क्रान्तिकारी प्रजातन्त्रवादी के रूप में।
3. तीसरा चरण (1946-1954 तक): नव मानवतावादी अथवा मौलिक मानवतावादी के रूप में।

1. ***प्रथम चरण (1901-1915 तक)***– इस दौरान राय एक क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी रहा। उसने

भारत को आजाद कराने के लिए क्रान्तिकारी तरीकों में विश्वास व्यक्त किया। उसने युवा वर्ग को उदारवाद के खिलाफ एकत्रित किया और सशस्त्र क्रान्ति का आह्वान किया ताकि भारत को स्वतन्त्रता दिलाई जा सके। इसी उद्देश्य से उन्होंने कई देशों का भ्रमण किया। उन्हें विदेशों से धन तो मिला लेकिन शस्त्र प्राप्त नहीं हुए। यद्यपि उनका क्रान्तिकारी कार्यक्रम तत्कालीन उग्रवादी विचारधारा वाले व्यक्तियों को तो प्रभावित कर सका, लेकिन बुद्धिजीवियों को प्रभावित करने में राय के विचार असफल रहे। इस काल में राय विदेशी भ्रमण पर रहे। उन्होंने अमेरिका प्रवास के दौरान न्यूयार्क पब्लिक पुस्तकालय में मार्क्स के विचारों का अध्ययन किया और यहीं पर उनकी भेंट ब्रिटेन के साम्यवादी नेताओं से हुई। यहीं पर उनकी मुलाकात प्रसिद्ध क्रान्तिकारी भारतीय नेता लाला लाजपत राय से हुई इस समय के दौरान ही उन्होंने मैक्सिको में मैक्सिन साम्यवादी दल की भी स्थापना की। इस तरह राय ने 1901 से 1915 तक क्रान्तिकारी गतिविधियों को संगठित रूप में पेश किया।

2. ***द्वितीय चरण (1916-1945 तक)–***

(क) ***रूढ़िवादी मार्क्सवादी के रूप में***–अमेरिका में रहकर मार्क्सवादी सिद्धान्तों का अध्ययन करके राय रुस चले गए। वहां पर रहकर उन्होंने लेनिन के साथ रहकर मार्क्सवाद के व्यावहारिक रूप को निकट से देखने का अवसर प्राप्त हुआ। यहां पर वे मध्य एशिया में साम्यवादी दल की नीतियों का प्रसार करने के लिए बनाई गई 'सेन्ट्रल एशियाटिक ब्यूरो' सदस्य बन गए और साम्यवादी कार्यक्रम को प्रसारित करने में जुट गए। उन्होंने ताशकन्द में प्रथम 'भारतीय साम्यवादी दल' की स्थापना 1920 में की और उनकी आस्था मार्क्सवाद में बढ़ती गई। लेकिन लेनिन के साथ मतभेदों के कारण उसे 1928 में रुस से निकाल दिया गया। इस तरह 1916 से 1928 तक वह कट्टर मार्क्सवादी समर्थक रहा। उसने रूढ़िवादी मार्क्सवाद में अपनी आस्था जताई। उसने स्वयं को मार्क्स का परम शिष्य कहना शुरू कर दिया। लेकिन उनका यह भ्रम जल्दी ही टूट गया और उसने मार्क्सवाद के बारे में नए सिरे से सोचना प्रारम्भ कर दिया।

(ख) ***मार्क्सवाद के आलोचक के रूप में***–1930 के बाद राय ने रूढ़िवादी मार्क्सवाद की आलोचना करनी शुरू कर दी और उसमें अपेक्षित सुधारों की बात कही, उसने 1930 से पहले मार्क्स के राज्य सम्बन्धी विचारों में जो अपनी आस्था व्यक्त की थी, भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम को भी वर्ग–संघर्ष व्यक्त का ही एक रूप स्वीकार किया था, भारतीय इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या भी की थी, उसके स्थान पर उसने मार्क्सवाद की कठोरता पर तरह–तरह के आपेक्ष लगाए। उन्होंने प्रचार किया कि मार्क्सवाद मानवीय स्वतन्त्रता का शोषक है। यह राज्य को साध्य मानकर व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कुठाराघात करता है। 1930 में भारत लौटक्र मार्क्सवाद के बारे में कहा कि मार्क्स का राज्य साध्य न होकर एक साधन है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक दर्शन को उन्होंने मानव–प्रगति में बाधक बताया। उसने वर्ग–संघर्ष तथा इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को भी गलत बताया। इस तरह राय ने मार्क्सवाद की अनेक आलोचनाएं की।

(ग) ***क्रान्तिकारी कांग्रेसी व क्रान्तिकारी प्रजातन्त्रवादी के रूप में***–मार्क्सवाद की ही तरह राय ने 1930 से 1939 तक कांग्रेस के रचनात्मक योगदानों को पहले तो सराहा लेकिन धीरे–धीरे उसने गांधी व अन्य कांग्रेस के नेताओं की आलोचना

शरू कर दी। उसने तिलक और गांधी की क्रान्तिकारी गतिविधियों को तो सराहा लेकिन गांधी के अहिंसात्मक कार्यक्रम की निन्दा की। राय ने कहा कि गांधी जी द्वारा राजनीति में धर्म का प्रवेश कराकर स्वतन्त्रता संग्राम को चोट पहुंचाई गई है। उनका मानना था कि भारत की स्वतन्त्रता शांतिपूर्ण साधनों से प्राप्त नहीं की जा सकती। उसने गांधी को ब्रिटिश सरकार का एजेन्ट तक कह दिया। इस तरह कांग्रेस की नीतियों से असन्तुष्ट होकर उन्होंने 'Radical Democratic Party' की स्थापना की। इस तरह राय के मन में मार्क्सवाद और कांग्रेस के प्रति जो लगाव था, वह धीरे–धीरे कम होता गया और अन्त में वे एक 'Radical Democrat' बन गए, इस युग में उनकी सहानुभूति सर्वहारा वर्ग के साथ रही।

3. ***तीसरा चरण (1946-1954 तक)***–ज्यों–ज्यों राय पर मार्क्सवाद का प्रभाव कम होता गया, वे स्वतन्त्र चिन्तन के क्षेत्र में आगे बढ़ते गए और मौलिक मानवतावादी बन गए। उसने रुस और चीन के साम्यवाद की अच्छी बातों से शिक्षा ग्रहण करके गांधी की उदारवादी विचारधारा जोड़कर एक नई विचारधारा को जन्म दिया जिसे मौलिक या नव मानवतावाद (Radical Humanism) के नाम से जाना जाता है। उसने मनुष्य को ही अपने अध्ययन का केन्द्र बिन्दु माना और मानवीय स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक बन गया। इस तरह वह क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी से एक मौलिक मानवतावादी बन गया।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राय की विचारधारा कभी स्थिर नहीं रही। तीनों चरणों में उसके चिन्तन का विकास चाहे अलग–अलग रूपों में हुआ हो, लेकिन प्रारम्भ से अन्त तक उनका चिन्तन स्वतन्त्रता का पोषक रहा है, चाहे व मानवीय स्वतन्त्रता के रूप में हो या राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के रूप में। इसलिए उनका चिन्तन नव–मानवतावादी चिन्तन के रूप में सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहा है।

राय और मार्क्सवाद
(M.N. Roy and Marxism)

राय प्रारम्भ से ही क्रान्तिकारी विचारों के व्यक्ति थे। एक क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी के रूप में उन्होंने भारत में अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियों को संचालित करने के लिए देश–विदेश के भ्रमण किए। इस दौरान विदेशों से उन्हें आर्थिक सहायता तो मिल गई, लेकिन शस्त्र सहायता कहीं से भी नहीं मिली। अपने क्रान्तिकारी कार्यक्रम में असफल रहने पर जब वे अमेरिका गए तो वहां पर उनकी भेंट ब्रिटेन के मार्क्सवादी नेता फिलिप स्प्रैट तथा रजनी पाम से हुई। इन नेताओं का राय के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसने अमेरिका की न्यूयार्क पब्लिक लाईब्रेरी में मार्क्सवाद का अध्ययन शुरू कर दिया। अमेरिका के बाद जब वे रुस गए तो वहां पर उन्होंने लेनिन के साथ साम्यवादी कार्यक्रमों का संचालन किया। लेकिन 1928 में लेनिन से मतभेद होने के कारण उसे रुस से निकाल दिया गया। इसके कारण उसने मार्क्सवाद के कठोर सिद्धान्तों को नए सिरे पुनःस्थापित करने का बेड़ा उठाया। उसने मार्क्सवाद में अनेक संशोधन किए।

इससे स्पष्ट होता है कि राय की मार्क्सवाद सम्बन्धी धारणा दो चरणों में बंटी हुई है। प्रथम चरण में वे एक मार्क्सवादी थे और दूसरे में वे मार्क्सवाद के विरोधी हो गए। लेकिन इसमें राय का कोई दोष नहीं था। राय मानवीय स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे। जब उन्होंने महसूस किया कि मार्क्सवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुचलने वाला है तो उसने उसकी आलोचना करनी शुरू कर दी और मार्क्सवाद की कठोरता को समाप्त करने के लिए उसमें कई परिवर्तन

किए। इस दष्टि से राय के मार्क्सवाद सम्बन्धी विचारों का अध्ययन दो भागों में किया जा सकता है:–

I. मार्क्सवाद के समर्थक के रूप में

II. मार्क्सवाद के विरोधी के रूप में

I. ***मार्क्सवाद के समर्थक के रूप में***–अपने जीवन के प्रारम्भ में राय मार्क्स के विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसने स्वयं को मार्क्स का परम शिष्य कहना शुरू कर दिया था। इसका कारण था उसके पास अमेरिका में मार्क्सवादी साहित्य का अध्ययन किया जाना। उसने मार्क्स को मानवतावादी तथा स्वतन्त्रता का सच्चा प्रेमी माना। वह लेनिन के भौतिकवाद के सिद्धान्त से बहुत प्रेरित हुआ। उसको मार्क्सवाद का समर्थक कहे जाने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क हैं–

1. ***भौतिकवाद का सिद्धान्त (Theory of Materialism)***–राय ने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की तो आलोचना की है, लेकिन लेनिन के भौतिकवाद के सिद्धान्त का समर्थन किया है। वह लेनिन के इस विचार से सहमत था कि आधुनिक भौतिकी की खोजों ने भौतिकवाद को अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है। भौतिकवाद ही समस्त ज्ञान का स्रोत है। अणु, इलैक्ट्रॉन, प्रोट्रॉन का समस्त ज्ञान भौतिकवाद पर ही आधारित है। इन सबकी जड़ में कोई न कोई भौतिक तत्व अवश्य विद्यमान है। इस प्रकार राय मार्क्स व लेनिन के भौतिकवाद शब्द से अवश्य सहमत थे।

2. ***मार्क्सवाद की वैज्ञानिक पद्धति का समर्थन (Supports the Scientific Method of Marxism)***–राय ने मार्क्स के वैज्ञानिक दष्टिकोण का समर्थन किया है और वैज्ञानिक पद्धति को देश के विकास के लिए आवश्यक माना हैं

3. ***मार्क्स के दर्शन तथा व्यवहार की अनुरूपता में विश्वास (Faith in the Uniformity of Marx's Philosophy and Action)***–राय ने मार्क्स के सिद्धान्त के उस अंश को स्वीकार किया है जो चिन्तन और कर्म की एकता पर जोर देता है। इसके अनुसार कोई भी कार्य तभी सफल हो सकता है, जब एक निश्चित योजनानुसार उसे सोच–समझकर किया जाए। अर्थात् कार्य के सफल होने के लिए चिन्तन और कर्म में एकरूपता का पाया जाना जरूरी है। इसी तरह राय का भी मानना था कि यदि किसी कार्य को योजनाबद्ध तरीके से किया जाए तो उसे सफलता अवश्य प्राप्त होती है।

4. ***पूंजीवाद की आलोचना पर सहमति (Agrees with the Criticism of Capitalism)***–मार्क्स ने पूंजीवाद की उसके दोषों के कारण की थी। लेकिन राय पूंजीवाद का कट्टर आलोचक होते हुए भी पूंजीवाद को राष्ट्र के विकास के लिए अनिवार्य मानता है। उसका कहना है कि पूंजीवाद के बिना लाखों लोग बेरोजगार हो जाएंगे और देश का विकास पिछड़ जाएगा। लेकिन राय मार्क्स की इस बात से पूरी तरह सहमत है कि पूंजीवाद अनेक सामाजिक व आर्थिक दोषों का जनक है। उसका कहना हे कि पूंजीवाद सर्वहारा वर्ग के शोषण व उत्पीड़न के लिए उत्तरदायी है। यही समाज में आर्थिक विषमता व शोषण तथा तनाव का कारण हैं राय मार्क्स के इस तर्क का भी समर्थक है कि एक दिन पूंजीवाद का अन्त अवश्य होगा। राय ने भी स्वीकार किया है कि पूंजीवाद के नाश के लिए श्रमिक

वर्ग को संगठित होकर निर्णायक लड़ाई लड़नी होगी ताकि अपना लक्ष्य प्राप्त किया जा सके।

5. ***मार्क्सवाद के मानववादी विचारों का समर्थन (Favours the Humanistic Ideas of Marxism)***–राय का मानना है कि मार्क्स का चिन्तन मानव कल्याण का चिन्तन है। मार्क्स ने अपना संघर्ष मानव की भलाई के लिए किया था। मार्क्स की रचनाएं श्रमिक वर्ग के उत्थान के लिए लिखी गई थी। इसी बात से प्रभावित होकर राय ने मार्क्स के चिन्तन को मानव की मुक्ति का वैचारिक आधार माना है। जिस प्रकार मार्क्स ने वर्ग विहीन समाज या समाजवादी समाज की कल्पना की थी, उसी तरह राय ने भी ऐसे समाज की कल्पना की है जो सब तरह के दमन, अन्याय व शोषण से मुक्त हो और उसमें मानव का सर्वांगीण विकास हो। राय ने भी मार्क्स की तरह सर्वहारा क्रान्ति द्वारा राज्य के निर्माण की बात को स्वीकार किया है।

6. ***राष्ट्रवाद की आलोचना से सहमति (Agrees with the Criticism of Nationalism)***–मार्क्स पूंजीपतियों द्वारा बनाए गए राष्ट्र का कट्टर विरोधी था। वह मजदूर वर्ग के द्वारा राष्ट्र के निर्माण का समर्थक था। वह एक विश्वव्यापी सच्चे समाजवाद का समर्थक था अर्थात् वह अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का समर्थक था। इसी तरह राय ने भी संकीर्ण राष्ट्रवाद की आलोचना करते हुए कहा है कि पूंजीवाद शक्तियां देश के अन्दर राष्ट्रवाद की दीवार खड़ी करके श्रमिक वर्ग को संगठित होने से रोकती है। इसलिए इस दीवार को तोड़ने के लिए श्रमिक वर्ग को संगठित होकर पूंजीवाद के विरूद्ध यह लड़ाई लड़नी होगा।

इस प्रकार राय ने मार्क्स व लेनिन के उन विचारों का ही समर्थन किया है जो उसे अच्छे लगे। बाकी को उसने छोड़ दिया या उनमें संशोधन कर डाले। इसलिए उसे मार्क्सवाद का विरोधी विचारक कहा जाने लगा।

II. ***मार्क्सवाद के विरोधी के रूप में***–राय ने मार्क्स की प्रंशसा करने के साथ–साथ आलोचनाएं भी की हैं। उसने मार्क्स के कुछ विचारों को मानवीय स्वतन्त्रता का दमन करने वाला कहा है। उसने मार्क्स की इस बात के लिए आलोचना की है कि आर्थिक तत्व ही इतिहास का निर्माण करते हैं। उसने मार्क्स के इन सिद्धान्त को मानव स्वतन्त्रता का विरोधी करार दिया है। इस प्रकार उसने मार्क्सवाद के कुछ सिद्धान्तों की आलोचना की है और उनमें आवश्यक संशोधन पेश किए हैं। राय द्वारा मार्क्सवाद की प्रमुख आलोचनाएं निम्नलिखित हैं–

1. ***मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अवैज्ञानिक है (Marx's Dialectical Materialism is unscientific)***–राय का कहना है कि मार्क्स ने हीगल से प्रभावित होकर 18वीं सदी के डिडरौट, हौलवैच, व हेलावीटियस के भौतिकवाद की अवहेलना की थी। उसने मानव–प्रकृति से सम्बन्धित लुडविंग फ्यूबरेच के भौतिकवाद की तरफ भी कोई ध्यान नहीं दिया था। राय ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तर्क, रोमांसवाद और क्रान्ति' (Reason, Romanticism and Revolution) में मार्क्स के इस सिद्धान्त की आलोचना की और कहा मार्क्स ने मानवीय स्वतन्त्रता के विचार का त्याग किया है। राय ने मार्क्स की इस बात पर आपत्ति उठाई कि इतिहास उत्पादन के साधनों के विकास से उद्भूत घटनाओं की श्रंखला है।

राय ने विचार व्यक्त किया कि मार्क्स ने सामाजिक संघर्ष को अत्यधिक महत्व देकर मनुष्य की स्वतन्त्रता की इच्छा तथा स्वतन्त्रता प्राप्त करने में व्यक्ति की भूमिका जो इतिहास का निर्माण करती है, पर कोई ध्यान नहीं दिया, इस प्रकार राय ने कहा कि मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त मानव की प्रगति के मार्ग में एक रूकावट पैदा करता है।

2. ***मार्क्सवाद की कट्टरता की आलोचना (Criticism of rigidity of Marxism)–*** राय का कहना है कि मार्क्सवाद अपने कठोर सिद्धान्तों के कारण उतनी प्रसिद्धि कभी प्राप्त नहीं कर सका जितनी उसे मिलनी चाहिए थी। उसने मार्क्स की वैज्ञानिक पद्धति की तो प्रशंसा की है, लेकिन उसने मार्क्सवाद के ईश्वरीय वाक्यों की निन्दा की है। राय ने प्रगतिशील विचारक होने के नाते मार्क्स के उन सभी अनुयायियों की भी आलोचना की है जो मार्क्सवाद को कट्टर बनाने के पक्ष में थे। राय का विश्वास था कि कोई भी वैज्ञानिक पद्धति कट्टरता से मुक्त होनी चाहिए, उसका विचार था कि मार्क्सवाद को बदलती परिस्थितियों के अनुसार कार्य करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसलिए राय ने मार्क्सवाद को गतिशील, सजीव तथा सक्रिय बनाने के लिए उसकी कठोरता का लचीलेपन में बदलने का प्रयास किया है ताकि मार्क्सवाद को रूढ़िवादिता के आपेक्षों से बचाया जा सके। यदि मार्क्सवाद को कट्टरता और संकीर्णता से बांधे रखा गया तो उसका जीवन शक्ति का नाश हो जाएगा और जल–कल्याण से इसका नाता टूट जाएगा। इसलिए राय ने मार्क्सवाद की कठोरता पर तीव्र प्रहार किए।

3. ***मार्क्स के सर्वाधिकार की निन्दा (Criticism of Marx's Totalitarianism)–*** मार्क्स का कहना था कि पूंजीपति व श्रमिक वर्ग के बीच वर्ग संघर्ष में अन्त में श्रमिक वर्ग की ही विजय होगी और समस्त उत्पादन शक्तियों पर सर्वहारा वर्ग का ही कब्जा हो जाएगा। पूंजीपति वर्ग धीरे–धीरे नष्ट हो जाएगा और समाज में सर्वहारा वर्ग ही शेष बचेगा। राय ने मार्क्स की इस बात की आलोचना की है। राय का कहना है कि पूंजीपति वर्ग समाज की प्रगति के लिए बहुत जरूरी है। यदि यह वर्ग ही समाप्त हो जाएगा तो श्रमिकों का कल्याण कभी नहीं होगा। यद्यपि राय ने पूंजीपति वर्ग द्वारा श्रमिकों का शोषण करने की तो निन्दा की है, लेकिन वह मार्क्स के इस कथन से असहमत है कि पूंजीपति वर्ग की समाप्ति से ही श्रमिकों का भला हो सकता है। इसलिए राय ने विचार व्यक्त किया है कि वर्ग–संघर्ष से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का नाश होता है और सर्वधिकारवाद की स्थापना का मार्ग प्रशस्त होता है। इस तरह राय ने मार्क्स के वर्ग–संघर्ष के सिद्धान्त की आलोचना की और उसके सर्वाधिकारवादी राज्य की भी निन्दा की। इसी कारण से राय को 1928 में न केवल साम्यवादी पार्टी से निकाला गया था बल्कि रुस से भी निकाल दिया गया था।

4. ***मार्क्स की इतिहास की व्याख्या गलत है (Marx's Interpretation of History is Wrong)–***राय ने मार्क्स की इस बात को गलत बताया है कि आर्थिक शक्तियां ही इतिहास का निर्माण करती है। राय का कहना है कि इनके अतिरिक्त अन्य तत्व भी इतिहास का निर्माण करते हैं। राय का कहना है कि मार्क्स ने बुद्धि तत्व को इतिहास के विकास में कोई महत्व नहीं दिया है। मार्क्स ने विचार तत्व की उपेक्षा करके मनुष्य के प्रयासों को इतिहास के निर्माण कार्य से दूर

कर दिया है। राय ने कहा है–"दार्शनिक रूप से, इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा को बुद्धि की रचनात्मक भूमिका को स्वीकार करना चाहिए। भौतिकवाद विचारों की वस्तुपरक वास्तविकता से इंकार नहीं कर सकता।" राय की दष्टि में बुद्धि तत्व इतिहास के विकास में सर्वाधिक योगदान देता है। राय का मानना है कि इतिहास में भौतिक तथा वैचारिक दोनों शक्तियों का योगदान होता है। राय का कहना है कि यदि इन दोनों शक्तियों में उचित सामंजस्य नहीं होगा तो इतिहास का निर्माण होना असम्भव है। इनका सामंजस्य ही विकास का मार्ग प्रशस्त करता है और इतिहास को नई दिशा देता है। राय ने आगे कहा है कि देश के विकास के लिए विचारों का सकारात्मक होना आवश्यक है। विचार एक बार जन्म लेने से अपनी स्वायत्तता प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार राय मनुष्य की स्वतन्त्रता प्राप्त करने की खोज की कहानी को इतिहास का नाम देते हैं। उच्च स्तर पर यह इच्छा सामूहिकता का रूप ग्रहण कर लेती है।

5. ***मार्क्स का द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त काल्पनिक है (Marx's Theory of Dialecticism is Utopian)***–राय बरडेव के इस विचार से सहमत है कि मार्क्स की द्वन्द्ववाद पद्धति मार्क्सवाद को काल्पनिक बना देती है। उसका कहना है कि द्वन्द्ववाद की क्रिया, प्रक्रिया तथा समन्वय सिद्धान्त तर्कशास्त्र पर आधारित होते हैं। इनका प्रयोग व्यावहारिक जीवन में न होकर तर्कशास्त्र तक ही सीमित रहता है। इसलिए मार्क्स ने इस सिद्धान्त का प्रयोग व्यावहारिक जीवन के लिए किया है तो यह निराधार है और काल्पनिक है। इसका व्यावहारिक जीवन की वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

6. ***मार्क्स की मध्य वर्ग के समाप्त होने की भविष्यवाणी गलत सिद्ध हुई है (Marx's Prophesy of the Disappearance of Middle class has proved wrong)***–मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी एक दिन मध्य वर्ग का लोप हो जाएगा। यह कथन आगे चलकर काल्पनिक साबित हुआ। आज देश के आर्थिक विकास में इस मध्य वर्ग की भूमिका संतोषजनक है। मध्य वर्ग के लोगों की संख्या कम या समाप्त होने की बजाय तेजी से बढ़ रही है। आजकल सांस्कृतिक व राजनीतिक नेतत्व मध्य वर्ग के लागों के हाथ में ही है। राय का कहना है–"मध्यम वर्ग का लोप हो जाएगा, यह मार्क्स की भविष्याणी सर्वथा उल्ट है। आज मध्य वर्ग की संख्या दिन–प्रतिदिन बढ़ रही है और प्रथम विश्वयुद्ध के बाद विश्व इतिहास में मध्यम वर्ग का जो सांस्कृतिक और राजनीतिक नेतत्व बढ़ रहा है, उसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते।"

7. ***मार्क्सवाद के नैतिक व मनोवैज्ञानिक दुर्बल हैं (Ethical and Psychological Foundations of Marxism are Weak)***–राय का कहना है कि मार्क्सवाद के द्वारा व्यक्ति को पर्याप्त स्वतन्त्रता नहीं मिली है। मार्क्स ने मानव की अवहेलना करके स्वयं के सिद्धान्त को इतिहास के माध्यम से प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। मार्क्स का दर्शन व्यक्ति को ऐतिहासिक आवश्यकता के सन्दर्भ में बलि चढ़ा देता हैं उसका यह दर्शन व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन करता है। राय ने इतिहास की तुलना में व्यक्ति को सर्वोपरि मानकर उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए उसकी स्वतन्त्रता की इच्छा का सम्मान किया और मार्क्स को मानव की स्वतन्त्रता का विरोधी बताया। मार्क्स ने मानव प्रकृति में कोई स्थाई वस्तु

नहीं मानी है। उसका कहना है कि मानव परिस्थितियों के अनुसार अपने स्वभाव में स्वयं परिवर्तन कर लेता है। परन्तु राय ने मार्क्स की इस मनोवैज्ञानिक व्याख्या को गलत बताया है। उसका कहना है कि मानव प्रकृति में प्रत्येक वस्तु स्थायी है जो अधिकारों व कर्त्तव्यों की आधारशिला है। इस प्रकार राय ने मार्क्स की धारणा के विपरीत कहा है कि नैतिक मूल्यों में कुछ स्थायी तत्व भी हैं जो इतिहास का निर्माण करते हैं।

8. ***मनुष्य का प्रत्येक कार्य आर्थिक तत्वों पर आधारित नहीं है (Every Human Action is not determined by Economic Consideration)***–मार्क्स का कहना था कि मनुष्य का प्रत्येक कार्य आर्थिक क्रियाओं से प्रभावित होता है। लेकिन राय ने मार्क्स के इस विचार का खण्डन करते हुए कहा है कि मनुष्य आर्थिक मानव बनने से पहले अपने आचरण में शारीरिक आवश्यकताओं से नियन्त्रित और संचालित होता था। आदिम मानव के समाजशास्त्रीय अध्ययन से पता चलता है कि मानव जाति का आरम्भिकऋसंघर्ष मनुष्य की जीवन निर्वाह की सामग्री प्राप्त करने के प्रयासों तक ही सीमित है। उसके इन प्रयासों को उत्प्रेरित करने वाली प्रेरणाएं स्वभाव से ही जैवित थी। इसलिए उसके समस्त क्रिया–कलाप आर्थिक न होकर उसकी शरीर की आवश्यकताओं से अभिप्रेरित थे। मानव इतिहास में कुछ ऐसे क्रिया–कलाप हैं जो आर्थिक न होकर शारीरिक हैं और उनसे व्यक्ति को अत्यधिक आनन्द प्राप्त हुआ है। इसलिए कहा जा सकता है कि मार्क्स का यह कहना सर्वथा गलत है कि मनुष्य का प्रत्येक क्रिया–कलाप आर्थिक होता है।

9. ***मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त गलत है (Marxian Theory of Class-Struggle is Wrong)***–राय का कहना है कि मार्क्स की यह बात तो ठीक है कि समाज में युगों विभिन्न वर्गों का अस्तित्व रहा है, लेकि उनकी वर्ग–संघर्ष की बात गलत है। राय का मानना है कि मार्क्स के द्वारा बताए गए शोषित व शोषक वर्गों के अतिरिक्त भी कई अन्य सामाजिक वर्गों का उल्लेख इतिहास में मिलता है। इन सामाजिक वर्गों ने सदैव संघर्ष के स्थान पर सामाजिक सहयोग में योगदान दिया। मार्क्स के दोनों वर्गों में भी तनाव के अतिरिक्त आपसी सहयोग के प्रयास होते रहे हैं। यदि वर्ग–संघर्ष का सिद्धान्त ठीक होता तो अब तक मानव सभ्यता का अस्तित्व ही नष्ट हो गया होता। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में समाज में दो वर्ग न होकर अनेक वर्ग हैं और आज अनेक देशों में पूंजीपति व श्रमिक के बीच रिश्ते सुधरने के कगार पर हैं। अतः मार्क्स का वर्ग–संघर्ष का सिद्धान्त गलत है।

10. ***मार्क्स का अतिरिक्त पूंजी का सिद्धान्त गलत है (Marxian Theory of Surplus-Value is Wrong)***–राय का मानना है कि यदि मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाए तो समाज की प्रगति का मार्ग रूक जाए। आज पूंजी के बल पर अनेक उत्पादन इकाईयां कार्य कर रही हैं। प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था के विकास में इनका बहुत महत्वपूर्ण योगदान है। यदि मार्क्स की बात स्वीकार कर ली जाए तो उद्योग ठप्प हो जाएंगे। कोई भी पूंजीपति नए उद्योग लगाने की नहीं सोचेगा पूंजीपति जिस लाभ (अतिरिक्त मूल्य) के लिए उत्पादन करता है, वह यदि श्रमिकों में बांट दिया जाएगा तो पूंजी लगाने वालों के साथ यह घोर अन्याय होगा और कोई भी इस अन्याय को सहकर उत्पादन

जारी नहीं रखेगा। लाखों श्रमिक बेकार हो जाएंगे, देश की अर्थव्यवस्था चौपट हो जाएगी, इससे श्रमिकों का भला होने की बजाय, बुरा ही होगा, अतः मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मानवीय मूल्यों के खिलाफ है।

11. ***मार्क्स ने व्यक्तिवादियों की उदारवादी कल्पना की उपेक्षा की है (Marx has ignored the Liberal Conception of the Individualists)***–राय का कहना है कि मार्क्स व्यक्तिवाद की उदारवादी कल्पना में विश्वास नहीं करते थे। राय के अनुसार उदारवादी और उपयोगितावादी भावनाओं की अवहेना करके मार्क्स ने अपने पुराने मानवतावाद को भूला दिया है। इसी कारण से अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का नैतिक पतन हुआ है कि मार्क्स ने मानवीय नैतिकता के किसी भी तत्व को अस्वीकार किया है। मार्क्स ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता की घोर अपेक्षा की है। मार्क्स ने इतिहास को मांग व पूर्ति के नियम से बांधने की जो भारी भूल की है, उससे व्यक्ति के व्यक्तित्व को कुचला गया है। इसलिए मार्क्स की विचारधारा व्यक्तिवाद के उदारवादी स्वरूप को कुचलने वाली है। इसमें व्यक्ति को राज्य के अधीन कर दिया गया।
12. इसी तरह राय ने मार्क्स के हिंसात्मक साधनों की भी घोर निन्दा की है। उसने नैतिकता के आधार पर राजनीतिक व सामाजिक सुधारों की वकालत की है।
13. राय ने मार्क्स के सर्वहारा वर्ग के अधिनायतन्त्र को भी देश के विकास में बाधक माना है। उसने कहा है कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति अपूर्ण क्रान्ति है। इसमें मध्यम वर्ग की उपेक्षा होने के कारण देश योग्य नेतत्व से वंचित रह जाता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राय एक सच्चा मानवतावादी था। वह मानवीय स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था। उसकी इच्छा थी कि मानवीय स्वतन्त्रता की हर कीमत पर रक्षा की जाए। इसलिए उसने रूढ़िवादी मार्क्सवाद की बुराईयों के खिलाफ जनता का ध्यान आकृष्ट किया। उसने मार्क्स के सिद्धान्तों को अनेक आधारों पर अनुचित व मानवीय स्वतन्त्रता का दमन करने वाला मानकर, उनमें व्यापक स्तर पर संशोधन किए। उसने मार्क्सवाद के सर्वसत्ताधिकारवाद की घोर आलोचना करके साम्यवादियों के खोखले व अप्रासंगिक सिद्धान्तों की पोल खोली। यद्यपि वे मार्क्स की कुछ बातों से सहमत भी हुए। लेकिन अधिकतर बातों में उन्होंने मार्क्सवाद के व्यावहारिक दोषों से असंतुष्ट होकर उससे दूर होते चले गए। उन्होंनें या तो मार्क्सवाद के अनेक सिद्धान्तों को अस्वीकार कर दिया या उनके व्यापक परिवर्तन कर डाले। अतः राय एक सच्चे क्रान्तिकारी मार्क्सवादी या संशोधनवादी मार्क्सवादी थे और उनके द्वारा मार्क्सवाद में किए गए संशोधन बहुत महत्वपूर्ण हैं।

मौलिक मानवतावाद का सिद्धान्त
(Theory of Radical Humanism)

मौलिक मानवतावाद का सिद्धान्त राय की राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में सबसे बड़ी देन है। राय ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन काफी अनुभवों से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर किया है। उनका यह सिद्धान्त परम्परागत मानवतावादी सिद्धान्तों से हटकर है, इसलिए इसे मौलिक मानवतावाद का नाम दिया गया है।

जब राय को रुसी साम्यवादी दल से निकाला गया तो वह भारत में आकर कांग्रेस की नीतियों की समीक्षा करने लग गए। उन्होंने कांग्रेसी की नतियों व नेताओं की आलोचना करनी शुरू

कर दी और क्रांतिकारी कांग्रेसी कहलाए। साथ में ही उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धान्तों की कठोरता पर भी तीव्र प्रहार किए। मौलाना आजाद से कांग्रेस पार्टी का चुनाव हारने के बाद उन्होंने नए दल का गठन किया जिसका नाम रखा गया–'Radical Democratic Party'। इस तरह वे Raical Congressman से Radical Democrat बन गए। उन्होंने अपने मार्क्सवादी व भारतीय कांग्रेस के राजनीतिक अनुभवों का पूरा लाभ उठाया और गांधी की भारतीयता तथा विदेश के उदारवाद को जोड़कर एक नई विचारधारा का प्रतिपादन किया जिसे आज नव मानतावाद का मौलिक मानवतावाद के नाम से जाना जाता है।

मौलिक मानवतावाद का अर्थ (Meaning of Radical Humanism)

मानवतावाद एक प्राचीन विचारधारा है। यूनान के स्टोइकसों से लेकर आधुनिक काल तक इसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। प्राचीन काल से आज तक मानवतावादी विचारधारा के अध्यनन का केन्द्र बिन्दु मनुष्य ही रहा है। मानवतावादी विचारकों के अनुसार मनुष्य ही सबकार्यों का आधार है। मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है।

राय का कहना है कि ब्रिटिश कवेकर्स तथा फ्रांसीसी जेकवीस भी मानवतावादी थे, क्योंकि उन्होंने मनुष्य को बहुत अधिक महत्व दिया। लेकिन इनको सच्चा मानवतवादी नहीं कहा जा सकता। इन सभी ने मानव को किसी ने किसी रूप में किसी अतिप्राकृतिक या अतिमानव सत्ता के अधीन करने की भूल अवश्य की है। उनका विश्वास था कि मानव ईश्वर की सष्टि है और उसके ही अधीन है। इसी तरह राजा रम मोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, अरविन्द घोष, गांधी, जवाहर लाल नेहरू, विनोबा भावे आदि विचारक भी मानवतावादी थे। लेकिन इन्हें भी सच्चा मानवतावादी नहीं कहा जा सकता। इन सभी ने पूर्ववर्ती विचारकों की तरह ही मानव को अतिप्राकृतिक सत्ता (ईश्वर) के अधीन करने की भूल की।

राय ने कहा है कि यह बात तो सही है कि मनुष्य ही मानवतावादी विचारधारा का केन्द्र बिन्दू है। लेकिन उनका मानवतावाद प्राचीन मानवतावाद से बिल्कुल अलग है। इसी कारण उसका मानवतावाद मौलिक मानवतावाद है। क्योंकि राय ने मानव को किसी अतिप्राकृतिक सत्ता के अधीन करने की धारणा का खण्डन किया है। उनका कहना है कि मानव जीवन ही पूर्ण जीवन है। उसे किसी अन्य सत्ता के सहारे की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर, आत्मा, परमात्मा, भाग्य आदि का मानव जीवन में कोई महत्व नहीं है। आधुनिक विज्ञान की सभी खोजों ने सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य में कुछ भी अप्राकृतिक नहीं है। मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माण करता है। मनुष्य ही इस विश्व का निर्माण व पुर्ननिर्माण स्वयं कर सकता है। इस प्रकार राय का मानवतावाद इस अर्थ में मौलिक भी है और परम्परागत मानवतावाद से भिन्न भी है कि उसने मानव को किसी अतिप्राकृतिक सत्ता के अधीन नहीं किया है। इसी कारण उनके मानवतावाद को मौलिक मानवतावाद का नाम दिया जाता है।

मौलिक मानवतावाद को अनेक नामों से पुकारा जाता है। इसे वैज्ञानिक मानवतावाद, नव–मानवतावाद, क्रान्तिकारी मानवतावाद आदि भी कहा जाता है। इन सभी का सम्बन्ध राय के मानवतावादी दर्शन से ही है। राय ने प्रोटेगोरस के कथन को स्वीकारते हुए कहा कि "मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड" है (Man is the measure of everything)। उसने इसमें एक बात और जोड़ी है–"मनुष्य मानव जाति का मूल है (Man is the root of mankind)। इस आधार पर राय के मौलिक मानवतावाद की दो आधारभूत मान्यताएं हैं जिन पर उनका सम्पूर्ण मौलिक मानवतावाद का चिन्तन आधारित है।

मौलिक मानवतावाद की आधारभूत मान्यताएं (Basic assumption of Radical Humanism)

राय के मौलिक मानवतावाद की दो आधारभूत मान्यताएं निम्नलिखित हैं–

1. ***मनुष्य प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है (Man is the measure of every thing)***–राय ने यह कथन प्रोटेगोरस से लिया है। इसका अर्थ है कि व्यक्ति का सम्बन्ध केवल उन्हीं वस्तुओं से है जो सम्पूर्ण मानव जाति को प्रभावित करती है। राय ने कहा है कि एक मौलिक मानवतावादी को दैवीय इच्छा या आत्मा जैसी अतिप्राकृतिक वस्तुओं में कोई दिलचस्पी नहीं रखनी चाहिए। यद्यपि सूर्य, चांद, सितारों आदि में रुचि ली जा सकती है क्योंकि ये हमारे जीवन पर प्रभाव डालते हैं। लेकिन ये भी हमारे भाग्य का आधार नहीं है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। उसमें आज से कल को श्रेष्ठ बनाने की क्षमता है, राय का विश्वास है कि मनुष्य स्वभाव से विवेकशील और नैतिक होने के कारण एक न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का निर्माण कर सकने में सक्षम है। इसलिए व्यक्ति ही प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है।

2. ***मनुष्य मानव जाति का मूल है (Man is the root of mankind)***–राय का कहना है कि मानव जीवन अपने आप में पूर्ण है। इसलिए मानव–इतिहास को समझने के लिए हमें किसी बाहरी या अतिप्राकृतिक सत्ता जैसे–वेदान्तियों का ब्रह्म, प्लेटो का शिव, आगस्टाइन की दैवी इच्छा, हीगल की निरपेक्ष आत्मा का सहारा लेन की आवश्यकता नहीं है। राय का कहना है कि जो लोग यह विश्वास करते हैं कि इस सष्टि को ईश्वर ने बनाया है और वही व्यक्ति का भाग्य निर्धारक है, वे कभी भी सच्चे मानतवतावादी नहीं हो सकते। सच्चा मानवतावादी तो मनुष्य के क्रिया–कलापों में ही विश्वास करता है, जो इस संसार को सुन्दर बनाने के लिए किए जाते हैं। सच्चा मानवतावादी प्रत्येक बात को तर्क और विवेक की कसौटी पर अपने चिन्तन को कसता है। इसी से निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य ही मानव जाति का मूल है।

राय के मौलिक मानवतावाद की विशेषताएं (Characteristics of Roy's Radical Humanism)

राय ने परम्परागत मानवतावाद में अनेक कमियां निकाली और अपने नए मानवतावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसके नव मानवतावाद की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. ***मनुष्य एक तर्कशील प्राणी है (Man is a rational being)***–राय का मानना है कि व्यक्ति एक विवेकशील प्राणी है। आज का युग वैज्ञानिक युग है। इसमें आध्यात्मवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। जिसे वस्तु को वैज्ञानिक पद्धति से सिद्ध न किया जा सके, वह विवकमय नहीं हो सकती। विवेक व तर्क के आगे आत्मा का कोई महत्व नहीं है। राय ने गीता के मुख्य सिद्धान्त–"मनुष्य तत्वतः आत्मा है और शरीर और मन से ऊपर है तथा नित्य और अविनाशी है" का खण्डन किया है। राय का मानना है कि व्यक्ति अपनी विवेकशीलता के बल पर नैतिक सिद्धान्तों की स्थापना कर सकता है। यह विवेकशीलता उसका जन्मजात युग होता है। राय ने लिखा है–"व्यक्ति के जीवन और उसके व्यक्तित्व में तर्क और विवेक सार्वभौमिक समन्वय की प्रतिध्वनि है।" आधुनिक विज्ञान की खोजों ने सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य में कोई अति–प्राकृतिक तत्व नहीं है। इसलिए आत्मा मानव प्रकृति का तत्व नहीं है। इस प्रकार मनुष्य इस भौतिक संसार का ही एक अंग है अर्थात् मानव स्वभाव विकासमान भौतिक प्रगति

की पष्ठभूमि का ही परिणाम है। इस प्रकार राय ने किसी भी अतिप्राकृतिक सत्ता के अधीन व्यक्ति को न करके उसे एक विवेशील प्राणी माना है, जो अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करता है। प्रत्येक अच्छा या बुरा कार्य उसके विवेक का ही प्रतिफल होता है। इसके पीछे किसी दैवीय सत्ता का कोई हाथ नहीं है।

2. ***नैतिकता का आध्यात्मवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है (Ther is no relation between Ethics and Spiritualism)***–राय ने अपनी नव मानवतावादी विचारधारा के आधार पर धर्म और नैतिकता को अलग–अलग स्वीकार किया है। राय ने महात्मा गग्रधी व गोखले के आध्यात्मवाद की आलोचना करते हुए कहा है कि धर्म नैतिकता का आधार नहीं होता। राय ने गांधी की ईश्वरीय धारणा का भी खण्डन किया है। राय के अनुसार नैतिकता कोई अतिमानवीय या बाहरी वस्तु नहीं है, बल्कि एक आन्तरिक शक्ति है जिसका पालन व्यक्ति ईश्वर या प्राकृतिक भय से नहीं करना चाहिए बल्कि समाज कल्याण की भावना से करना चाहिए। नैतिकता के अभाव में मनुष्य मनुष्य नहीं कहला सकता। इसलिए नैतिकता और विवेक मनुष्य के लिए आवश्यक है। इस प्रकार राय ने गांधी के राजनीति के आध्यात्मिकरण का विरोध करके राजनीति को नैतिकता पर आधारित करने का समर्थन किया है। राय का कहना है कि आज हम जिस शक्ति राजनीति में फंसे हुए हैं, उसका मूल कारण हमारा नैतिकता से दूर होना है।

3. ***मौलिक मानवतावाद विश्व-व्यापी है (Radical Humanism is World-wide)***–राय का मानवतावादी राष्ट्रवाद की संकीर्ण परिधि से बाहर है। राय ने प्रबुद्ध राष्ट्रवाद का परिचय देते हुए राष्ट्रवाद के विकास के लिए विश्व बन्धुत्व की भावना पर जोर दिया है। राय का मानवतावाद सर्वदेशीय या सर्वकालिक है। उन्होंने राष्ट्रवाद की संकीर्णता से ऊपर उठकर विश्व–बन्धुत्व की शिक्षा दी है। उन्होंने गांधी, टैगोर, अरविन्द घोष की विश्व–बन्धुत्व की भावना का आदर किया है। उनका मानवतावाद विश्व–व्यापी कामनवैल्थ (Commonwealth) की धारणा है। उनका मानवतावाद अन्तर्राष्ट्रीय से अलग है। उसने अन्तर्राष्ट्रीय की मानवतावाद कसे अलग बताते हुए लिखा है–"अन्तर्राष्ट्रीयवाद में पथक राष्ट्रीय राज्यों के अस्तित्व का विचार है जबकि एक सच्ची विश्व सरकार की स्थापना राष्ट्रीय राज्यों को मिलाकर या उनका निराकरण करके ही की जा सकती है।"

4. ***मनुष्य का आध्यात्मिक दष्टि से स्वतन्त्र होना (Man is Independent of Spiritual Forces)***–राय का कहना है कि व्यक्ति का दष्टिकोण धर्म निरपेक्ष होना चाहिए। मनुष्य धर्म के प्रभाव में आकर अन्धविश्वासी हो जाता है और सही व गलत में निर्णय कर पाने में असमर्थ होता है। धर्म ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता में सबसे बड़ी बाधा है। आज धर्म ने मनुष्य को अपने पाश में जकड़ लिया है। आज धर्म का बुद्धिजीवी चरित्र समाप्त हो गया है। यदि मानव को धर्म के पाश से मुक्ति मिल जाए तो नवीन मानवतावाद की स्थापना हो सकती है। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता ही व्यक्ति की राजनैतिक व सामाजिक स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त कर सकती है। इसलिए मनुष्य का धार्मिक रूप से स्वतन्त्र होना जरूरी है। धर्म निरपेक्ष दष्टिकोण अपनाकर ही व्यक्ति सर्वांगीण विकास कर सकता है। यही नव मानवतावाद का सार है।

5. ***मनुष्य में स्वतन्त्रता की इच्छा स्वाभाविक है (Urge for freedom is natural in man)***–राय का मानना है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता प्राप्त करने व उसे बनाए रखने की इच्छा जन्मजात है। वह अपनी स्वतन्त्रता को पाने के लिए सदैव संघर्ष करता है। मनुष्य

विवेकशील प्राणी होने के नाते स्वतन्त्रता के पीछे भागता है। वह किसी भी बंधन को तोड़ना चाहता है। उसमें अपनी प्राकृतिक योग्यताओं को विकसित करने की इच्छा लालायित रहती है। विवेकशीलता तथा स्वतन्त्रता के लिए उसकी लगन उसके स्वभाव के दो स्वाभाविक व जन्मजात गुण हैं। राय ने लिखा है–"समस्त ज्ञान, उपलब्धियां, सांस्कृतिक प्रगति, वैज्ञानिक खोजें, कलात्मक सजनशीलता आत्मा से अभिप्रेरित रही हैं। स्वतन्त्रता के लिए मानव की इच्छा अमर व नित्य है।" राय ने स्पष्ट किया है कि स्वतन्त्रता विश्व में कानून का विरोध करने में नहीं पाई जाती है, बल्कि उसके साथ सचेत रहकर तालमेल बैठाने में पाई जाती है। इस प्रकार राय के नवीन मानवतावाद का यही उद्देश्य है कि मनुष्य अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त करके अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके और धर्म व अन्धविश्वासों के पाश से मुक्ति पा सके।

6. ***मनुष्य को प्रधानता (Importance to Man)***–समाज के सन्दर्भ में राय के अनुसार व्यक्ति समाज का मूल आदर्श है। सभी सामाजिक समस्याओं का उद्देश्य मनुष्य के हित में है और सम्पूर्ण सामाजिक तरक्की का मुख्य साधन मनुष्य ही है। समाज, राज्य तथा दूसरी सभी संस्थाओं का निर्माण मनुष्य स्वयं करता है और मनुष्य अपनी सुविधानुसार इनमें परिवर्तन भी कर सकता है। इन सभी संस्थाओं का लक्ष्य व्यक्ति का सामाजिक विकास करना ही होना चहिए और सभी सामाजिक निर्माण के कार्य व्यक्ति द्वारा ही किए जाने चाहिए। इसी प्रकार राय का राष्ट्रवाद राष्ट्रों से सम्बन्धित न होकर मानववाद के विकास से ही सम्बन्धित है। राय की विचारधारा हर दष्टि से व्यक्ति को ही सर्वोपरि मानती है।

7. ***समाज का पुनर्निर्माण वैज्ञानिक साधनों से सम्भव है (Reconstruction of Society on Scientific basis is possible)***–राय ने अपने नए मानवतावाद या मौलिक मानवतावाद में समाज के पुनर्निर्माण पर जोर दिया है। उनका मानना है कि जीवन का हर क्षेत्र, चाहे वह धार्मिक हो या राजनीतिक, आर्थिक हो या सामाजिक, उसमें वैज्ञानिक दष्टिकोण का ही प्रयोग करना चाहिए। उन्होंने कहा है कि भूमि का उत्पादन उर्वरकों व सिंचाई से बढ़ाया जा सकता है, न कि देवी–देवताओं को हवन व यज्ञों से खुश करके। व्यक्ति को अपने जीवन में तर्कसंगत दष्टिकोण अपनाना चाहिए। मानसिक क्रान्ति द्वारा ही समाज का पुनर्निर्माण सम्भव है।

8. ***मौलिक लोकतन्त्र का समर्थन (Support to Radical Democracy)***–राय का मानना था कि शक्तियों का केन्द्रीयकरण सच्चे लोकतन्त्र का हनन करता है। जब सारी शक्ति जनता के हाथों में होती है, तो वही सच्चा लोकतन्त्र होता हैं इसलिए उन्होंने अधिक से अधिक राजनीतिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण करने पर बल दिया। राज्य का विश्वास था कि वर्तमान लोकतन्त्र जनता के हितों का सच्चा हितैषी नहीं है। इसलिए एक ऐसे लोकतन्त्र की जरूरत है जो राजनीतिक दलों से विहीन हो और जनता राजनीतिक सत्ता की वास्तविक स्वामी हो। इसके लिए उन्होंने नैतिक लोकतन्त्र (Radical Democracy) का सिद्धान्त दिया। इस तरह राय ने मौलिक लोकतन्त्र के माध्यम से अपने मौलिक मानवतावाद का ही पोषण किया है, क्योंकि मौलिक लोकतन्त्र में व्यक्ति को ही प्रधानता दी गई है।

9. ***शक्ति रहित राजनीति का समर्थन (Support to Politics without Power)***–राय का मानना था कि शक्ति व्यक्ति को भ्रष्ट करती है। आज राजनीति शक्ति के लिए एक

संघर्ष बन गई है। इस संघर्ष को बढ़ावा देने में राजनीतिक दलों का ही हाथ है। वे राजनीतिक भ्रष्टाचार को जन्म देते हैं। इसलिए राजनीति में नैतिकता को अपनाकर इस संघर्ष को समाप्त किया जा सकता है। लेकिन राजनीति में नैतिकता को लागू करना एक कठिन कार्य है। इसलिए राजनीतिक दलों को समाप्त करके राजनीति को एक शक्तिहीन आदर्श या जन कल्याण का साधन बनाया जा सकता है। अपने इसी मत को व्यावहारिक रूप देने के लिए राय ने 1948 में अपनी 'Radical Democratic Party' को भंग कर दिया था।

मौलिक मानवतावाद के राजनीतिक व आर्थिक आधार (Political and Economic Basis of Radical Humanism)

राय के मौलिक मानवतावाद के निम्नलिखित राजनीतिक व आर्थिक आधार हैं–

(क) ***राजनीतिक आधार (Political Basis)***–राय शक्तियों के केन्द्रीयकरण के कट्टर विरोधी थे। उनका मानना था कि राजनीतिक शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में एकत्रित होने से व्यक्ति के अधिकारों व स्वतन्त्रता को हानि पहुंचती है। जब राजनीति सत्ता किसी एक दल या व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित हो जाती है तो तानाशाही की स्थापना हो जाती है। इसलिए राजनीतिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण करना आवश्यक हो जाता है ताकि व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखा जा सके। राय ने अपने मौलिक मानवतावाद के राजनीतिक आधारों के पक्ष में निम्न दो तर्क दिए हैं:–

I. ***व्यक्ति की महत्ता पर जोर (Emphasis on the importance of Man)***–राय का कहना है कि व्यक्ति के विकास के लिए उसका स्वतन्त्र होना आवश्यक है। समाज में व्यक्ति एक मूल आदर्श है। समाज के समस्त क्रिया–कलाप व्यक्ति के विवेक पर ही आधारित होते हैं। उनका कहना है कि समाज की रचना व्यक्ति ने अपने भले के लिए की है। राज्य जैसी समस्त संस्थाएं मानव विवेक की उपज हैं। व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार इन सामाजिक व आर्थिक संस्थाओं में परिवर्तन कर सकता है। इस तरह राय व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए उन सभी सामाजिक व आर्थिक बन्धनों को समाप्त करना चाहते थे जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता में रूकावट डालने वाले हों।

II. ***दल-विहीन प्रजातन्त्र का समर्थन (Support to Partyless Democracy)***–राय ने राजनीतिक दलों को समाज में भ्रष्टाचार फैलाने वाला माना है। उनका मानना है कि राजनीतिक दल सारी शक्ति अपने हाथों में संचित करके व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन करते हैं। इससे समाज का विकास रूक जाता है। यदि चाहें तो ये समाज को राजनीतिक शिक्षा दे सकते हैं, परन्तु संकीर्ण स्वार्थों पर टिके होने के कारण ये अपना सामाजिक कल्याण का लक्ष्य भूल जाते हैं और समाज में तरह–तरह का भ्रष्टाचार फैलाते हैं। इसलिए यह जरूरी है कि मानव के कल्याण के लिए इन दलों को ही समाप्त कर दिया जाए। इसके लिए राय ने स्थानीय समितियों की स्थापना का सुझाव दिया है जो स्वायत सत्ता के आधार पर केन्द्रीकरण को रोकेंगी। इससे दल–विहीन प्रजातन्त्र की स्थापना होगी और व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बढ़ावा मिलेगा।

(ख) ***आर्थिक आधार (Economic Basis)***–राय का मानना था कि लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली में अधिक से अधिक भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है। इसमें आर्थिक व

राजनीतिक शक्ति पर एक ही स्थान पर केन्द्रित हो जाती है। इसलिए अर्थव्यवस्था का विकेन्द्रीकरण आवश्यक हो जाता है। राय ने कहा है कि आर्थिक प्रजातन्त्र के बिना व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं की जा सकती। इसलिए उन्होंने नियोजित अर्थव्यवस्था (Planned Economy) का सुझाव दिया है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को कुछ काम अवश्य मिलेगा और लोगों की न्यूनतम आर्थिक आवश्यकताएं पूरी होंगी। इससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विकास होगा।

इस तरह राय ने सामाजिक ढांचे का नव–निर्माण करने तथा मानव का जीवन सुखी बनाने के लिए मनुष्य को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने का मत प्रस्तुत किया है। राय ने विश्वास व्यक्त किया है कि मानव की स्वतन्त्रता की इच्छा ही सभ्य समाज का निर्माण कर सकती है। राय ने ईश्वरीय सत्ता को चुनौती देते हुए मानव को अपने चिन्तन में सर्वश्रेष्ठ स्थान पर प्रतिष्ठित किया है। इसलिए उसका मानवतावाद का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन को एक महत्वपूर्ण देन है।

नव या मौलिक मानवतावाद की आलोचना (Criticisms of New or Radical Humanism)

राय एक स्वतन्त्र चिन्तन व प्रगतिशील दष्टिकोण रखने वाले विचारक थे। उन्होंने मार्क्सवाद की कठोरता पर प्रहार करके मनुष्य को साम्यवाद के जाल से बाहर निकाला और उसकी स्वतन्त्रता की जोरदार वकालत की। उसने अपनी मौलिक मानवतावाद की विचारधारा की स्थापना द्वारा मनुष्य को अपने चिन्तन में प्रमुख स्थान पर प्रतिष्ठित किया। लेकिन इसके बावजूद भी राय की मौलिक मानवतावाद की विचारधारा अधिक लोकप्रिय नहीं हो सकी और उसकी अनेक आधारों पर आलोचना की जाने लगी। उसकी आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं:–

1. ***धर्म सभ्यता व नैतिकता के विकास के लिए आवश्यक है (Religion is responsible for the development of civilization and morality)***–राय ने धर्म निरपेक्ष दष्टिकोण अपनाकर भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास का मार्ग अवरुद्ध किया है। धर्म भारतीय सभ्यता व संस्कृति के विकास का आवश्यक तत्व रहा है। सभी वेद–शास्त्रों में धर्म का प्रभाव निःसंकोच स्वीकार किया गया है। राय ने एक भारतीय चिन्तक होकर भारतीय सभ्यता को विकसित करने वाले जरूरी तत्व की ही अवहेलना कर दी। राय ने अपने मानवतावादी चिन्तन की स्थापना धर्म के बिना ही करके भारतीय आध्यात्मवाद को गहरी चोट पहुंचाई है। धर्म का जीवन में बहुत महत्व होता है। धर्म के द्वारा ही व्यक्ति अपने जीवन के चरम लक्ष्य (मोक्ष) तक पहुंचता है, इसलिए धर्म की निन्दा करना भारतीय चिन्तन का अपमान करना है।

2. ***राय की स्वतन्त्रता नकारात्मक है (Roy's conception of Freedom is Negative)***–राय ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बहुत अधिक बल दिया है। उसने धर्म और राज्य को स्वतन्त्रता के रास्ते में रूकावट माना है। यद्यपि उनका यह विचार उचित है कि सच्ची स्वतन्त्रता राज्य के कानूनों का पालन करने में है, विरोध करने में नहीं। परन्तु उसने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुनिश्चित बनाने के लिए राज्य जैसी अनिवार्य संस्था को भी बलि देनी चाही है। वास्तव में जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मार्ग वास्तविक बाधाएं राज्य न होकर व्यक्ति की निम्नतर प्रवत्तियां तथा इन्द्रियपरक इच्छाएं हैं, इन पर नियन्त्रण पाकर ही मनुष्य सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है।

3. ***तार्किक दोष (Logically faulty)***–राय को व्यक्ति की स्वतन्त्रता की इच्छा को जन्मजात बताया है। व्यक्ति स्वतन्त्रता के लिए निरन्तर संघर्ष करता रहता है। लेकिन इस बात की क्या गारन्टी है कि यह संघर्ष लड़ाई–झगड़े का रूप नहीं लेगा। राय में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को स्थान देकर संयुक्त स्वतन्त्रता को चोट पहुंचाई है। वह स्वयं कहता है कि पहले किसी वस्तु को तर्क की कसौटी परखना चाहिए। लेकिन वह अपने स्वतन्त्रता के विचार को उचित तर्क पर नहीं कस सका, वह ज्ञान शक्ति व अज्ञान शक्ति में अन्तर करने में असफल रहा।

4. ***भौतिकवाद के आधार पर आलोचना (Criticism on the basis of Materialism)***– राय ने भौतिकवाद को महत्व देते हुए कहा है कि प्रकृति और संसार अपने बल पर जीवित है, इसमें किसी दैवीय सत्ता का हाथ नहीं है। मनुष्य में बुद्धि और नैतिकता भौतिक प्रकृति से प्राप्त हुए हैं और इसी के अन्दर समाहित है। राय ने यह विचार देकर भारतीय आध्यात्मवाद व आत्मा का अस्तित्व नकार दिया है। उसने आत्मा को पदार्थ की ही देन मानकर भारतीय आध्यात्मवाद को गहरी ठेस पहुंचाई है।

5. ***व्यक्ति व समाज के सम्बन्धों के आधार पर आलोचना (Criticism on the basis of relationship between Man and Society)***–राय ने समाज में व्यक्ति को सर्वाधिक महत्व दिया है। व्यक्ति राय के मानवतावादी चिन्तन व समाज का आधार है। व्यक्ति समाज से पहले है। समाज व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति समाज के लिए नहीं। परन्तु राय की यह दष्टि गलत है। व्यक्ति का समाज के बिना कोई महत्व नहीं है। अरस्तु जैसे दार्शनिकों ने व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी माना है। इसलिए समाज के बिना उसकी कल्पना करना असम्भव है। उसका समाज में ही जन्म होता है, विकास होता है और अन्त होता है। सच तो यह है कि व्यक्ति और समाज परस्पर निर्भर हैं। वे एक सिक्के के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं।

6. ***मनुष्य की विवेकशीलता पर अधिक जोर (Too much emphasis on the rationality of Man)***–राय ने व्यक्ति को एक विवेकशील प्राणी मानकर उस पर ही अपना मानवतावाद का सिद्धान्त खड़ा किया है। लेकिन वह यह बात भूल गया है कि मनुष्य में विवेक के साथ–साथ भावनाओं का भी काफी महत्व है। इतिहास साक्षी है कि मनुष्य ने अनेक कार्य विवेक की बजाय भावनात्मक किए हैं।

7. ***राज्य एक अनिवार्य संस्था है (State is an essential Institution)***–राय ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता के चक्कर में राज्य को गौण संस्था बना दिया है। उसके अनुसार राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधा उत्पन्न करता है। समाज की समस्त संस्थाएं राज्य पर ही आधारित होती है। इसलिए राज्य एक अनिवार्य संस्था है। समाज में व्यक्ति का जीवन शांतिमय बनाने के लिए राज्य आवश्यक कानूनों का निर्माण करके उन्हें लागू करता है। इसलिए राज्य को गौण संस्था मानना राज्य की बड़ी भूल है।

8. ***शक्तिहीन राजनीति असम्भव है (Politics without power is impossible)***–राय ने वर्तमान राजनीति को शक्ति प्राप्ति के लिए संघर्ष कहा है। इसको बढ़ावा देने में राजनीतिक दलों का हाथ होता है। इसलिए उसने लोगों को नैतिकता का पाठ पढ़ाकर राजनीति को नैतिकता पर आधारित करने की बात कही है। परन्तु आधुनिक युग में शक्तिहीन राजनीति की कल्पना करना निरर्थक है। शक्ति सत्ता की प्रमुख विशेषता है। शक्ति के बिना राजनीति नहीं चल सकती। शासक को देश की विघटनकारी

ताकतों से निपटने के लिए व शांति स्थापना के लिए बल प्रयोग अवश्य करना पड़ता है। इसलिए राय की शक्ति–विहीन राजनीति की कल्पना निराधार है।

9. ***मौलिक लोकतन्त्र अव्यावहारिक है (Radical Democracy is Impracticable)***–यद्यपि राय का मौलिक लोकतन्त्र उसके मानवतावाद का अटूट अंग है। लेकिन व्यवहार में इसे लागू करना असम्भव है। राय ने दलों को समाप्त करके प्रजातन्त्र को दल–विहीन करने की जो बात की है, वह किसी भी रूप में उचित नहीं है। आधुनिक लोकतन्त्र में दलों का बहुत महत्व है। दल लोगों को राजनैतिक शिक्षा देते हैं। लोगों की प्रभुसत्ता का सिद्धान्त दल ही लागू करते हैं। आज विश्व के सभी देशों में दलों की संख्या दिन–प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। इसलिए दल–विहीन प्रजातन्त्र की कल्पना असम्भव है।

10. ***राष्ट्रवाद विरोधी भावना***–राय का मानवतावाद राष्ट्रवाद विरोधी है। राय ने राष्ट्रीयता की अवहेलना करके विश्व समाज की कल्पना की है। उसने अपने मानवतावाद के चक्कर में राष्ट्रवाद की बलि दे दी है। जो व्यक्ति राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर अपने पड़ोसी को भाई न समझता हो, वह विश्व–बन्धुत्व के लक्ष्य को कैसे प्राप्त करेगा। राय की राष्ट्रीयता तथा मानवतावाद में अत्यधिक विरोधाभास होने के कारण इसे अस्वीकार किया जाने लगा है। राष्ट्रीयता की भावना की अवहेलना करना उन करोड़ों लोगों की भावना का मजाक उड़ाना है, जिन्होंने देश की आजादी के लिए संघर्ष किया है। राष्ट्रीयता की भावना ही लोगों को एकता के शत्रु में बांधे रखती है। जिस देश में राष्ट्रीयता की भावना न हो, वह अवश्य ही पतन की राह पर चल रहा होता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राय के मौलिक मानवतावाद की अनेक आधारों पर आलोचना की गई है। कुछ आलोचनाएं सही भी हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि राय का मौलिक मानवतावाद का सिद्धान्त अव्यावहारिक है। राय की विश्व– बन्धुत्व की कल्पना निराधार नहीं है। इसमें कोई झूठ नहीं है कि वर्तमान राजनीति में दल ही भ्रष्टाचार के जनक हैं। इसी तरह अन्य आधारों पर भी राय का चिन्तन भारतीय व पाश्चात्य समाज को एक महत्वपूर्ण देन है।

नाम पर लोकतन्त्र की ही बलि चढ़ाई जा रही है। स्वतन्त्रता व अधिकारों का केन्द्रीकरण हो रहा है। सत्ता लोलुप गिने–चुने व्यक्तियों द्वारा ही लोकतन्त्र के लाभों को प्राप्त किया जा रहा है। आम आदमी के लिए स्वतन्त्रता एक स्वप्न बनकर रह गई है। इसलिए राय ने कहा है कि सम्पूर्ण जनता के लाभों के अभावों में लोकतन्त्र सच्चा लोकतन्त्र नहीं हो सकता, राय ने लिखा है–"सभी लोकतन्त्र की बात करते हैं, फिर भी कहीं भी हमें जनता के द्वारा प्रत्यक्ष शासन के कहीं दर्शन नहीं होते।" वस्तुतः आज लोकतन्त्र का वास्तविक स्वरूप एक आदर्श और सिद्धान्त के रूप में राजनीतिक ग्रन्थों में कैद है। यह आम व्यक्ति के लिए एक मगमरीचिका के समान है, जिसके लाभ उसे प्राप्त नहीं हो सकते। लोकतन्त्र के सिद्धान्तों का व्यवहार से दूर का भी रिश्ता नहीं है। जनता की सम्प्रभुता संवैधानिक घोषणाओं तक ही सीमित है और व्यवहार में व्यक्ति की राजनीतिक भागीदारी, अधिकारों तथा उसकी गरिमा का कोई महत्व नहीं है। इसलिए प्रजातन्त्र का वर्तमान स्वरूप कहने के नाम पर तो जनता के लिए है, व्यवहार में यह गिने–चुने व्यक्तियों के हितों का ही पोषण करने वाला है। इसलिए राय ने संगठित प्रजातन्त्र की अवधारणा का विकास किया। ताकि साधारण व्यक्ति भी लोकतन्त्र के फायदों को प्राप्त कर सकें।

संसदीय लोकतन्त्र की आलोचना
(Criticism of Parliamentary Democracy)

राय ने अपनी संगठित प्रजातन्त्र की अवधारणा का विकास करने के लिए सबसे पहले वर्तमान समय में प्रचलित संसदीय लोकतन्त्र को अपनी आलोचना का शिकार बनाया है। उसका कहना है कि वर्तमान लोकतन्त्र में जनता के हितों व नैतिक सिद्धान्तों की बलि देकर समाज को पतन की तरफ धकेल दिया जाता है। आज लोकतन्त्र के सिद्धान्त और व्यवहार में दिन–रात का अन्तर है। इसलिए दलों के कठोर अनुशासन के कारण अधीन व्यक्तियों की स्थिति एक मशीनी पुर्जे के समान बनकर रह गई है। इसलिए राय ने संसदीय प्रजातन्त्र को अपनी आलोचना का शिकार बनाकर, उसके दोषों को बताकर, उन्हें दूर करने के लिए सगठित प्रजातन्त्र का सिद्धान्त पेश किया है। उसके द्वारा संसदीय लोकतन्त्र की निम्नलिखित आलोचनाएं की गई हैं:–

1. ***शक्ति का केन्द्रीयकरण***–राय का कहना है कि संसदीय प्रजातन्त्र में राजनीतिक सत्ता सारे लोगों के हाथों में न होकर थोड़े से प्रभावशाली व्यक्तियों के हाथों में आ गई है। लोकतन्त्र के नाम पर निरंकुशता का बोलबाला है। संसदीय लोकतन्त्र में प्रभावशाली लोग राजनीतिक सत्ता का प्रयोग स्वार्थपूर्ण कार्यों के लिए करते हैं। इससे सत्ता का दुरुपयोग बढ़ता है और आम व्यक्ति के हितों की बलि दी जाती है। इसलिए जनता स्वामी न होकर एक नौकर बनकर रह जाती है। इसलिए इसको समाप्त करके ही शक्ति के केन्द्रीयकरण पर अंकुश लगाया जा सकता है।

2. ***सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर***–राय का मानना है कि वर्तमान प्रजातन्त्र में शासक वर्ग जनता से लुभावने वायदे तो करता है, लेकिन उन्हें पूरा करने के लिए कोई प्रयास नहीं करता। आधुनिक राजनीतिज्ञों की कथनी और करनी में बहुत अन्तर है। चुनावी वायदे जीत तक ही सिमटकर रह जाते हैं। "सिद्धान्त में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का आदर्श स्वीकार तो कर लिया जाता है, परन्तु मनुष्य को सामूहिक नियन्त्रण व सामूहिक कल्याण में जलमग्न कर दिया जाता है, जिससे व्यक्ति सच्ची स्वतन्त्रता का आनन्द नहीं उठा सकता।"

3. ***प्रतिनिधि शासन***—राय का कहना है कि आधुनिक समय में शासन की बागडोर जनता के हाथों में न होकर प्रतिनिधियों के हाथों में होती है। प्रतिनिधि जनता द्वारा प्रदत्त शक्तियों का गलत प्रयोग करते हैं और जनता के हितों की अनदेखी करने लगते हैं। विधि—निर्माण और प्रशासन में जनता की कोई भागीदारी नहीं होती, जनता को वोट बैंक समझने के अतिरिक्त शासक वर्ग जनता के लिए कोई विशेष काम नहीं करता जिससे उसे फायदा हो। इसलिए लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि शासन की बागडोर वास्तविक रूप में जनता के पास ही हो।

4. ***राजनीतिक दलों की भूमिका***—राय का मानना है कि राजनीतिक दल चुनाव जीतने के लिए अनैतिक साधनों का प्रयोग करते हैं। वे राजनीतिक भ्रष्टाचार को जन्म देते हैं और अप्रत्यक्ष रूप से क्षेत्रवाद, सम्प्रदायवाद तथा जातिवाद को बढ़ावा देते हैं। जनता के हित में उनका कोई सकारात्मक योगदान नहीं होता, दलीय व्यवस्था लोकतन्त्र को विकृत बनाने में अपना पूर्ण योगदान देती है। इसलिए दल—विहीन प्रजातन्त्र की स्थापना होना जरूरी है ताकि जनता को दल—प्रणाली के दुष्प्रभावों से बचाया जा सके।

5. ***जनहित की उपेक्षा***—संसदीय लोकतन्त्र में जन—भावनाओं के साथ खिलवाड़ किया जाता है। लोकतन्त्र पूंजीपति के साथ खिलवाड़ किया जाता है। लोकतन्त्र पूंजीपति वर्ग के हाथों की कठपुतली बनकर रह जाता है। पूंजीपति वर्ग जनता के हितों को अ पनी इच्छापूर्ति के लिए बलि चढ़ाने में संकोच नहीं करते। इससे सामाजिक और आर्थिक विषमताओं में वद्धि होती है। संसदीय लोकतन्त्र पूंजीपति वर्ग का शासन है जो गरीबों का खून चूसता है और स्वयं मोटा ताजा हो जाता है। अर्थव्यवस्था के सारे लाभ पूंजीपतियों की जेब में जाते हैं। इसलिए राय ने विकेन्द्रित व नियोजित अर्थव्यवस्था का सुझाव दिया है ताकि वर्तमान आर्थिक असमानता को कम किया जा सके। इससे जनता के हितों की रक्षा होगी और अर्थव्यवस्था के लाभ पूंजीपतियों की जेबों में जाने पर अंकुश लगेगा।

इस प्रकार राय ने संसदीय प्रजातन्त्र को ऐसे लोगों का समूह माना है जो शक्तियों के केन्द्रीयकरण के द्वारा राजनीतिक दलों के माध्यम से स्वार्थ सिद्धि के कार्यों में लिप्त रहते हैं। राजनीतिक लोगों को राजनीतिक शिक्षा देने की बजाय उन्हें शब्द जाल में फंसाए रहते हैं ताकि वे उनकी निरंकुशता के खिलाफ आवाज न उइाए। संसदीय प्रजातन्त्र में नैतिकता और न्याय दोनों की ही बलि देकर पूंजीपति वर्ग अपने हितों की पूर्ति करते हैं। इसलिए राय ने सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के लिए दल—विहीन लोकतन्त्र की स्थापना का सुझाव दिया है और अपनी इस अवधारणा का नाम 'संगठित लोकतन्त्र' की अवधारणा रखा है।

संगठित लोकतन्त्र की अवधारणा
(Concept of Organised Democracy)

राय का कहना है कि संसदीय लोकतन्त्र में जनता के अधिकारों का हनन होता है। इसलिए लोकतन्त्र को व्यावहारिक बनाने पर जोर दिया है ताकि देश व समाज दोनों का ही कल्याण हो सके। उनका कहना है कि एक लोकतन्त्र के अन्दर स्थित सभी संस्थाएं—चाहे वे धार्मिक हों या राजनीतिक आधुनिक युग में धनी वर्ग के हितों का ही पोषण कर रही हैं। इसलिए व्यक्ति के लिए ऐसे राजनीतिक ढांचे का निर्माण जरूरी है जो व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने वाला हो और विकेन्द्रीकरण पर आधारित हो। इसलिए उन्होंने संगठित या मौलिक लोकतन्त्र की धारणा का प्रतिपादन किया है।

संगठित लोकतन्त्र की विशेषताएं
(Characteristics of Organised Democracy)

राय के संगठित लोकतन्त्र की विशेषताएं निम्नलिखित हैः–

1. ***मौलिक लोकतन्त्र (Radical Democracy)***–राय ने अपने संगठित लोकतन्त्र के लिए मौलिक लोकतन्त्र का प्रयोग किया है। उनका कहना है कि 'Radical' शब्द लैटिन भाषा के 'Radix' शब्द से लिया गया है। इसका लैटिन भाषा में अर्थ है–जड़ों से (From the roots)। इससे राय का अर्थ है–नीचे से या स्थानीय शासन। इस प्रकार राय की 'Radical Democracy' का अर्थ है–"मौलिक लोकतन्त्र वह लोकतन्त्र है जो समाज के निम्नतन स्तर के आधार पर संगठित हो।" अर्थात् राय ने स्थानीय स्वशासन को अपनी संगठित लोकतन्त्र की अवधारणा का आधार बनाया है।

2. ***मौलिक मानवतावाद से सम्बन्धित (Associated with Radical Humanism)***–राय की संगठित लोकतन्त्र की अवधारणा उनके प्रमुख सिद्धान्त नव मानवतावाद या मौलिक मानवतावाद की पूरक है। उनके अनुसार–"नव मानवतावाद तथा संगठित लोकतन्त्र एक–दूसरे में घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं। संगठित लोकतन्त्र के बिना मौलिक मानवतावाद को अमली जामा नहीं पहनाया जा सकता।" राय का मौलिक मानवतावाद (Radical Humanism) एक ऐसी विचारधारा है जिसे व्यवहारिक रूप देने के लिए मौलिक लोकतन्त्र की आवश्यकता है। राय ने अपने सिद्धान्त–मनुष्य प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है तथा वह अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है, आधारभूत मान्यताओं को मौलिक लोकतन्त्र में भी स्थान दिया है। ये मान्यताएं ही मौलिक लोकतन्त्र की मेरुदण्ड है। इनके बिना सच्चे लोकतन्त्र की कल्पना करना भी असम्भव है अर्थात् मानवतावाद का व्यावहारिक रूप मौलिक लोकतन्त्र में ही सम्भव है।

3. ***सत्ता का विकेन्द्रीकरण (Decentralization of Powers)***–राय का कहना है कि शक्तियों का केन्द्रीयकरण भ्रष्टाचार को जन्म देता है। इसलिए उन्होंने अपनी संगठित प्रजातन्त्र की अवधारणा में सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर जोर दिया है। राय का कहना है कि अधिक से अधिक व्यक्तियों को शासन व सत्ता में भागीदार बनाए बिना सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना नहीं हो सकती। जनता की भागीदारी ही दल–विहीन प्रजातन्त्र की स्थापना कर सकती है और दलीय प्रणाली के दोषों को समाप्त कर सकती है। इसलिए उन्होंने संगठित लोकतन्त्र में राजनीतिक शक्ति को संसदीय लोकतन्त्र की तरह राष्ट्रीय और प्रांतीय स्तर पर संगठित न करके व्यापक तौर पर स्थानीय स्तर पर संगठित करने का सुझाव दिया है। उनका मानना है कि स्थानीय लोगो के सहयोग से ही जनसमितियों के गठन के माध्यम से दल–विहीन प्रजातन्त्र की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो सकता हैं इससे जनता की सम्प्रभुता भी सुनिश्चित रहेगी और प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रता का सच्चा आनन्द उठा सकेगा।

4. ***दल विहीन प्रजातन्त्र (Party less Democracy)***–राय का मानना है कि दल राजनीतिक भ्रष्टाचार के जनक हैं। ये जनता को राजनीतिक शिक्षा देने की बजाय उसे शब्द जाल में फंसाकर सत्ता पर अपना वर्चस्व बनाए रखते हैं। इससे जनता के हितों की लगातार अनदेखी होती रहती है। ये उचित अनुचित का कोई ध्यान नहीं रचाते। इसलिए उन्होंने अपनी संगठित लोकतन्त्र की अवधारणा में दलों को समाप्त करने का सुझाव दिया है। यद्यपि राय जानते थे कि दलों की समाप्ति लोकतन्त्र से असम्भव है, इसलिए

उन्होंने दलों के स्थान पर जन–समितियों की स्थापना का विकल्प चुना। उसने अपने लोकतन्त्र में बुद्धिजीवियों को विशेष महत्व दिया है ताकि वे जन–समितियों के सदस्य बनकर अपनी योग्यता से जनता का कल्याण कर सकें।

5. ***मौलिक लोकतन्त्र एक सर्वोच्च आदर्श के रूप में (Radical Democracy as a Supreme Ideal)***–राय का मानना है कि सभी तानाशाही शासन प्रणालियां (नाजीवाद, फासीवाद) जनता के हितों के शत्रु होते हैं। इनमें व्यक्ति की गरिता का कोई ध्यान नहीं रखा जाता। प्रैस की स्वतन्त्रता व बोलने की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगा दिए जाते हैं। इससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दमन होता है और व्यक्ति का सर्वांगीण विकास रूक जाता है। तानाशाही शासन मानव सभ्यता के लिए बहुत खतरनाक होता है। तानाशाही शासन प्रणालियां धर्म व नैतिकता की भी परिभाषाएं बदल देती हैं। इनमें शासन की बागडोर अल्पसंख्यकों के हाथ में होने के कारण बहुसंख्यकों की राय का दमन होता है, जो सच्चे लोकतन्त्र के आदर्श के विपरीत है। इसलिए सभी प्रकार की सैनिक व तानाशाही प्रणालितयों से लोकतन्त्र ही श्रेष्ठ है। यही वह सर्वोच्च आदर्श है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता व सम्प्रभुता को नष्ट होने से बचा सकता है।

6. ***मौलिक लोकतन्त्र में धार्मिक बन्धनों का अभाव है (Radical Democracy in free from Religious restrictions)***–राय का कहना है कि संसदीय लोकतन्त्र में धर्म की दीवार खड़ी करके लोगों को भाग्य के सहारे जीने के लिए मजबूर किया जाता है। धर्म के नाम पर जनता से वोट मांगे जाते हैं और साम्प्रदायिकता का जहर भी फैलाया जाता है। इसलिए उन्होंने प्रजातन्त्र में धर्म को कोई स्थान नहीं दिया है। उनका मौलिक लोकतन्त्र धार्मिक व आध्यात्मिक शक्तियों के लिए कोई व्यवस्था नहीं करता। पूंजीवादी लोकतन्त्र में ही धर्म के आधार पर जनता को भाग्यवादी बनाया जाता है। राय का कहना है कि उनके मौलिक लोकतन्त्र में इस तरह की संस्थाओं का कोई स्थान नहीं हो सकता।

7. ***विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था (Decentralized Economy)***–राय का मानना है कि राजनीतिक सत्ता की तरह आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण भी आर्थिक व सामाजिक विषमताओं को जन्मदेता है। राय का कहना है कि आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई महत्व नहीं है। इसलिए उन्होंने आर्थिक साधनों के रूपान्तरण के लिए विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का सुझाव दिया है। उनकी यह व्यवस्था–नियोजन व सहकारिता पर आधारित होगी। उनका कहना है कि आर्थिक ढांचे को मजबूत बनाने के लिए नियोजन (Planning) का होना बहुत जरूरी है। इसी तरह उत्पादन के साधनों पर थोड़े से व्यक्तियों के स्थान पर सार्वजनिक नियन्त्रण होना चाहिए ताकि पूंजी के केन्द्रीयकरण को रोका जा सके, परन्तु इस सारी प्रक्रिया में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पूरा ध्यान रखना जरूरी होगा ताकि नव मानवतावाद की विचारधारा को व्यावहारिक रूप दिया जा सके और मौलिक लोकतन्त्र की स्थापना हो सके।

मौलिक लोकतन्त्र का राजनीतिक संगठन (Political Organisation of Radical Democracy)

राय के अनुसार उसके मौलिक लोकतन्त्र का संगठनात्मक ढांचा निम्नलिखित होगाः–

1. ***जन समितियां***–राय का मानना है कि जनता सभी शक्तियों का स्रोत होती है। जनता की सम्प्रभुता स्थानीय जनसमितियों के माध्यम से अभिव्यक्त की जाएगी। इन समितियों

का निर्वाचन व्यस्क मताधिकार के आधार पर बिना लिंग–भेद के किया जाएगा। प्रत्येक 50 मतदाताओं पर एक प्रतिनिधि का निर्वाचन किया जाएगा। उपखण्डीय जन समितियों के, प्रत्येक स्थानीय समिति द्वारा निर्वाचित एक प्रतिनिधि होगा। जिला स्तरीय समिति में प्रत्येक उपखण्डीय समिति द्वारा 5-5 प्रतिनिधि भेजे जाएंगे। ये समितियां स्थानीय स्वशासन के कार्यों का निर्वहन करेंगी। ये लोकतन्त्रात्मक शक्ति को प्रभावशाली बनाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान देंगी।

II. ***प्रांतीय लोक-परिषद***–राय ने अपने मौलिक लोकतन्त्र के संगठनात्मक ढांचे में प्रांतीय शासन के लिए प्रांतीय लोक–परिषद की स्थापना का सुझाव दिया है। इसके सदस्यों का चुनाव व्यस्क मताधिकार के आधार पर 4 वर्ष के लिए जनता द्वारा सीधा किया जाएगा। इसके गर्वनर का चुनाव भी व्यस्क मताधिकार के द्वारा 5 वर्ष के लिए किया जाएगा। इसके पास कार्यपालिका तथा विधायी दोनों प्रकार की शक्तियां होंगी। इसकी शक्तियों का पथक्करण नहीं किया जाएगा। प्रांतीय परिषद की एक मन्त्रिपरिषद भी होगी और शक्तियों का केन्द्रीयकरण रोकने के लिए स्थायी समितियां भी होंगी। गर्वनर को पद से हटाने के लिए प्रांतीय परिषद के 40% सदस्यों का बहुमत आवश्यक होगा। उसे हटाने का अन्तिम निर्णय जनमत संग्रह द्वारा ही किया जाएगा।

III. ***सर्वोच्च जन-परिषद***–राय का कहना है कि सरकार के समस्त विधायी और कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य सर्वोच्च जन परिषद द्वारा ही किए जाएंगे। यह परिषद द्विसदनात्मक होगी, जिसके दो सदन–संघीय सभा तथा राज्य सभा होंगे। दोनों के संयुक्त अधिवेशन को ही सर्वोच्च जन–परिषद कहा जाएगा। गर्वनर जरनल सर्वोच्च जन परिषद की बैठकों की अध्यक्षता करेगी व सत्र बुलाएगा। संघीय सभा में संघ की व्यवस्थापन (Legislation) शक्तियां निहित होंगी। इसमें पूरे संघ की जनता के प्रतिनिधि शामिल होंगे। इसका गठन प्रांतों के प्रतिनिधियों द्वारा किया जाएगा। प्रत्येक प्रान्त समान प्रतिनिधि निर्वाचित करेगा। इसी तरह राज्य सभा के सदस्यों के चुनाव के लिए व्यावसायिक समूह अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करेंगे जिन्होंने समाज विज्ञान और दर्शन का ज्ञान होगा। इसके अतिरिक्त 3 सिविल सेवकों को भी राज्य सभा में मनोनीत किया जाएगा। गर्वनर जरनल नाममात्र का कार्यपालक अध्यक्ष होगा। इस प्रणाली का प्रमुख दोष यह है कि राय ने गर्वनर जरनल की शक्तियों का स्पष्टीकरण नहीं दिया है। इसी तरह का दोष प्रांतीय गवर्नर के लिए भी है।

संसदीय लोकतन्त्र से मौलिक लोकतन्त्र में परिवर्तन (Transition from Parliamentary Democracy to Radical Democracy)

राय इस बात को भली–भांति जानते थे कि दलीय व्यवस्था को दल–विहीन बनाना आसान काम नहीं है। इसलिए उन्होंने संसदीय लोकतन्त्र को मौलिक लोकतन्त्र में बदलने के लिए संक्रमण काल की व्यवस्था की है। इसके लिए उन्होंने दो व्यवस्थाएं दी हैं–

I. ***जनता के लिए शिक्षा (Education for the people)***–राय का कहना है कि जब तक लोग शिक्षित नहीं होंगे, तब तक उनमें आत्मनिर्भरता और आत्म–सम्मान का भाव विकसित नहीं हो सकता। शिक्षित जनता ही अपने अधिकारों के महत्व को समझ सकती है। उनके अनुसार शिक्षा ही व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करती है। शिक्षा देश व समाज की उन्नति का आधार है। उनके अनुसार शिक्षा का अर्थ है–व्यक्ति की क्षमताओं, विवेक और उत्तरदायित्वों को विकसित करने की क्षमता तथा इनका व्यावहारिक प्रशिक्षण। इस प्रकार राय शिक्षा के द्वारा एक वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात करना

चाहते थे ताकि व्यक्ति की गरिमा में वद्धि हो और प्रत्येक व्यक्ति समाज में अपना स्थान सुनिश्चित कर सके। इस प्रकार राय ने शिक्षा के द्वारा राजनीतिक सत्ता के रूपान्तर के साथ–साथ सामाजिक परिवर्तन का भी मार्ग प्रशस्त किया है।

II. ***आर्थिक विकेन्द्रीकरण (Economic Decentralization)***–राय का कहना है कि संसदीय प्रणाली को मौलिक लोकतन्त्र में रूपान्तरित करने का स्वप्न तब तक अधूरा रहेगा, जब तक आर्थिक शक्तियों या उत्पादन की शक्तियों का विकेन्द्रीकरण न किया जाएगा। इसलिए उन्होंने नियोजित अर्थव्यवस्था तथा सहकारी अर्थव्यवस्था की स्थापना पर बल दिया है। उनका कहना है कि बिना नियोजन के देश का आर्थिक विकास नहीं हो सकता। उत्पादन के विकेन्द्रीकरण के बिना पूंजीवाद को नष्ट नहीं किया जा सकता। इसी तरह सहकारिता की भावना भी आर्थिक समस्याओं का समाधान करने में मदद करेगी, इसी से नए समाज की रचना होगी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विकास होगा और सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना होगी।

इस प्रकार राय ने अपनी संगठित लोकतन्त्र की अवधारणा में लोकतन्त्र के सच्चे स्वरूप पर व्यापक प्रकाश डाला है। उसने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को हर कीमत पर बचाने के लिए दलों को ही समाप्त करने का सुझाव दिया है। इसलिए उसके मौलिक लोकतन्त्र को दल–विहीन लोकतन्त्र भी कहा जाता है। इतना होने के बावजूद भी उनकी मौलिक लोकतन्त्र की अवधारणा की कुछ आलोचनाएं भी हुई हैं।

मौलिक लोकतन्त्र की आलोचना
(Criticism of Radical Democracy)

राय की मौलिक लोकतन्त्र की अवधारणा की प्रमुख आलोचनाएं निम्नलिखित हैं–

1. राय ने राजनीतिक स्वतन्त्रता की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को अधिक महत्व दिया है।
2. राय ने धर्म की आलोचना करके भारतीय आध्यात्मवाद को गहरी ठोस पहुंचाई है।
3. राय ने दल–विहीन लोकतन्त्र की कल्पना की है। आधुनिक लोकतन्त्र में दल जनमत को अभिव्यक्त करने वाले महत्वपूर्ण साधन है। यद्यपि दल राजनीतिक भ्रष्टाखर के जनक हैं, फिर भी उनके महत्व को कम नहीं आंका जा सकता।
4. राय का सहकारिता का विचार अप्रासांगिक है। सहकारिता में विश्वास रखने वाले लोग बहुत ही कम होते हैं। रुस में सहकारिता के होते हुए भी वहां की अर्थव्यवस्था बुरी तरह नष्ट हो गई।
5. राय ने जन–समितियों को बहुत महत्व दिया है। भारत में गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी आदि समस्याओं के होते हुए जन–समितियों के माध्यम से देश का शासन चलाना एक कठिन कार्य है।

इस प्रकार राय की संगठित प्रजातन्त्र की अवधारणा को अनेक आलोचनाओं का शिकार होना पड़ा है। उनकी दल–विहीन प्रजातन्त्र की धारणा को वास्तविक रूप देना एक असम्भव कार्य है। फिर भी राय ने नियोजित अर्थव्यवस्था का जो विचार दिया है, वह काफी महत्वपूर्ण है। आज विभिन्न देशों की अर्थव्यवस्था के विकास में नियोजन के महत्व से नकारा नहीं जा सकता। उनका व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विचार आधुनिक उदारवादी राजनीतिक चिन्तन के लिए एक महत्वपूर्ण देन है।

राय का आलोचनात्मक मूल्यांकन
(Critical Evaluation of Roy)

राय का चिन्तन एक ऐसी व्यवस्था की खोज के प्रति समर्पित आग्रह का परिणाम है, जिसमें व्यक्ति की गरिमा को अक्षुण्ण रखते हुए, उसकी भौतिक, नैतिक और आर्थिक उन्नति को सुनिश्चित किया जाए। राय ने अपने लम्बे अनुभवों के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि वर्तमान राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्था मानव के समग्र कल्याण का मार्ग निश्चित नहीं करती। उसने अपने राजनीतिक चिन्तन में मानव की स्वतन्त्रता को बनाए रखने व उसमें वद्धि करने के उद्देश्य से कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों की खोज करने का प्रयास किया है। उसने व्यक्ति की गरिमा को नई पहचान देने के लिए अपना नव–मानवतावाद का महत्वपूर्ण सिद्धान्त पेश किया है। इसी कारण वह पूर्ववर्ती तथा समकालीन विचारकों के श्रेष्ठ बन गया है। उनका विश्व–बन्धुत्व का विचार मानव अधिकारों की रक्षा का एक महत्वपूर्ण प्रयास है। उसने संसदीय लोकतन्त्र के दोषों को पहचानकर लोकतन्त्र को एक नया आयाम देने का प्रयास किया है। दल विहीन प्रजातन्त्र के विचार द्वारा उन्होंने राजनीति दलों की नकारात्मक भूमिका के प्रति गहरा क्षोभ व्यक्त किया है। उसने रूढ़िवादी मार्क्सवाद के जाल से मानव स्वतन्त्रता को बाहर निकालने का प्रयास किया है।

इतना होने के बावजूद भी अनेक विद्वानों ने उनके विचारों की आलोचना की है। डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने उनके चिन्तन का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि राय आधुनिक भारत में दर्शन व राजनीतिक लेखकों में सबसे महान थे। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि उसने धर्म के प्रति दुराग्रही होने का ही परिचय दिया है व उसने हिन्दू संस्कृति को ठीक से न समझने की भारी गलती की है। वास्तव में उनका चिन्तन न तो मौलिक है और न गम्भीर। फिर भी अन्य भारतीय चिन्तकों में सबसे अधिक विद्वान विचारक राय ही है। इस प्रकार वर्मा ने भी राय के विचारों के महत्व को स्वीकार किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राय का स्थान भारतीय राजनीतिक चिन्तन में बहुत महत्वपूर्ण है।

अध्याय-4: माओ-त्से-तुंग (Mao-Tse-Tung)

परिचय (Introduction)

चीनी साम्यवाद के जनक व आधुनिक चीन के निर्माता माओ–त्से–तुंग चीनी इतिहास के साथ–साथ विश्व इतिहास के भी महान व्यक्ति हैं। उनके राजनीतिक विचार ऐसे समय की उपज हैं, जब चीन राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रहा था। माओ–त्से–तुंग ने केवल राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन ही नहीं किया, अपितु स्वाधीनता संघर्ष में व्यापक जनसमूहों को संगठित किया और साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष भी किया। इस दष्टि से माओ, चीनी समाज में सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक परिवर्तन के महान नायक हैं। उन्होंने मार्क्सवाद–लेनिनवाद के क्रान्ति के सिद्धान्त को चीनी रूप प्रदान किया और चीन में क्रान्ति का सफल नेतत्व किया। उसने मार्क्स व लेनिन द्वारा उपेक्षित किसान वर्ग को अपने साम्यवाद में सर्वाधिक महत्व देकर साम्यवाद को नया अर्थ प्रदान किया। उन्होंने अपने शासनकाल में ही चीन को विश्व की एक महान शक्ति बनाया और लम्बे समय से पटरी से उतरी हुई अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाया। माओ ने शक्ति व युद्ध को अनिवार्य मानते हुए चीन में राष्ट्रवाद की भावना का संचार किया। उसके महान कार्यों के कारण उन्हें चीनी जनता ने अपना नायक माना और उनकी घर–घर पूजा होने लगी। उनके ग्रन्थों को गीता तथा बाईबल की संज्ञा दी गई और उनके विचारों को वेद–वाक्य कहा गया। इस दष्टि से माओ चीन की साम्यवादी क्रान्ति का कर्णधार है और चीनियों का आराध्य देव है। अतः माओ जैसा प्रसिद्ध व्यक्ति चीन के इतिहास में कोई अन्य नहीं है। वे चीनी इतिहास के पुराण पुरुष हैं।

जीवन परिचय (Life Sketch)

चीनी साम्यवादी क्रान्ति के कर्णधार व सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त के उन्नायक माओ–त्से–तुंग का जन्म मध्य चीन के दक्षिण स्थित हुनान प्रान्त के शाओ शान गांव में एक निर्धन किसान के घर 26 दिसम्बर 1893 को हुआ। उनके पिता का स्वभाव कठोर था, किन्तु उनकी माता दया की एक साक्षात मूर्ति थी। माओ बचपन से ही धुन के पक्के थे। वे हर कार्य लगन से करते थे। उन्होंने चीन की राष्ट्रीय परिस्थितियों से अपने को बचपन में ही अवगत करा लिया था। उन्होंने अपने पिता के साथ 7 वर्ष की आयु में ही कृषि कार्यों में हाथ बंटाना और सामंतवादी व्यवस्था को अच्छी तरह समझना शुरू किया। उनके पिता ने उन्हें कुछ पढ़ाई लिखाई का ज्ञान दिलाने हेतु एक निजी शिक्षक के पास भेजना शुरू किया। माओ का मन पुस्तकों में लग गया। उन पर बाल्यकाल में ही 'दा रोमांस ऑफ दॉ मंकी वॉटर मार्जिन' तथा 'दॉ रोमांस ऑफ दॉ थ्री किंगडम्स' दो उपन्यासों का प्रभाव पड़ गया। लेकिन उनके पिता ने 12 वर्ष की आयु में ही उन्हें शिक्षा से दूर करके खेती–बाड़ी के काम में लगा लिया। लेकिन माओ चैन से बैठने

वाले नहीं थे। उन्हें 14 वर्ष की आयु में दोबार पढ़ना शुरू कर दिया। 1907 में उनका विवाह हुआ लेकिन जल्दी ही विवाह–विच्छेद हो गया।

माओ को राष्ट्रीय परिस्थितियों का आभास होना शुरू हुआ तो वे राजनीतिक व सामाजिक आन्दोलनों का इतिहास पढ़ने लगे। 1911 में उन्हें वुहान से शुरू होने वाली प्रथम क्रान्ति देखी। उस समय उनकी आयु 18 वर्ष थी। इस क्रान्ति का उनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा और उनमें उग्र–राष्ट्रवाद की भावना का संचार हुआ। उन्होंने इस क्रान्ति का व्यापक विश्लेषण किया। वह 1911 में यागंशा में सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए फौज में भर्ती हो गया। 1912 में फौजी प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद उसने फौज छोड़ दी। इसके बाद उसका रूझान चीनी समाजवाद की तरफ हो गया। 1912 में उसने च्यांग कांग हू की 'चीनी सोशलिस्ट पार्टी' की नीतियों की प्रशंसा की। इसके बाद माओ ने हुनान पुस्तकालय में एडम स्मिथ, मांटेस्क्यू, मिल, डार्विन, रुसो आदि के विचारों को पढ़ा। उसने रुस, अमेरिका, इंग्लैण्ड और फ्रांस के इतिहास का भी अध्ययन किया। 1918 में वे उच्च माध्यमिक शिक्षा समाप्त करके पीकींग चला गया और वहां पुस्तालयाध्यक्ष की नौकरी की। 1920 में माओ पर रुसी मार्क्सवाद का प्रभाव पड़ने लगा और वह रुसी समाजवाद का महान समर्थक बन गया। 1921 में उसने कम्युनिस्ट पार्टी के संघाई सम्मेलन में भाग लिया और वहां उसे पार्टी की हुनान शाखा का सचिव चुना गया। 1925 में च्यांग काई शेक ने सुनयात सेन के निधन पर कोमिनतांग पार्टी की बागडोर संभाली। च्यांग काई शेक ने कम्युनिस्टों पर प्रहार शुरू कर दिए और माओ को जान बचाकर भागना पड़ा। माओ दुर्गम देहाती इलाकों में चले गए और वहां पर किसानों की सोवियतें बनाकर क्रान्तिकारी संगठन को मजबूत बनाया। 1927 में उसने च्यांगशा में विफल किसान क्रान्ति का भी नेतत्व किया। 1946 तक माओ ने स्वयं को क्रान्ति के लिए संगठित कर लिया था। इस दौरान उसे कदम–कदम पर कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। उसकी दूसरी पत्नी व उसके अनेक साथियों को कोमिनतांग सरकार ने मत्यु के घाट उतार दिया, लेकिन माओ के इरादे अटल रहे।

1946 में ऐसा समय आया जब माओ को अपनी क्रान्ति को सफल बनाने का समय मिल गया। इस समय चीन में गह–युद्ध छिड़ गया और माओ ने स्थिति का पूरा लाभ उठाया। उसने छापामार युद्ध द्वारा च्यांग की विशाल सेना को भागने के लिए विवश कर दिया। 1 जनवरी 1949 में कम्युनिस्टों का पीकिंग पर अधिकार हो गया। अक्टूबर, 1949 में माओ ने चीनी जनवादी गणराज्य की स्थापना की घोषणा की और वह उसके बाद मास्को चला गया। वापिस आकर माओ ने साम्यवादी दल तथा देश के शासन की बागडोर सम्भाली। 1958 में उसने राष्ट्राध्यक्ष का पद ल्यू शाओ ची के लिए छोड़ दिया। 1966 में उसने सांस्कृतिक क्रान्ति का सफल नेतत्व किया। माओ के लाल सैनिकों ने साम्यवाद विरोधी व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया। कई महीने तक चले भीष्म रक्त–पात के बाद माओ की पकड़ चीनी समाज में मजबूत हुई और उसे चीनी जनता ने अपना आराध्य देवता मानकर पूजना शुरू कर दिया। अपने जीवन काल में ही पुराण पुरुष बनने वाले और चीन का आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक विकास करने वाले युग पुरुष माओ का 9 सितम्बर 1976 को निधन हो गया।

महत्वपूर्ण रचनाएं
(Important Works)

माओ–त्से–तुंग एक क्रान्तिकारी राजनीतिक होने के साथ–साथ एक राजनीतिक दार्शनिक भी थे। उन्होंने चीन की परिस्थितियों के अनुसार अपने कुछ विशेष सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जो 'माओवाद' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उसने अनेक पुस्तकों की रचना की, जो आज चीनी

साम्यवादियों के लिए गीता और बाईबल हैं और उनमें लिखे हुए वाक्य वेद–वाक्य हैं। माओ की प्रमुख रचनाएं निम्नलिखित हैं–

I. On Contradictions (1937)

II. New Democracy (1940)

III. On Coalition Government (1945)

IV. The Present Position and the Task Ahead (1947)

V. The People's Democratic Dictatorship (1949)

इसके अतिरिक्त माओ के विचार–'Selected Works of Mao-Tse-Tung' और 'Selected Readings of Mao-Tse-Tung's Works' में भी संकलित है। माओ ने अनेक पत्र–पत्रिकाओं में भी अपने विचारों को प्रकाशित कराया। 1 जुलाई, 1949 को माओ का 'जनता का जनवादी अधिनायकत्व' से एक बहुत महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ। 1956 में माओ ने 'दस महान सम्बन्धों पर' अपना भाषण दिया। इस तरह माओ ने विभिन्न रचनाओं व लेखों के माध्यम से अपना माओवाद या चीनी साम्यवाद स्थापित किया।

माओ के प्रेरणा स्रोत
(Sources of Inspiration of Mao)

प्रत्येक विचारक पर तत्कालीन परिस्थितियों व अन्य विचारकों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। माओ भी इसके अपवाद नहीं थे। इन पर बचपन से ही चीनी राष्ट्रवाद का प्रभाव पड़ने लगा और वे माओ चलकर महान राष्ट्रवादी व क्रान्तिकारी साम्यवादी हो गया। उनके विचारों के प्रेरणा स्रोत निम्नलिखित हैं:–

1. ***पारिवारिक प्रभाव (Influence of Family)***–माओ का जन्म एक कृषक परिवार में हुआ था। उनके पिता एक साधारण किसान थे। उनकी मां दया की साक्षात मूर्ति थी। उसके पिता मुनाफाखोरी करके मध्यम दर्जे तक पहुंच गए थे। माओ को अपने पिता की इस कार्यगुजारी तथा सामन्तवादी व्यवस्था के दोषों की भली–भांति जानकरी होने लगी थी। माओ का स्वप्न था कि उस दोषपूर्ण व्यवस्था में सुधार किए बिना चीनी समाज का विकास नहीं हो सकता। इसी भावना से प्रेरित होकर माओ ने किसान वर्ग को अपनी क्रान्ति में महत्व दिया और सामाजिक परिवर्तन में कृषक वर्ग की भूमिका की सराहना की।

2. ***अपने शिक्षक का प्रभाव (Influence of his teacher)***–माओ जब यागंशा के नार्मल स्कूल में पढ़ते थे तो उन पर उनके शिक्षक प्रो० यांग का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। माओ ने अपने गुरु से आदर्शवाद की प्रेरणा ग्रहण की।

3. ***सर्वहारा क्रान्ति का प्रभाव (Influence of Proletarian Revolution)***–माओ जब पीकिंग में पुस्तकालयाध्यक्ष के पद पर नौकरी कर रहे थे तो उन्होंने वहां पर अनेक क्रान्तियों का अध्ययन किया। उन पर सर्वाधिक प्रभाव रुसी क्रान्ति का पड़ा। उसने चीन को कभी रुस की तरह ही पिछड़ा देश मानकर वहां पर क्रान्ति के सफल होने की आशा की। वह रुसी क्रान्ति का महान प्रशंसक व भक्त बन गया। उसने रुसी क्रान्ति के नायक लेनिन व मार्क्स की रचनाओं का गहन अध्ययन किया और आगे चलकर चीनी साम्यवादी दल का नेतत्व किया।

4. ***1911 की यागंशा क्रान्ति का प्रभाव (Influence of Chaungsha Revolution of 1911)***–माओ ने अपने विद्यार्थी जीवन में ही एक पहाड़ी से यागंशा क्रान्ति को होते

देखा था। इस धटना का उसके मानस पटल पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसी से प्रेरणा लेकर माओ ने अपनी किसान क्रान्तियों को संगठित किया। इस घटना का प्रत्यक्ष जीवन भर उनके साथ रहा।

5. ***समकालीन परिस्थितियों का प्रभाव (Influence of Contemporary Situations)***–माओ चीन की तत्कालीन सामजिक, आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियों से भली भांति परिचित था। उसने बचपन में ही सामन्तवाद के डंक को पहचान लिया था। चीन में कृषक व मजदूर वर्ग सामंतवाद के शिकार थे। चीन राजनैतिक दष्टि से साम्राज्यवादियों का ग्रास बन चुका था। चीन में राष्ट्रवादी भावना लुप्त प्रायः थी। चीन का शासक वर्ग जनता के हितों की उपेक्षा कर चुका था। साम्राज्यवाद का अन्त होने के बाद रुसी शासक वर्ग जनता का शोषण करने पर तुला हुआ था। चीनी अर्थव्यवस्था निरन्तर गिरावट की तरफ थी। 1946 में चीन में गह–युद्ध छिड़ गया था। माओ ने इस स्थिति का पूरा लाभ उठाया और चीन में पीकिंग क्षेत्र में अपना साम्यवादी शासन स्थापित करके धीरे–धीरे पूरे चीन पर अपना प्रभाव जमाया। उसने चीनी परिस्थितियों का व्यापक विश्लेषण करके जनता को सांस्कृतिक क्रान्ति द्वारा एकमंच पर संगठित किया। इस तरह तत्कालीन परिस्थितियों से प्रेरणा ग्रहण करके माओ ने अपनी साम्यवादी विचारधारा को सबल बनाया।

इसके अतिरिक्त माओ पर नेपोलियन, पीटर महान आदि वीर पुरुषों की जीवनियों का भी प्रभाव पड़ा। इस तरह कहा जा सकता है कि माओ का दर्शन अनेक विचारकों व तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित हुआ है। 1911 की यागंशा क्रान्ति उसके क्रान्तिकारी साम्यवाद का आधार है। उसने 1946 के गह युद्ध का फायदा उठाकर अपने राजनीतिक सिद्धान्तों को अमली जामा पहनाने की शुरुआत की ओर जीवनपर्यन्त चीनी समाज की सेवा में लगे रहे।

माओ का शक्ति सिद्धान्त
(Mao's Theory of Power)

माओ–त्से–तुंग शक्ति के महान उपासक थे, उन्होंने 1911 की यागंशा क्रान्ति में प्रयुक्त शक्ति का व्यावहारिक प्रयोग अपनी आंखों से देखा था, उसने सामंतवादी व्यवस्था में जमींदारों का निर्धन किसानों पर प्रभुत्व शक्ति के सन्दर्भ में ही परखा और व किसान आन्दोलन को सफल बनाने के लिए शक्ति अर्जन करने में लग गया। उसने शक्ति के बल पर ही 1949 में चीनी गणराज्य की स्थाप्ना च्यांग काई शेक को परास्त करके की। 1966 की सास्कृतिक क्रान्ति को सफल बनाने के लिए उसने अपने लाल सेवकों को शक्ति प्रयोग की खुली छूट दी। अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक माओ शक्ति के ही पुजारी रहे।

माओ का मानना था कि मनुष्यों को शक्ति के प्रयोग से ही बदला जा सकता है और सामाजिक परिवर्तन का आधार शक्ति ही है। इसलिए उसने साम्यवादियों को अधिक से अधिक शक्ति अर्जित करने की सलाह दी ताकि चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना हो सके। उसने कहा है–"राजनीतिक शक्ति बन्दूक की नली से उत्पन्न होती है, इसलिए उसे सैनिक शक्ति से पथक नहीं किया जा सकता।" अर्थात् सैनिक शक्ति व राजनीतिक शक्ति में गहरा संबंध होता है। माओ का मानना था कि विचारों से समाज का निर्माण होता है, न कि आर्थिक परिस्थितियों से। विचारों के बाद सैनिक शक्ति का महत्व है। सैनिक शक्ति से प्रत्येक वस्तु प्राप्त की जा सकती है। उसने लिखा है–'Everything can be won by the gun'। इसलिए उसने साम्यवाद की स्थापना और सर्वहारा वर्ग की मुक्ति के लिए सैनिक शक्ति को अति आवश्यक बताया

है। उसने स्वयं चीनी साम्यवादी क्रान्ति का संचालन करने में क्रान्तिकारी सशस्त्र सेना का प्रयोग किया था और उन्हें गुरिल्ला युद्ध का प्रशिक्षण दिया था। क्रान्ति की सफलता के बाद उसने शक्ति के बल पर ही चीन का राजनीतिक नेतत्व संभाला और एक विशाल सेना का निर्माण किया। उसने साम्यवाद विरोधी ताकतों को शक्ति के बल पर ही कुचला और अपनी सांस्कृतिक क्रान्ति को सफल बनाया। इसी शक्ति सिद्धान्त से प्रेरित होकर चीन निरन्तर अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा रहा है।

युद्ध का सिद्धान्त
(Theory of War)

माओ युद्ध का समर्थक है। वह युद्ध और शक्ति प्रयोग को अनिवार्य मानता है। उसका कहना है कि वर्गयुक्त समाज के जन्म से ही विकास की एक निश्चित दशा में वर्गों, राष्ट्रों, राज्यों अथवा राजनीतिक समूहों में विरोधों के समाधान के लिए युद्ध संघर्ष का सबसे उच्चतम रूप रहा है। उसका यह मानना है कि जिस प्रकार राष्ट्रीय क्षेत्र में समाजवाद की स्थापना के लिए हिंसात्मक क्रान्ति की निरन्तरता आवश्यक है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी साम्यवाद के प्रसार के लिए युद्ध अनिवार्य है। माओ ने ऐतिहासिक आधार पर युद्ध को वैध ठहराया है। उसने कहा है कि "इतिहास में दो प्रकार के युद्धों–क्रान्तिकारी व क्रान्ति विरोधी युद्धों का वर्णन मिलता है। हम पहले के समर्थक व दूसरे के विरोधी हैं। केवल क्रान्तिकारी युद्ध ही पवित्र है। हम पवित्र राष्ट्रीय क्रान्तिकारी युद्धों के तथा पवित्र वर्ग–विनाशक युद्धों के समर्थक हैं।" माओ का मानना है कि युद्ध चीन के हित में है। युद्ध साम्राज्यवादी व पूंजीवादी ताकतों का विनाश करता है। प्रथम विश्व–युद्ध ने रुसी क्रान्ति की भूमिका निर्माण किया और द्वितीय विश्वयुद्ध ने चीन की क्रान्ति का आधार तैयार किया। तीसरा विश्वयुद्ध विश्व में साम्यवाद की स्थापना करेगा और पूंजीवाद को नष्ट कर देगा। प्रथम दो विश्व युद्धों में साम्राज्यवाद और पूंजीवाद को पंगु बना दिया है। पाश्चात्य देश कागजी शेर (Paper Tiger) मात्र रह गए हैं। विश्व में साम्यवाद का विकास हो रहा है। इसलिए चीन को इस अवसर का लाभ उठाना चाहिए और तीसरे विश्व युद्ध के लिए तैयार रहना चाहिए। साम्यवादियों को पूंजीवादी देशों में युद्ध भड़काने का प्रयास करना चाहिए ताकि तीसरे विश्व युद्ध के बाद पूरे विश्व में साम्यवाद की स्थापना हो सके। तीसरा विश्व युद्ध चीन के लिए एक वरदान होगा। माओ ने युद्ध के चीन पर प्रभाव के बारे में कहा है कि "चीन की विशाल जनसंख्या महान अणु शक्ति के प्रयोग के बाद भी कुछ न कुछ अवश्य बचेगी जो विश्व में साम्यवाद का प्रसार करेगी।"

युद्ध तकनीक में माओ ने युद्ध की गुरिल्ला प्रणाली या छापामार युद्ध का समर्थन किया है। उसने कहा है–"जब शत्रु आगे बढ़ता है, हम पीछे हटता है। जब शत्रु इधर–उधर घिरता है, हम लड़ते हैं। जब शत्रु थक जाता है, हम लड़ते हैं, और जब शत्रु पीछे हटता है, हम पीछा करते हैं।" माओ की यह तकनीक 1946 में चीन में गहयुद्ध में च्यांग काई शेक की शक्तिशाली सेना का सामना करने में बहुत काम आई। माओ व उसके समर्थक साम्यवादियों ने च्यांग काई शेक की सेनाओं को बुरी तरह परास्त करके चीन के शासन पर कब्जा किया और शासन संचालन किया।

आज चीन विश्व की एक महान सैनिक शक्ति बन चुका है। 1962 के भारत पर चीनी आक्रमण से चीन को भारत का काफी बड़ा भू–भाग प्राप्त हुआ है। चीन को निरन्तर यह विश्वास है कि युद्ध उसके हित में ही रहेगा। चीन के पास अणु बम्ब है। वह निःशस्त्रीकरण के किसी भी कार्यक्रम का विरोध करता है। माओ के बाद चीन में स्थापित प्रत्येक सरकार माओ के

शक्ति सिद्धान्त व युद्ध को अनिवार्य मानती रही है। युद्ध–प्रेम प्रत्येक चीनी को स्वभाव का आवश्यक अंग बन चुका है, निरन्तर परमाणु अस्त्र–शस्त्रों के निर्माण पर जोर देकर चीन अपना प्रभुत्व विश्व राजनीति में बढ़ा रहा है। आज चीन की युद्ध प्रेमी भावना को चुनौती देने का साहस कोई देश नहीं कर सकता। अतः युद्ध–प्रेम चीनी समाज का एक आवश्यक अंग बन चुका है। यह सब माओवाद का ही प्रभाव है।

क्रान्ति का सिद्धान्त
(Theory of Revolution)

माओ के क्रान्ति सिद्धान्त का आधार मार्क्सवाद–लेनिनवाद है। माओ ने सशस्त्र क्रान्ति को उतना ही महत्व दिया है, जो मार्क्स या लेनिन के समय में था, उसने क्रान्ति के सिद्धान्त को नया व व्यावहारिक रूप देकर एक महान कार्य किया है। उसने क्रान्ति के दो पक्षों–राष्ट्रवादी क्रान्ति जो साम्राज्यवादी शक्तियों के विरूद्ध थी तथा लोकतान्त्रिक क्रान्ति जो सामन्तादी जमींदारों के विरूद्ध थी, को मिलाकर एक किया है। माओ का मानना था कि ये दोनों क्रान्तियां एक–दूसरे पर निर्भर है। उसने लिखा है–"साम्राज्यवाद को जब तक उखाड़कर फेंक नही दिया जाता, सामन्तवादी जमींदारों के अत्याचारों का अन्त भी संभव नहीं है। इसी तरह साम्राज्यवादी शासन का अन्त करने के लिए शक्तिशाली सैनिक टुकड़ियों का गठन तब तक नहीं किया जा सकता जब तक किसानों को सामन्तवादी–जमींदार वर्ग से संघर्ष के लिए तैयार नहीं कर लिया जाता।" इस तरह माओ ने दोनों क्रान्तियों को मिलाकर अपना जनवादी क्रान्ति (People's Revolution) का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। माओ ने जनशक्ति को क्रान्ति का आधार माना और कहा–"युद्ध में हथियारों का अपना महत्व है पर वे निर्णायक नहीं है। निर्णय मनुष्यों द्वारा किया जाता है, जड़ वस्तुओं द्वारा नहीं।" माओ ने कृषक वर्ग को अपनी क्रान्ति का सूत्रधार नहीं माना था। माओ ने किसानों को संगठित करके अपना क्रान्तिकारी राजनीतिक संगठन खड़ा किया। माओ ने क्रान्ति द्वारा गहयुद्ध भड़का कर सत्ता पर कब्जा करने का मार्ग अपनाने पर जोर दिया और इसमें सर्वहारा वर्ग की भूमिका को महत्व दिया।

माओ का मानना था कि देहात ही क्रान्तिकारी संघर्ष में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। उसका विश्वास था कि शहरों को देहात द्वारा ही घेरा जा सकता है, जहां पर साम्यवाद विरोधी ताकतों का कब्जा है। माओ ने कृषक क्रान्तिकारियों को छापामार युद्ध का प्रशिक्षण देने की योजना बनाई। उसने जमींदारों के अत्याचारों से किसानों को मुक्ति दिलाई और शहरों की तरफ प्रस्थान किया। इस तरह माओ ने क्रान्ति के दोहरे उद्देश्य एक साथ प्राप्त किए। ग्रामीण क्षेत्रों को सामन्तवाद से मुक्त कराकर साम्यवाद की स्थापना के लिए शहरों की तरफ बढ़ना माओ की क्रान्ति की विशिष्ट तकनीक थी। माओ ने चीनी परिस्थितियों के अनुसार क्रान्ति को एक शाश्वत् प्रक्रिया बनाया और सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति तक ही इसे सीमित न करके अन्य वर्गों का सहयोग प्राप्त किया। उसने क्रान्ति के लिए चार वर्गों–कृषक, श्रमिक, छोटे बुर्जुआ वर्ग तथा राष्ट्रीय पूंजीपति को चुना। राष्ट्रीय पूंजीपतियों से उसका अभिप्राय ऐसे पूंजीपति वर्ग से था जो समाजवादी क्रान्ति के प्रति सहानुभूति रखते थे। इन वर्गों में माओ ने सर्वाधिक महत्व किसान वर्ग को ही दिया। उसका कहना था कि–"निर्धन कृषकों का नेतत्व अत्यधिक आवश्यक है। बिना निर्धन किसानों के कोई क्रान्ति नहीं हो सकती है। उनका अपमान क्रान्ति का अपमान है। उन पर प्रहार क्रान्ति पर प्रहार है।" माओ की दष्टि में सर्वहारा वर्ग में किसान वर्ग भी शामिल हैं। यह सर्वहारा वर्ग ही क्रान्ति की संचालक शक्ति है।

माओ ने जन साधारण को महत्व देकर जनवादी होने का परिचय दिया है। माओ ने जनवादी

क्रान्ति के आधार पर ही आगे चलकर चीन की कृषि प्रणाली में कई सुधार किए और क्रान्ति विरोधियों के विरूद्ध एक व्यापक आन्दोलन चलाया। उसने 1949 में किसान वर्ग व अन्य सर्वहारा वर्गों को शामिल करके चीनी जनवादी सरकार की स्थापना की। यदि चीन के इतिहास का अध्ययन किया जाए तो आर्थिक पुनर्निर्माण का कार्य जनसाधारण द्वारा ही किया गया है।

सांस्कृतिक क्रान्ति
(Cultural Revolution)

1958 के 'छलांग मारकर आगे बढ़ने' के आन्दोलन की असफलता के बाद माओ ने 'सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। माओ ने इस बात पर जोर दिया कि मार्क्सवाद की विजय या चीन में साम्यवाद को मजबूत बनाने के लिए वैचारिक और भावनात्मक क्रान्ति की आवश्यकता है। विश्व में माओवाद की सफलता के लिए सभी माओवादियों में सांस्कृतिक एकता का होना जरूरी है। माओ का विश्वास था कि साम्यवादी क्रान्ति एक लम्बा संघर्ष है, जिसमें आर्थिक व राजनीतिक परिवर्तन के साथ–साथ सांस्कृतिक परिवर्तन भी आवश्यक है। माओ ने कहा कि "इसमें कोई शक नहीं है कि आर्थिक परिणाम प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं, लेकिन साम्यवाद को अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करने के लिए क्रान्ति का स्वरूप बहुमुखी होना भी आवश्यक है।

1966 से 1976 तक का दशक आधुनिक चीन के इतिहास में सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का समय है। 1966 में चीनी समाजवादी समाज में मानसिक व शारीरिक श्रम में जो टकराव था, उसे दूर करने के लिए माओ ने सांस्कृतिक क्रान्ति का कार्यक्रम चलाया। माओ ने सांस्कृतिक क्रान्ति द्वारा दल के महत्व को कम करे जनता के महत्व को बढ़ाने का प्रयास किया। उसका विश्वास था कि जन सहयोग के बिना कोई भी सामाजिक कल्याण का कार्यक्रम पूरा नहीं हो सकता और न ही राजसत्ता में स्थायित्व कायम रह सकता है। माओ ने इस क्रान्ति द्वारा लाल–स्वयं–सेवकों को महत्व देकर दल का महत्व कम किया। उसने चीन की राष्ट्रीय सेना में नए क्रान्तिकारी नवयुवकों व राज्य के पुराने वफादार कार्यकर्त्ताओं को मिलाकर विभिन्न नगरों व जिलों में क्रान्तिकारी समितियां गठित की और दल की सारी शक्तियां इनके हाथों में सौंप दी। इस तरह माओ ने जनता के नेतत्व के नाम पर अपनी शासकीय पकड़ मजबूत की।

माओ ने पढ़े–लिखे नवयुवकों को गांवों में भेजने का प्रबन्ध किया ताकि वे ग्रामीणों को नए ज्ञान की शिक्षा दे। इस तरह माओ ने शहरों और गांवों के अन्तर को मिटाने का प्रयास किया, इस तरह के प्रयास मार्क्सवाद–लेनिनवादियों ने कभी नहीं किए। इस तरह सांस्कृतिक क्रान्ति भी उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितनी कि औद्योगिक क्रान्ति। क्योंकि उसने ज्ञान की नई प्रणाली का सजन करके जनसाधारण को औद्योगिकरण की मूल्यवता का अनुभव कराया। समाजवादी आन्दोलन के इतिहास में ऐसा प्रयास पहले कभी नहीं हुआ। इसलिए माओ का सांस्कृतिक आन्दोलन चीनी समाज को विकसित करने वाला एक महत्वपूर्ण कदम था। इस क्रान्ति का लक्ष्य केवल सत्ता को मजबूत बनाना ही नहीं था, बल्कि समाज में मूल परिवर्तन लाना था ताकि सर्वहारा वर्ग में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हो सके।

नवीन लोकतन्त्र की अवधारणा
(Concept of New Democracy)

माओ ने अपनी पुस्तक 'New Democracy' में नवीन लोकतन्त्र की अवधारणा का प्रतिपादन

किया है। माओ ने कहा है कि साम्यवाद की स्थापना एकदम सम्भव नहीं है। उसकी समुचित तैयारी के लिए एक संक्रमणशील दशा का आना जरूरी है। यह संक्रमणशील दशा ही नवीन लोकतन्त्र है। माओ ने एक ऐसे राज्य की कल्पना की है जिसमें अनेक लोकतांत्रिक वर्ग मिल–जुल काम करेंगे। इसमें मजदूर वर्ग, किसान वर्ग, लघु–पूंजीपति व राष्ट्रीय पूंजीपति (जो समाजवाद में विश्वास रखते हों) शामिल होंगे। देश में एक संयुक्त सरकार का निर्माण किया जाएगा और समाज के आन्तरिक विरोधों को अपेक्षाकृत निर्विरोध ढंग से हल किया जाएगा। माओ का मत है कि यह दशा काफी देर तक चलने वाली होगी। इसमें पूंजीवाद व समाजवाद दोनों का सम्मिश्रण होगा। इसमें दोनों व्यवस्थाओं के अच्छे गुणों को स्थान देकर नया रूप दान किया जाएगा ताकि साम्यवाद का अन्तिम लक्ष्य आसानी से प्राप्त हो सके। नवीन लोकतन्त्र अर्थात् यह व्यवस्था पूंजीवाद को प्रोत्साहित करेगी, साम्यवाद के न्यूनतम कार्यक्रम संचालित करेगी और इसका लक्ष्य भविष्य में अधिक से अधिक साम्यवादी कार्यक्रम संचालित करना होगा। इसमें नए समाजवादी राज्य की स्थापना के लिए दूसरी अवस्था पूरी होने तक बुर्जुआ पूंजीवाद से समझौता करना पड़ेगा। इस दशा में साम्यवादी दल के नेतत्व में सभी क्रान्तिकारी दलों की संयुक्त सरकार बनेगी और इसकी अर्थव्यवस्था में सरकारी एवं निजी दोनों उद्योगों वाली मिश्रत अर्थव्यवस्था का महत्व होगा।

इस प्रकार माओ ने मार्क्सवाद–लेनिनवाद की सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के विपरीत संयुक्त अधिनायकवाद पर जोर दिया है। उसका विश्वास था कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही और एकदलीय व्यवस्था से चीन की आवश्यकताएं कभी पूरी नहीं हो सकती। इसलिए उसने अपना नवीन लोकतन्त्र का सिद्धान्त प्रस्तुत उसमें सभी समाजवादी विचारधारा वाले वर्गों को उचित स्थान देकर नवीन लोकतन्त्र की स्थापना की बात कही है। माओ ने 1949 में बनने वाली जनवादी सरकार में सभी समाजवादी वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व दिया था। चीन में आज भी साम्यवादी विचारधारा वाले प्रत्येक वर्ग को उचित स्थान दिया जाता है।

लोकतन्त्रीय अधिनायकवाद
(Democratic Dictatarship)

माओ ने अपने 'नवीन लोकतन्त्र' में लोकतन्त्रात्मक अधिनायकवाद को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। माओ ने 'कम्यूनिस्ट घोषणा पत्र' के इस वाक्य पर विश्वास किया है कि राज्य एक वर्ग विशेष द्वारा दूसरे वर्ग पर शासन करने का साधन है, इसएि राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह जनता के, विशेषतः मजदूर वर्ग के हितों के विरोधी तत्वों को कुचल दें। इस दष्टि से माओ ने मार्क्सवाद का अनुसरण करते हुए अपने नवीन लोकतन्त्र में लोकतन्त्रीय अधिनायकवाद को उचित महत्व दिया है। माओ का मानना था कि जनता के हितों के विरोधी तत्वों को कुचलना कोई अन्याय नहीं है। इसलिए माओ ने 1966 में 'सांस्कृतिक क्रान्ति' द्वारा समस्त साम्यवाद विरोधी तत्वों को कुचल डाला था। माओ का नवीन लोकतन्त्र, लोकतन्त्रीय इसलिए है कि यह जनता के हितों के लिए शासन करता है। इसका उद्देश्य सर्वजन साधारण को शासन व नीतियों का लाभ पहुंचाना है। यह अधिनायकवादी इसलिए है कि यह जनहित के विरोधी व साम्यवाद विरोधी तत्वों को शक्ति से कुचलने का प्रयोग करता है। इस तरह माओ का नवीन लोकतन्त्र क्रान्तिकारी साम्यवादियों के लिए तो लोकतन्त्र है और क्रान्ति विरोधियों के लिए अधिनायवाद है।

माओ ने क्रान्ति विरोधियों का दमन करने के लिए शक्ति का प्रयोग करने पर बल दिया है।

वह उदारवाद और सहअस्तित्व जैसे शब्दों से घणा करता है। उसके दर्शन में गैर–साम्यवादियों के लिए कोई स्थान नहीं है। उसने कहा है–''क्रान्ति विरोधी व प्रतिक्रियावादियों को अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती, यह अभिव्यक्ति केवल जनता को ही दी जा सकती है।'' इससे स्पष्ट है कि माओ का अधिनायकवाद एकदलीय अधिनायकवाद नहीं है। यह देश में गैर–साम्यवादी दलों जिनका माओवाद में विश्वास है, उनके साथ सरकार बनाने का भी पक्षधर है। माओ उन सभी गैर–साम्यवादी दलों को साथ लेकर चलता है, जो उसके निर्बाध नेतत्व में विश्वास करते हैं और स्वेच्छा से चीनी साम्यवादी दल के साथ सहयोग करना चाहते हैं।

इससे स्पष्ट तौर पर यह कहा जा सकता है कि माओ का अधिनायकवाद जनता के लिए है। वह सभी गैर–साम्यवादी विचारधारा वाले व्यक्तियों को भी, जो उसके सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं, साथ लेकर चलने को तैयार हैं। उसका नवीन लोकतन्त्र तो जनता के हितों के लिए ही अधिनायकवाद हो सकता है। लेकिन यदि वास्तव में देखा जाए तो माओ ने शक्ति जैसे शब्दों की उपेक्षा की है, जो समाज के हित में नहीं हो सकती। फिर भी माओ ने चीन के लिए जो कुछ किया, वह औचित्यपूर्ण ही माना जा सकता है। यदि माओ साम्यवाद विरोधियों को न कुचलता अर्थात् लोकतन्त्रीय अधिनायकवाद स्थापित न करता तो आज चीनी समाज का नक्शा कोई और ही होता।

लोकतन्त्रीय केन्द्रीयवाद
(Democratic Centralism)

माओ ने अपने नवीन लोकतन्त्र में इस बात पर जोर दिया है कि लोकतन्त्र की स्वतन्त्रता का प्रयोग क्रान्ति विरोधी अपनी स्वार्थ–सिद्धि के लिए न कर सकें, इस बात का भी समुचित प्रबन्ध किया जाएगा। उसने लिखा है–''स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र का लाभ उन्हीं व्यक्तियों को दिया जाएगा जो जनता के नवीन लोकतन्त्र के समर्थक व प्रबल पोषक होंगे।'' माओ ने इसके लिए केन्द्रीय सत्ता के नियन्त्रण द्वारा सफल बनाने की व्यवस्था की है। यही बात लोकतन्त्रीय केन्द्रीयवाद की प्रमुख विशेषता है। इस प्रकार की व्यवस्था में सभी प्रांतीय व स्थानीय साम्यवादी दल की इकाईयां केन्द्रीय सत्ता के अधीन कार्य करेंगी। उन्हें अपने निर्णयों की पुष्टि केन्द्रीय सत्ता से करानी होगी। यही लोकतन्त्रीय केन्द्रीयवाद का आधार है। इस सिद्धान्त के आधार पर माओ ने साम्यवादी दल का लोकतंत्रीकरण किया है। उसने मार्क्सवाद के कठोर नियन्त्रण के विरुद्ध जनतांत्रिक विचारक होने का ही परिचय दिया है। इसके बावजूद भी माओ का साम्यवादी दल पर पूरा नियन्त्रण कायम रहा। अपने जीवन के अन्त तक उसने लोकतन्त्रीय केन्द्रीयवाद के सिद्धान्त का विकास किया।

क्रान्तिकारी वर्गों के संयुक्त अधिनायकवाद का सिद्धान्त
(Theory of Joint Dictatorship of Revolutionary Classes)

माओ का विचार था कि चीन में उद्योग धन्धों का जब तक पूरा विकास नहीं होगा, तब तक वहां मजदूरों की अधिनायकता स्थापित करना असम्भव है। इस संक्रमणकालीन दशा में सर्वहारा मजदूर वर्ग इस क्रान्ति को स्थायित्व प्रदान करने के लिए अन्य समाजवादी विचारधारा वाले दलों का सहयोग प्राप्त कर सकता है। माओ ने इन वर्गों में मजदूर, किसान, दुकानदार तथा छोटे पूंजीपति तथा राष्ट्रीय पूंजीपति (जो समाजवाद में विश्वास रखते हैं) को शामिल किया है। माओ ने कहा है कि ये चारों वर्ग साम्यवादी दल के नेतत्व के कार्य करेंगे। इसमें कृषक

वर्ग का योगदान सबसे अधिक हो सकता है। क्योंकि कृषक ग्रामीण क्षेत्रों मे क्रान्तिकारी अड्डे स्थापित कर सकते हैं और शहरों की तरफ कूच करके उद्योगों पर धीरे–धीरे अपना नियन्त्रण स्थापित कर सकते हैं। सामन्तवाद के विरोधी होने के कारण कृषक वर्ग की भूमिका क्रान्ति में अधिक हो सकती है। इसी तरह अन्य समाजवादी वर्ग भी संयुक्त अधिनायतन्त्र की स्थापना में अपना योगदान देकर क्रान्ति के लक्ष्यों को स्थाई रूप से प्राप्त कर सकते हैं। जब सर्वहारा वर्ग उद्योगों को पूरी तरह अपने नियन्त्रण में ले लेगा, तब संयुक्त अधिनायकतन्त्र धीरे–धीरे समाप्त हो जाएगा और चीन में सर्वहारा वर्ग का ही शासन होगा।

माओ ने 1949 में जनवादी क्रान्ति के सफल होने के बाद चीन में विभिन्न वर्गों को मिलाकर जनवादी सरकार बनाई थी। उस सरकार ने धीरे–धीरे चीन की अर्थव्यवस्था व कृषि के क्षेत्र में कई महत्वपूर्ण सुधार किए और धीरे–धीरे बड़े पैमाने के उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करके जनहित को बढ़ावा दिया। इससे जनता का शोषण रूक गया और चीनी अर्थव्यवस्था पटरी पर आ गई।

लम्बी छलांगों का सिद्धान्त
(Theory of great leaps forward)

माओ ने 1958 तक कम्युनिस्ट पार्टी के अन्तर्गत काफी शक्ति अर्जित कर ली थी। उसने देश के विकास के लिए अनेक कार्य किए। उसने लम्बी छलांगों का सिद्धान्त प्रतिपादित करके तेज गति से औद्योगिक विकास करने की विचारधारा जनता के सामने पेश की। उसने एक साथ लघु मध्यम व विशाल उद्योगों को विकास करने का आह्वान किया। उसने स्वदेशी व आधुनिक तकनीक पर जोर दिया। उसने लम्बी छलांगों के सिद्धान्त का प्रमुख उद्देश्य त्वरित औद्योगिक विकास करना था। माओ का मानना था कि प्रौद्योगिक दष्टि से अल्प विकास के बावजूद भी चीनी समाज कम्यूनों के माध्यम से समाजवाद के अन्तिम साम्यवादी चरण में द्रुत गति से प्रवेश करेगा। उसने आर्थिक नियोजन पर बल दिया और जनता की उत्पादक शक्ति में वद्धि करने की महत्वपूर्ण योजनाएं बनाई ताकि लम्बी छलांग के कार्यक्रम को सफलता प्राप्त हो सके। माओ ने कहा है–"समाजवाद से साम्यवाद के संक्रमणकाल में हमें अपनी प्रगति समाजवाद के चरण पर ही नहीं रोक देनी चाहिए बल्कि साम्यवाद के अन्तिम लक्ष्य तक जारी रखनी चाहिए।" उसने तीन वर्ष के कठोर परिश्रम द्वारा हजार वर्ष का सुख प्राप्त करने पर बल दिया। लेकिन 1959-61 में चीन भयानक अकाल, बाढ़ों, व महामारियों की भरमार हो गई। और माओ का लम्बी छलांग मारकर आगे बढ़ने का स्वप्न टूट गया। डाली एल यांग ने कहा है–"माओ–त्से–तुंग की लम्बी छलांग दुर्भिक्ष की छलांग बन गई।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि माओ का लम्बी छलांगें मारकर आगे बढ़ने का कार्यक्रम बहुत महत्वपूर्ण था। उस समय की आर्थिक रिपोर्टों से पता चलता है कि चीन में लोहा व इस्पात में आश्चर्यजनक प्रगति हुई। इस आन्दोलन को लोहे व इस्पात की लड़ाई कहा गया। जनता ने अपने घरों के पिछवाड़े में ही इस्पात भट्ठियां लगा दी। लेकिन माओ के इस कार्यक्रम को प्राकृतिक प्रकोपों ने धराशायी कर दिया। उसका प्रमुख औद्योगिक देश ब्रिटेन से आगे निकलने का स्वप्न अधूरा रह गया।

व्यक्ति-पूजा का सिद्धान्त
(Theory of Human Worship)

माओ व्यक्ति–पूजा के सिद्धान्त का प्रतिष्ठापक है। उसने एक तरफ तो सैकड़ों फूलों को एक साथ खिलने की बात कही, दूसरी तरफ लोकतन्त्रीय केन्द्रीयवाद, सर्वहारा वर्ग की तानाशही

आदि सिद्धान्तों के नाम पर साम्यवादी पार्टी में अपना पूर्ण नियन्त्रण व प्रभाव स्थापित किया। उसने चीन के शासन पर अपना प्रभुत्व इस प्रकार स्थापित किया कि वह चीन का आराध्य देवता बन गया। 1966 की सांस्कृतिक क्रान्ति की सफलता ने माओ को चीनी जनता का सिरोताज बना दिया। उसको घर–घर आराध्य देव मानकर पूजा होने लगी। उसका एक–एक शब्द वेद वाक्य माना जाने लगा। माओ गीता का घर–घर पाठ होने लगा। माओ की शिक्षाओं ने तीनों समाज के राजा और ईश्वर दोनों को भूला दिया। समाज में हर छोटा–बड़ा व्यक्ति माओ के रंग में रंग गया। सांस्कृतिक क्रान्ति ने साम्यवादी दल का महत्व कम करके माओ का महत्व बढ़ा दिया। माओ की निम्न शिक्षाओं–I. युद्ध में मनुष्य और शस्त्र की तुलना में मनुष्य का अधिक महतव है क्योंकि युद्ध के निर्णायक मनुष्य हैं, शस्त्र नहीं। II. सेना में राजनीति को अन्य सैनिक कार्यों की तुलना में प्राथमिकता देनी चाहिए। III. माओवाद ही सही राजनीति व अर्थशास्त्र है, इसलिए इसे ही प्राथमिकता देनी चाहिए। IV. माओवाद ही सच्चा आदर्श है। V. जीवन में व्यावहारिक ज्ञान को सैद्धान्तिक ज्ञान की तुलना में प्राथमिकता देनी चाहिए। आदि को सभी चीनियों ने मानना शुरू कर दिया। प्रत्येक व्यक्ति ने माओ के विचारों को श्रेय देना शुरू कर दिया। इस तरह माओ ने चीन में व्यक्ति–पूजा के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया। अतः माओ आज भी चीनियों के आराध्य देव हैं। उनकी गीता का आज भी प्रतिदिन घर–घर में पाठ होता है।

विचार स्वतन्त्रता का सिद्धान्त
(Theory of Freedom of Thought)

माओ ने 1957 में जनता को स्वतन्त्र चिन्तन एवं आलोचना करने का अधिकार देने की दष्टि से एक बड़ी ही आकर्षक नारा दिया। उसने कहा कि, "सैकड़ों फूलों को एक साथ खिलने दो और सैकड़ों विचारधाराओं को जुझने दो।" (Let a hundred flowers boom together and let a hundred schools of thought contend)। माओ ने विचार स्वतन्त्रता को महत्व देकर साम्यवाद की कमियों का पता लगाने का प्रयास किया। उसने बुद्धिजीवियों और उदारवादियों का सहयोग प्रापत करने के लिए यह नारा दिया। लेकिन उसने क्रान्ति विरोधी तत्वों, सामन्तवादियों, पूंजीवादियों और प्रतिक्रियावादियों से यह हम छीन लिया कि वे अपने स्वतन्त्र विचार रख सकें। माओ ने कहा है–"अपने से विरोधी विचारधारा रखने वालों को विचारों की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती।" इस दष्टि में माओ का यह नारा भेदभावपूर्ण है। यह वर्ग–विशेष के हितों का ही पोषक है। इससे वर्ग–संघर्ष को बढ़ावा मिलता है और समाज में सामाजिक विभाजन की दरार और अधिक गहरी होती है।

साम्राज्यवाद का सिद्धान्त
(Theory of Imperialism)

माओ का साम्राज्यवाद का सिद्धान्त समस्त विश्व को दो भागों में बांटता है। उसका कहना है कि एक और तो साम्राज्यवादियों–अमेरिका व उसके साथी देशों का शिविर है और दूसरी तरफ साम्राज्यवाद विरोधी देश–रुस, चीन व पूर्वी यूरोप के देश हैं। इन दोनों गुटों से पथक देशों का इस व्यवस्था में कोई महत्व नही है। इस व्यवस्था में चीन और रुस का साथ नहीं देने वाले देश पागल कुत्ते (Raving Dogs), भाड़े के टट्टू (Hirelings) तथा साम्राज्यवादी हैं। माओ ने लिखा है–"तटस्थता धोखे की टही है और तीसरे गुट का कोई औचित्य नहीं है।" इसका स्पष्ट संकेत भारत की गुटनिरपेक्ष नीति की तरफ था। माओ का साम्राज्यवाद का सिद्धान्त

संकीर्ण राष्ट्रवाद की परिधि से घिरा हुआ है। रुस से मतभेद होने के बाद स्वयं चीन ने रुस की साम्राज्यवाद का पोषक कहना शुरू कर दिया था। माओ ने कहा है कि आज विश्व में प्रमुख विरोध विश्व की जनता जिसमें चीनी जनता शामिल है, और साम्राज्यवाद के बीच में है।

माओ का साम्राज्यवाद का सिद्धान्त संकीर्ण स्वार्थों पर आधारित है। माओ युद्ध में विश्वास व्यक्त करके स्वयं साम्राज्यवाद का पोषक है। दूसरी तरफ वह अमेरिका और उसके सहयोगी देशों का साम्राज्यवादी कहता है।

अन्तर्विरोध का सिद्धान्त
(Theory of Contradictions)

माओ ने अन्तर्विरोध के नियम के रूप में द्वन्द्वात्मक पद्धति की नई व्याख्या देने का प्रयास किया है। माओ का कहना है कि सही नीति का निर्माण गलत नीति के साथ संघर्ष करके ही होता है। अतः विरोध और संघर्ष समस्त ऐतिहासिक परिवर्तन के लिए अनिवार्य है। माओ ने अपनी पुस्तक 'On Contradictions' में दर्शाया है कि सामाजवाद या साम्यवाद की स्थापना होने के बाद भी यह नियम समाप्त नहीं होता। क्रान्ति अन्तिम समाधान नहीं है, बल्कि प्रगति का एक चरण हैं अन्तःर्विरोध शाश्वत् है। एक अन्तर्विरोध दूसरे को जन्म देता है, जब पुराने अन्तर्विरोध सुलझ जाते हैं, तो नए अन्तर्विरोध जन्म ले लेते हैं। किसी वस्तु के विकास का काल उसके बाहर नहीं, बल्कि उसके अन्दर ही होता है। प्रत्येक वस्तु में आंतरिक अन्तर्विरोध होते है। इसी कारण से वह वस्तु गतिमान और विकासमान होती है।

माओ ने कहा है कि अन्तर्विरोध का नियम सभी सामाजिक विन्यासों (Social Formation), वर्गों, व्यक्तियों व साम्यवादी दल पर भी लागू होता है। यह नियम सर्वहारा वर्ग द्वारा सत्ता संभालने पर भी लागू रहेगा, केवल इसका रूप बदल जाएगा। मनुष्य अन्तर्विरोधों को समाप्त नहीं कर सकता, वह इनका केवल रूप व दिशा बदल सकता है।

इस तरह माओ ने मार्क्स के वर्ग–विहीन समाज की स्थापना में अन्तर्विरोध समाप्त होने की बात का खण्डन करके अन्तर्विरोध या द्वन्द्ववाद को शाश्वत् प्रक्रिया माना है। इस प्रक्रिया में एक वस्तु के दूसरी वस्तुओं से पारस्परिक सम्बन्ध और प्रभाव उसके विकास के गौण कारण होते हैं।

माओवाद का मूल्यांकन
(An Evlaution of Maoism)

माओ–त्से–तुंग एक ऐसे साम्यवादी नेता थे जिन्होंने रुसी समाजवाद को चीनी परिस्थितियों के अनुसार ढालने का कार्य किया। माओ ने रुसी समाजवादियों पर आरोप लगाए कि वे मार्क्सवाद–लेनिनवाद से दूर हो गए हैं और संशोधनवादी हो गए हैं। जबकि स्वयं माओ संशोधनवादी है। यद्यपि माओ ने कृषक वर्ग को क्रान्ति में महत्व देकर एक महत्वपूर्ण कार्य यिा है। माओ ने क्रान्ति की विशिष्ट तकनीक अपनाकर रुसी क्रान्ति से अपने को अलग कर लिया है। माओ ने निरन्तर क्रान्ति के सिद्धान्तों को चीनी सन्दर्भ में संगतिपूर्ण बनाने का प्रयास किया है। माओ ने जन नेतत्व के सिद्धान्त को प्रतिपादित करके मार्क्स व लेनिन से अधिक लोकप्रियता प्राप्त की है। माओ ने साम्यवादी दल की अपेक्षा जनशक्ति को अधिक महत्व दिया है। इस दष्टि से चीनी साम्यवाद साम्यवादी क्रान्ति के आरम्भ से लेकर अन्त तक न तो

मार्क्सवादी है और न लेनिनवादी, बल्कि पूर्ण माओवादी हैं। माओ ने मार्क्सवाद–लेनिनवाद से प्रेरणा तो ग्रहण की है लेकिन विशुद्ध मार्क्सवाद का पोषण नहीं किया है। वह स्वयं साम्राज्यवाद का विरोध करता है और स्वयं अपना साम्यवादी प्रभाव विश्व में फैलाना चाहता है।

माओवाद का महत्व इस बात में है कि माओ ने नेपोलियन के स्वप्न को साकार करके चीन को विश्व की एक महान शक्ति बना दिया हैं माओ को चीन का आधुनिक निर्माता कहने के पीछे इसी कारण का हाथ है। माओ एक ऐसा क्रान्तिकारी था, जिसने चीन को थोड़े समय में ही वश्वि मानचित्र के ऊपरी पष्ठ पर स्थान दिलवाया। आज चीन का विश्व अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान माओ की आर्थिक योजनाओं का ही प्रतिफल है। माओवाद आज चीनियों की गीता है और माओ की चीनियों के आराध्य देव है। माओ ने नवीन लोकतन्त्र की अवधारणा का प्रतिपादन करके साम्यवाद की कठोरता पर जो तीव्र प्रहार किए हैं, वह माओ की चीनी साम्यवाद के रूप में महत्वपूर्ण देन है। माओ ने मार्क्स के द्वन्द्ववाद को नया रूप देकर इस प्रक्रिया को शाश्वत् माना है, जो साम्यवाद या समाजवादी समाज की स्थापना के बाद भी जारी रहेगी। उसने प्रशासन में जन सहभागिता की अवधारणा का महत्व सिद्ध किया है। उसने मार्क्सवाद में उपेक्षित कृषक वर्ग को अपने साम्यवाद में उचित स्थान देकर किसानों का सम्मान बढ़ाया है।

लेकिन चीन के निर्माता होने का श्रेय प्राप्त करने के बावजूद माओ के शक्ति व युद्ध सम्बन्धी विचार आधुनिक मानव समाज के लिए घातक है। चीन का निःशस्त्रीकरण के प्रति उपेक्षा का रवैया मानवता के लिए शुभ संकेत नहीं है। माओ की शक्ति, हिंसा और वर्ग–संघर्ष को जन्म देने वाली विचारधारा सम्पूर्ण मानवता का महाविनाश के कगार पर लाने के लिए पर्याप्त है। माओ का व्यक्ति–पूजा का सिद्धान्त विश्व समाज व मानवता के लिए सबसे बड़ा खतरा है। स्वयं चीनी साम्यवादी भी इस बात को भली–भांति जानते हैं। इसलिए आज चन में माओवाद का प्रभाव कुछ कम हो रहा है। माओ की मत्यु के बाद चीन शांतिपूर्ण सह–अस्तितव की नीति में विश्वास करने लगा है। चीन के अमेरिका से सुधरते सम्बन्ध दर्शाते हैं कि चीनी साम्यवादी नीति राष्ट्रीय साम्यवाद की ओर अग्रसर हैं जो पूंजीवाद के साथ भी मिलकर चीने को तैयार है। इस तरह माओवाद का रुझान निरन्तर परिवर्तन की ओर है। इससे मानवता के अस्तित्व के इस गह पर लम्बा होने के संकेत दिखाई देने लगे हैं। वस्तुतः आज चीनी साम्यवादी नेतत्व माओ के विचारों से अपने को दूर रखने का ही प्रयास कर रहा है। लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि माओवाद तत्कालीन चीनी समाज की आवश्यकता थी। माओ ने चीनी समाज की सम्पूर्ण आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपना सब कुछ बलिदान कर दिया। निःसन्देह माओ चीन के महान नेता हैं और उनका बलिदान चीनी समाज के लिए अमर है।

अध्याय-5: अंतोनियो ग्रामसी (Antonio Gramsci)

परिचय (Introduction)

ग्रामसी राजनीतिक चिन्तन के इतिहास का एक महत्वपूर्ण विचारक है। 20वीं सदी का उग्र साम्यवादी विचारक होने के कारण उसे मार्क्सवादी साहित्य में वही स्थान प्राप्त है, जो मार्क्स व लेनिन को है। श्रमिक आन्दोलन के इतिहास का प्रसिद्ध व्यक्ति होने के साथ–साथ उसके चिन्तन में विश्वव्यापी दृष्टि है। ग्रामसी ने 20वीं सदी में मार्क्सवाद को लोकप्रिय बनाने के लिए अपना ऐतिहासिक सापेक्षतावाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उसने मार्क्सवाद का व्यक्तिवादी तथा उदारवादी रूप प्रस्तुत करके समाज में परिवर्तन लाने में क्रांतिकारी तरीके सुझाए। उसने बुखारिन के कठोर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को अस्वीकार करके अपना नया ऐतिहासिक सापेक्षतावाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया और विकसित देशों में भी क्रान्ति की सम्भावना और वर्ग–चेतना की समस्या पर प्रकाश डाला। पाश्चात्य मार्क्सवादी दार्शनिक होने के नाते उसके विचार भी काफी व्यावहारिक व प्रासांगिक माने जाते हैं। यद्यपि उसके चिन्तन में कोई सुस्पष्टता व क्रमबद्धता जैसी बात नहीं है, लेकिन फिर भी व्यवहारिक दृष्टि से उसके विचार काफी महत्वपूर्ण तथा शाश्वत् महत्व के हैं। उसके विचार मार्क्स व लेनिन की तरह न होकर भी वैकल्पिक साम्यवाद का आधार है। उसका यह सूत्र काफी महत्वपूर्ण माना जाता है कि 'क्रान्तिकारी आन्दोलन मजदूर वर्ग में प्रतिदिन की दिनचर्या के साथ शुरू होना चाहिए।' इसी कारण उसके दर्शन को स्वयं विचार का जीवन एवं अनुभव कहा जाता है जिससे मानवता को गुजरना पड़ता है। ग्रामसी ने सामाजिक परिवर्तन में वैचारिक संघर्ष को जो महत्वपूर्ण स्थान दिया है, उससे ग्रामसी की महान चिन्तनशील प्रवत्ति और समाज के प्रति पीड़ा का स्वतः ही आभास हो जाता है। इसी कारण इ०जे० हॉब्सबाम ने ग्रामसी को 20वीं सदी का सर्वाधिक भौतिक साम्यवादी तथा कुछ अन्य ने उसे उग्र साम्यवादी विचारक कहा है।

जीवन परिचय (Life Sketch)

ग्रामसी का जन्म 22 जनवरी, 1891 को इटली के सार्डिनिया प्रान्त के अलेस गांव में हुआ। उसकी मां का नाम ज्युसेपिना मर्सियस तथा पिता का नाम फ्रांसिस्को ग्रामसी था। उसका पिता एक राजस्व अधिकारी था। 27 अक्टूबर 1900 को उसके पिता को उसके राजनीतिक विरोधियों द्वारा भ्रष्टाचार के झूठे मामले में जेल भिजवा दिया। इसके बाद ग्रामसी परिवार की आर्थिक स्थिति खराब होती गई। ग्रामसी की मां ने बड़ी कठिन हालातों में उसका पालन–पोषण किया। उसने ग्रामसी को गांव के स्कूल में भेजना शुरू कर दिया। जब ग्रामसी का पिता जेल से छूट तो उसके परिवार की आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार आया और ग्रामसी ने अपनी प्राथमिक शिक्षा पूरी करके 1908 में काग्लियारी के उच्च विधालय में दाखिला ले लिया। इस दौरान ग्रामसी पर उसके बड़े

भाई जेनारो पर काफी प्रभाव पड़ा। जेनारो एक समाजवादी लड़ाका था और उसने ग्रामसी को भी राजनीतिक शिक्षा दी। इस दौरान उसने इटली की साम्राज्यवाद के अधीन दूदर्शा को भी करीब से देखा व समझा। यहीं से उसके मन में सामाजिक परिवर्तन की लालसा ने जन्म लिया। लेकिन इस समय ग्रामसी के लिए यह उचित नहीं था कि वह साम्राज्यवाद विरोधी गतिविधियों में अपना समय व्यतीत करें।

अपनी स्कूली शिक्षा पूरी करने के बाद ग्रामसी ने 1911 में तूरिन विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। इसके लिए उसे प्रवेश परीक्षा से गुजरना पड़ा और इस परीक्षा में उसे छात्रवत्ति भी मिली। यहां पर रहकर ग्रामसी की समाजवादी विचारधारा में गहरी रूचि हो गई। यहां पर वह क्रोसे की इस विचारधारा से भी परिचित हुआ कि मनुष्य को धर्म के बिना भी जीना चाहिए। यहां पर गहन अध्ययन प्रवत्ति के कारण ग्रामसी का कारण बना। 1913 में ग्रामसी ने इटालियन समाजवादी पार्टी (PCI) की सदस्यता ग्रहण की और 'सोशलिस्ट यूथ ग्रूप' के सदस्य के रूप में राजनीतिक विवादों में बढ़–चढ़कर भाग लेने लग गया। उसने 'अवंती' पत्रिका में अपने कई लेख भी प्रकाशित कराए और 'ग्रीदो डेल पोपोलो' नामक पत्रिका का सम्पादन भी प्रारम्भ किया। 1915 से 1917 तक उसने मार्क्स की रचनाओं का अध्ययन किया और रुसी क्रान्ति से प्रेरणा भी ग्रहण की। 30 सितम्बर, 1917 को उसने 'तूरिन सोशलिस्ट पार्टी' का नेता चुन लिया गया और उसकी राजनीति में सक्रिय भूमिका आरम्भ हो गई। इसके बाद उसने इटली में समाजवादी क्रान्ति को सफल बनाने के लिए श्रमिकों में क्रांतिकारी चेतना का सूत्रपात किया। उसने बताया कि मजदूरों के कष्टों का कारण पूंजीवाद ही है। उसने भी सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित करने की बात का समर्थन किया। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जब इटली में चारों तरफ अराजकता का वातावरण था तो उसने इटली में मजदूर परिषदों के निर्माण पर जोर दिया ताकि देश को आर्थिक अराजकता व साम्राज्यवाद से मुक्त कराया जा सके। इसके लिए उसने 1921 में पार्टी संगठन पर अधिक जोर देना शुरू कर दिया और वह कोमिंटर्न से जुड़ गया। लेकिन 1923 में मुसोलिनी ने साम्यवादियों को पकड़कर जेल में डाल दिया। अपनी गिरफ्तारी से बचने के लिए इस दौरान ग्रामसी रुस में ही रहा और उसके बाद आस्ट्रिया चला गया और 'इटालियन साम्यवादी पार्टी' को नेतत्व प्रदान करने में जुट गया। साम्यवादियों पर किए गए मुसोलिनी के अत्याचारों से मुक्ति पाने के लिए उसने मजदूर वर्ग को नए सिरे से संगठित करने के प्रयास फिर से शुरू कर दिए और 1926 में मजदूरों और किसानों की क्रांतिकारी परिषदों के निर्माण का बिगुल बजाया।

ग्रामसी की क्रांतिकारी गतिविधियों के कारण उसे 8 नवम्बर, 1926 को जेल में डाल दिया गया, लेकिन आरोप साबित न होने के कारण उसे रिहा कर दिया गया। 9 फरवरी, 1927 को उस पर नए सिरे से आरोप लगाकर उसे आजीवन कारावास का दण्ड दिया गया। जेल में उसे कठोर शारीरिक यातनाएं दी गई। जेल में रहकर ही उसने राजनीतिक विचारों का पोषण किया। उसके अधिकतर विचार 'Prison Notes' के रूप में इसी दौरान प्रतिपादित हुए हैं। यहां पर लगातार गिरते स्वास्थ्य के कारण ग्रामसी की 27 अप्रैल, 1937 को दिमाग की ग्रंथि फट जाने के कारण मत्यु हो गई और एक व्यक्तिवादी व उदारवादी, व्यवहारिक मार्क्सवादी तथा लोकतन्त्रीय केन्द्रीयवाद की विचारधारा के प्रबल समर्थक ग्रामसी प्रभात के तारे की तरह अल्पायु में ही अपनी पहचान राजनीतिक चिन्तन के क्षितिज में कायम कर गए।

ग्रामसी की रचनाएं
(Works of Gramsci)

ग्रामसी बाल्यकाल से ही एक असाधारण प्रतिभा का धनी था। उसने अपनी स्कूली शिक्षा के

दौरान ही अपनी प्रतिभा के जौहर दिखाने शुरू कर दिए थे। उसने 1913 में ही तूरिन में रहकर 'अवंति' नामक पत्र में अपने लेख लिखने प्रारम्भ किए। 1914 में उसने 'ग्रीदो डेल पोपोलो' नामक पत्रिका का सम्पादन किया और उसमें भी अपने समाजवादी विचारों का प्रकाशन कराया। उसके समस्त विचार उसकी प्रसिद्ध रचना 'Prison Notes' में संकलित हैं जो उसके जेल में रहते हुए लिखी गई है।

ग्रामसी पर प्रभाव
(Influence on Gramsci)

ग्रामसी के ऊपर उसकी मां, उसके बड़े भाई जेनरो, पारिवारिक वातावरण, इटली की तत्कालीन परिस्थितियों, क्रोसे के दर्शन, मार्क्स, लेनिन, कॉन्ट हीगल, मोस्का, माइकेल आदि का प्रभाव पड़ा। उसके ऊपर सोरेल के संघवाद का भी प्रभाव पड़ा।

तत्कालीन परिस्थितियां
(Contemporary Situations)

इटली ग्रामसी के समय में साम्राज्यवादी परिस्थितियों से गुजर रहा था। स्वयं इटलीवासी भी आपसी फूट, उत्पीड़न, शोषण, क्रूरता व अत्याचार के पोषक बने हुए थे। अपनी स्कूली शिक्षा के दौरान ही ग्रामसी ने राष्ट्रवाद के अभाव को महसूस कर लिया था। समाज में चारों तरफ अराजकता का वातावरण था, मुसोलिनी से पहले इटली में केन्द्रीय सत्ता का अभाव था। ग्रामसी ने स्वयं 18 वर्ष की आयु में ही एक क्रूर घटना देखी थी कि इटली के सार्डिनिया प्रांत पर साम्राज्यवादी सैनिकों ने हमला करके इटलीवासियों को बन्दी बनाकर उन्हें उत्पीड़ित किया था। उस समय इटली की शिक्षा प्रणाली भी बुर्जुआ राष्ट्रवाद की पोषक थी।

देश में आर्थिक संकट का बोलबाला था, कृषि ही अर्थव्यवस्था का आधार थी। मजदूरों की दशा भी खराब थी और फैक्टरी काउंसिल अस्तित्व में आने लगी थी। ग्रामसी ने पाया कि प्रथम विश्व युद्ध ने इटली की हालत पहले से भी खराब कर दी थी। ऐसे समय में उसने इटली में समाजवाद स्थापित करने के उद्देश्य से अपनी समाजवादी विचारधारा का प्रचार किया, लेकिन मुसोलिनी ने 1923 में सत्ता पर काबिज होते ही उसके स्वप्न को चकनाचूर कर दिया।

ग्रामसी के राजनीतिक विचार
(Political Ideas of Gramsci)

यद्यपि ग्रामसी ने कोई क्रमबद्ध राजनीतिक सिद्धान्त पेश नहीं किया है, लेकिन फिर भी उसके राजनीतिक विचार 'Prison Notes' के रूप में व्यावहारिक धरातल पर काफी लोकप्रिय हैं। उसके ऐतिहासिक भौतिकवाद, बुद्धिजीवियों की अवधारणा, प्रभुत्व, राजनीति, राज्य और समाज तथा क्रांति आदि सम्बन्धी विचार उसके महत्वपूर्ण विचार हैं।

1. ***ग्रमासी की विश्व दष्टि या ऐतिहासिक सापेक्षतावाद (Gramsci's World view or Historical Relativism)***–ग्रामसी की विश्व–दष्टि की अवधारणा परेकसी के दर्शन, ऐतिहासिक भौतिकवाद और सत्य की समस्या पर आधारित अवधारणा है। ग्रामसी की विश्व–दष्टि की अवधारणा में ये तीनों तत्व इस प्रकार एक दूसरे से गुंथे हुए हैं कि इनमें से किसी एक को दूसरे अलग करके ग्रामसी के विचारों को समझना असम्भव है। ग्रामसी ने स्वयं कहा है, ''बौद्धिक विकास की प्रक्रिया में विचारक को समझने के लिए सबसे पहले यह जानना जरूरी है कि उसकी प्रकृति में कौन से तत्व स्थिर

और स्थायी हैं। ये तत्व ही बौद्धिक विकास को भौतिक विकास से उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं और उसे अलग अस्तित्व प्रदान करते हैं।'' ग्रामसी ने आगे कहा है कि ''एक विश्व–दष्टिकोण दार्शनिक होता है। यह एक सम्पूर्ण सामाजिक समूह के बौद्धिक तथा नैतिक जीवन को दर्शाता है। इस रूप में मार्क्सवाद ही सर्वहारा–वर्ग की विश्व–दष्टि है।'' विश्व दष्टि की अवधारणा में विश्वास, मूल्य और पराभौतिक पूर्व मान्यताएं इस तरह आपस में गूंथी हैं कि वे ही विचारों को क्रियात्मक सुविधा प्रदान करती हैं। इसी कारण ग्राम्सी निम्न स्तर से दर्शन को प्राप्त करने का सुझाव प्रस्तुत करता है। ग्रामसी की विश्व दष्टि के तीन मूलाधार निम्न हैं–

I. ***परेकसी का दर्शन (Philosophy of Praxis)***–विश्व में मार्क्स के दर्शन से पहले दर्शन को राजनीति से अलग रखने की परम्परा विद्यमान थी। लेकिन मार्क्स ने सर्वप्रथम अपने विचारों में सिद्धान्त तथा व्यवहार की एकरूपता पर जोर दिया। उसने कहा है कि 'दर्शन और राजनीति' एक ही सिक्के के दो पहलू हैं इसलिए इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। मार्क्स ने दर्शन और राजनीति के पारस्परिक सम्बन्धों को विभिन्न वर्गों के दष्टिकोण से ऐतिहासिक आधार पर पुष्ट किया और मार्क्सवाद को सर्वहारा वर्ग की विश्व–दष्टि बना दिया। इस आधार पर दर्शन का स्वरूप एवं विषय–वस्तु भाषा पर आधारित है, क्योंकि भाषा ही सम्प्रेषण का वह साधन है जो दर्शन को स्वरूप और अन्तर्वस्तु प्रदान करती है। भाषा ही प्रत्येक दर्शन का अन्तर्निहित भाग है। गामसी का कहना है कि विश्व में आदर्शवादियों ने तथा कुछ अन्य विचारकों ने बुद्धिजीवियों के दर्शन को साधारण जनता के दर्शन से अलग करके देखने का प्रयास किया है। ग्रामसी ने श्रमजीवी वर्ग के इतिहास को आदर्शवादियों के बुद्धिजीवी वर्ग के इतिहास से अधिक महत्व देकर अपना विचार व्यक्त किया है कि दार्शनिकों ने केवल संसार की व्याख्या की है, संसार को बदलने की बात नहीं की है। इसलिए आज प्रमुख समस्या विश्व में परिवर्तन लाने की है। इसलिए दर्शन को राजनीतिक होना चाहिए, व्यावहारिक होना चाहिए और सबसे अधिक इसे दर्शन ही होना चाहिए। ग्रामसी ने आगे कहा है कि ''द्वन्द्ववाद और परेकसी एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त है, इतिहास शास्त्र का सार तत्व तथा राजनीति का विज्ञान है। परेकसी का दर्शन (क्रिया–कलाप) या मार्क्सवाद का दर्शन समाज में विरोधाभास का अन्तर्विरोध उत्पन्न करता है तथा पूर्ववर्ती दर्शनों से इस बात में भिन्न हो जाता है कि अन्तर्विरोधों को समाप्त करने की बजाय अन्तर्विरोधों का मूल सिद्धान्त बन जाता है।'' ग्रामसी ने कहा है कि दर्शन का कार्य ऐतिहासिक प्रक्रिया से उत्पन्न समस्यओं का हल निकालना होना चाहिए। इस तरह परेकसी का दर्शन निरपेक्ष इतिहासवाद और निरपेक्ष मानववाद है। ग्रामसी ने परेकसी के दर्शन की आड़ में निम्न स्तर या श्रमजीवियों के इतिहास का ही वर्णन किया है।

II. ***ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism)***–ग्रमासी ने कहा है कि इतिहासवाद दार्शनिक और राजनीतिक दोनों हैं। दर्शन के इतिहास को वर्ग–संघर्ष के इतिहास से अलग करके नहीं देखा जाना चाहिए। सिद्धान्त और व्यवहार की द्वन्द्वात्मक एकता में मानव के इतिहास को प्रकृति के इतिहास के रूप में ही देखा जाना चाहिए। ग्रामसी ने महसूस किया कि द्वितीय इन्टरनेशनल के दौरान उपस्थित प्रवत्तियों ने 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' (Historical Materialism)

की अवधारणा के रूप में इतिहासवाद के निर्धारक के रूप में भौतिकवाद पर अधिक जोर देकर परिवर्तन की प्रक्रिया में विचार तत्व की भूमिका की उपेक्षा की है जो परिवर्तन या क्रान्ति की जीवनदायनी है। ग्रामसी ने कहा है कि समाज में एक वर्ग का प्रभुत्व यन्त्रवाद की आलोचना को जन्म देता है या उसका चित्रण करता है। सबसे अधिक ध्यान रखने योग्य बात यह है कि परेकसी दर्शन के जनक कार्ल मार्क्स ने स्वयं कभी भी अपनी अवधारणा को भौतिकवादी नहीं कहा और फ्रेंच क्रान्ति के समय उसने भौतिकवाद की आलोचना भी की। इसी तरह उसने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के स्थान पर तर्कसंगत शब्द का अधिक प्रयोग किया है। जिसका अपना विशेष अर्थ है। इसलिए ग्रामसी ने उपरोक्त व्याख्या के आधार पर अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहा है कि दर्शन का इतिहास वर्ग संघर्ष के इतिहास का एक भाग नहीं है। दर्शन स्वयं में एक सांस्कृतिक संघर्ष है जिसमें लोकप्रिय मानसिकता का रूपान्तरण वांछित होता है और जो दार्शनिक नवीनताओं को विसरित करता है तथा ऐतिहासिक रूप में प्रभावित भी होता है। इस तरह दर्शन का इतिहास विभिन्न विश्व–दष्टि रखने वाले वर्गों के बीच संघर्ष का एक इतिहास हे, जिसमें दर्शन एक राजनीति है और राजनीति एक विज्ञान। इसलिए ग्रामसी ने इस बात पर जोर दिया है कि परेकसी के दर्शन को आर्थिक, राजनीतिक तथा दार्शनिक भागों में नहीं बांटा जा सकता। परेकसी का सिद्धान्त व्यक्ति और वस्तु दोनों के सह–सम्बन्धों, मनुष्य और प्रकृति की व्यापकता, मनुष्य और प्रकृति के रूपान्तर का ऐतिहासिक क्रिया–कलाप है जिसमें मनुष्य अपने कार्यों की प्रक्रिया है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसका स्वभाव विशेष व ऐतिहासिक है। मानव स्वभाव में ऐसा कुछ भी एकरूपता या स्थायित्व वाला गुण नहीं है जिसे इतिहास से जोड़ा जा सके। समाज में सामाजिक व आर्थिक समस्याएं तक ही विद्यमान हैं जब तक मनुष्य उसके प्रति संवेदनशील और जागरूक है। प्रगति और वैचारिक संघर्ष है जिसमें पदार्थ और मनुष्य के अन्तर्विरोध का विकास द्वन्द्व के विकास की एकता का प्रतिफल है।

ग्रामसी का मानना है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद की पष्ठभूमि में विचार, अस्तित्व से और मानव को प्रकृति से अलग नहीं किया जा सकता। इसमें किसी भी ऐतिहासिक गतिवधि को किसी वस्तु या विषय से अलग नहीं किया जा सकता। इससे यही बात उभरती है कि दर्शन और ऐतिहासिक भौतिकवाद विभाजन की वस्तु नहीं है। परेकसी का दर्शन ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद पर ही आधारित है जो ऐतिहासिक है और अस्थायी दर्शन है। अन्तर्विरोधों को विघटित करने के साथ–साथ स्वयं उनका एक हिस्सा भी बना रहता है। इसी कारण दार्शनिक और ऐतिहासिक भौतिकवाद को अलग–अलग बांटना किसी विश्वसनीय सिद्धान्त का परिचायक नहीं हो सकता। सत्य तो यह है कि दर्शन और ऐतिहासिक भौतिकवाद का विभाजन विश्वास की पूर्ण व्यवस्था या प्रणाली नहीं है। यह तो केवल सत्य की समस्या से ही सम्बन्धित हो सकता है, क्योंकि विश्व दष्टि का अध्ययन सत्य की अवधारणा के सन्दर्भ में ही सम्भव होता है।

III. ***सत्य की समस्या (Problem of Truth)***–एक साधारण व्यक्ति के लिए सत्य की समस्या उसके आचरण से सम्बन्धित है जो मानव प्रकृति और समाज का निश्चित और सार्वभौमिक नियम है। आम व्यक्ति के लिए सत्य नीति के सदश है। आदर्शवादियों की नजर में यह आत्मा का गुण है। ग्रामसी ने सत्य की समस्या

का विश्लेषण करते हुए कहा है कि परेकसी का दर्शन या रूपलेखन का दर्शन आंगिक है, क्योंकि इसमें द्वन्द्व और अन्तर्विरोध का दर्शन निहित है। विरोधाभास या अन्तर्विरोध का सिद्धान्त अन्य दर्शनों से अलग व जन समूहों का दर्शन है जो जन–समूहों में जागति लने का प्रयास करता है। इस तरह दर्शन क्रियात्मकता के साथ–साथ एक समरूप तथा सुसंगत विश्व दष्टि भी प्रस्तुत करता है। यह सर्वहारा वर्ग का दर्शन होने के कारण सत्ता वर्ग का आपेक्षकर्ता है जो अधीनस्थ वर्ग को सरकार चलाने की कला सिखाता है और सत्य को जानने की चेष्टा भी करता है। सत्य और तथ्य में सारभूत अन्तर होता है। प्रत्येक सत्य व्यक्तिपरक होता है। इसलिए सत्य तक पहुंचने के लिए सबसे पहले यह जानना जरूरी हो जाता है कि विज्ञान को बढ़ाने वाली वस्तु कौन सी है?

ग्रामसी का कहना है कि ज्ञान केवल अवलोकनीय तथ्यों तक ही सीमित नहीं है बल्कि कुछ अज्ञात वास्तविकताओं तक भी उसकी पहुंच है जो कालान्तर में ज्ञान की परिधि में आ सकती है। दर्शन की सैद्धान्तिक विचारधारा इस बात पर बल देती है कि जो आज अज्ञात हे, कल वही ज्ञान की श्रेणी में आ सकता है। इसी कारण दर्शन, सत्य की एक प्रणाली है। प्रत्येक सत्य का एक अस्थायी मूल्य होता है। सत्य की खोज तथा फलदायक होती है जब इसके लिए वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया जता है अतः सत्य की समस्या दर्शन की ही समस्या है। दार्शनिक का कार्य लोगों की चेतना में वद्धि करके उन्हें सत्य के समीप ले जाना है। व्यक्ति का दर्शन उसकी राजनीति में निहित है और राजनीति एक परेकसी है। परेकसी सिद्धान्त और व्यवहार की एकरूपता है। यह विचार और व्यवहार, व्यक्तियों अैर वस्तुओं में अन्तर्विरोधों की द्वन्द्वात्मक एकता है जिसमें बुद्धिजीवियों का महत्वपूर्ण योगदान है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि ग्रामसी का विश्व दष्टि के तीन तत्व–परेकसी का दर्शन, ऐतिहासिक भौतिकवाद तथा सत्य की समस्या है। ये तीनों तत्वों आपस में इस प्रकार गूंथे हुए हैं कि इनको एक–दूसरे से अलग करके ग्रामसी की विश्वदष्टि की अवधारणा को समझना न तो सम्भव है और न ही आसान। ग्रामसी के दर्शन में तो मार्क्सवाद का सार ही राजनीति का आधार है।

2. ***ग्रामसी की बुद्धिजीवियों की अवधारणा (Gramsci's concept of Intellectuals)***– बुद्धिजीवियों की अवधारणा ग्रामसी के राजनीतिक चिन्तन का महत्वपूर्ण विषय है। दार्शनिक रूप से इस अवधारणा का सम्बन्ध इस बात से है कि 'सभी मनुष्य दार्शनिक हैं।' यह अवधारणा ग्रामसी की शैक्षिक विचारधारा से भी गहरा सरोकार रखती है। इस अर्थ में बुद्धिजीवी वे हैं जिनके पास दिमाग है और वे उसका उपयोग करते हैं। अधिरचना का सिद्धान्तकार होने के नाते ग्रामसी ने इस अवधारणा को ही अपने चिन्तन को केन्द्र बिन्दु बनाया है और इसे मार्क्स से अधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। ग्रामसी ने दक्षिण इटली के समाज का गहराई से विश्लेषण करने के बाद अपना यह तर्क प्रस्तुत किया है कि सभी मनुष्य बुद्धिजीवी हैं लेकिन समाज में सभी व्यक्ति बुद्धिजीवी का कार्य नहीं करते।

बुद्धिजीवी का अर्थ (Meaning of Intellectual)–'बुद्धिजीवी' शब्द को ग्रामसी से पहले भी और बाद में भी कई तरह से परिभाषित किया गया है। सामान्य अर्थ में बुद्धिजीवी वह व्यक्ति है जिसमें समझने एवं सोचने की शक्ति है। पूंजीवाद के आगमन से पहले

कलाकारों, समाज वैज्ञानिकों और धार्मिक–सांस्कृतिक प्रतिनिधियों को ही बुद्धिजीवी माना जाता था लेकिन औद्योगिक समाज के आगमन के साथ ही तकनीशियनों, प्रबन्धकों और वैज्ञानिकों को भी इसमें जोड़ लिया गया। लेनिन का पेशेवर क्रान्तिकारियों का समूह और परेटो, मोस्का तथा मिचेलस आदि समाजशास्त्रियों का अभिजन वर्ग भी बुद्धिजीवी शब्द को ही अभिव्यक्त करते हैं। अनेक विद्वानों ने 'बुद्धिजीवी' शब्द को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है।

(i) **पारसन के अनुसार**–"बुद्धिजीवी वह व्यक्ति है जो सभ्यता को निश्चित प्रणाली में भागेदारी रखता है।

(ii) **लिपसेट के अनुसार**–"जो लोग इस संसार में कला, विज्ञान और धर्म सहित संस्कृति का सजन, वितरण तथा उसे लागू करते हैं, बुद्धिजीवी हैं।"

(iii) **लेनिन के अनुसार**–"बुद्धिजीवी न तो स्वतन्त्र आर्थिक वर्ग है और न ही स्वतन्त्र राजनीति शक्ति। यद्यपि उन्हें समाज में एक विशेष स्थान प्राप्त है तथा वे आंशिक रूप में एक ओर तो बुर्जुआ समाज से तथा दूसरी तरफ सर्वहारा वर्ग से जुड़े हुए हैं।"

(iv) **बोर्डिगा के अनुसार**–"बुद्धिजीवी वर्ग उन लोगों का समूह है जो आन्दोलन को अग्रसर करता है, सर्वहारा दल का नेतत्व करता है तथा उसके लिए नीतियों का निर्माण भी करता है। इस वर्ग में तथ्य तथा विचार दोनों में अनुशासन रहता है।

ग्रामसी ने अपने पूर्ववर्ती विचारकों के बुद्धिजीवी वर्ग सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करके तथा इटली की तत्कालीन आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक दशा का विश्लेषण करके यह निष्कर्ष निकाला कि सभी व्यक्ति बुद्धिजीवी हैं, लेकिन समाज में उनकी भूमिका बुद्धिजीवी की नहीं है। ग्रामसी ने कहा है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति व्यवसायिक कार्यों में उलझा होने के साथ–साथ कुछ न कुछ बौद्धिक क्रियाएं भी अवश्य करता रहता है। इसलिए बुद्धिजीवी विचारों के धरातल के साथ–साथ उत्पादन के साधन एवं सम्बन्धों में भी मजबूती से टिके हुए हैं। ग्रामसी ने फासीस्ट जेल में रहकर इस बात को सार्वजनिक किया कि बुद्धिजीवी अपने परम्परागत अर्थ से भिन्न भी समाज के संगठन, उत्पादन, संस्कृति या जन–प्रशासन के कार्य भी करते हैं। समाज में दार्शनिक, कलाकार, वैज्ञानिक, धार्मिक नेता आदि सभी की भूमिका बुद्धिजीवी की होती है। उदाहरण के लिए मजदूर की पहचान उसका शारीरिक श्रम न होकर वह परिस्थिति भी है जिसमें वह विशेष कार्य करता है।

ग्रामसी ने कहा है कि उत्पादन ढांचा ही बुद्धिजीवी वर्ग के निर्माण के लिए उत्तरदायी है। औद्योगिक क्रान्ति आने से पहले सामंती जमींदार भी विशेष तकनीकी योग्यता के स्वामी होने के कारण ऐसे बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे जिनका कार्य सैनिक क्षमता का परिचय देना था। लेकिन औद्योगिक क्रान्ति के कारण आए उत्पादन ढांचे में परिवर्तनों ने नए–नए बुद्धिजीवी वर्गों को जन्म दिया। औद्योगिक क्रान्ति ने बुद्धिजीवी वर्ग को व्यापक आधार प्रदान करके कुलीनतन्त्रीय विचारधारा को चुनौती दी और प्रशासनों, विद्वानों, वैज्ञानिकों, सिद्धान्तकारों, दार्शनिकों आदि का नया वर्ग तैयार कर दिया। ग्रामसी का कहना है कि शारीरिक श्रम चाहे कितना भी हीन क्यों न हो उसमें कुछ–न–कुछ तकनीकी योग्यता का अल्पतम रचनात्मक बौद्धिक क्रिया अवश्य ही

निहित रहती है। इसी कारण समाज में प्रत्येक व्यक्ति बुद्धिजीवी है, चाहे वह किसी भी कार्य या पेशे में लगा हुआ है।

बुद्धिजीवियों के प्रकार (Types of Intellectuals)–ग्रामसी ने ऐतिहासिक तथ्यों का विश्लेषण करने के बाद परम्परागत तथा जैविक बुद्धिजीवियों पर विचार किया। उसने पाया कि फ्रांस और इंग्लैण्ड में बुर्जुआ बुद्धिजीवियों का प्रभाव पादरियों और अन्य कुलीन तन्त्रियों से अधिक है, क्योंकि इन्हीं का आर्थिक शक्ति पर प्रभुत्व है। इसके विपरीत इटली में परम्परागत बुद्धिजीवियों का आधिपत्य है जो बुर्जुआ बुद्धिजीवियों की बराबरी करके अपने जैविक बुद्धिजीवियों का निर्माण करते हैं। ग्रामसी ने इटली की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का विश्लेषण करने के बाद बुद्धिजीवियों के निर्माण के बारे में इस बात पर बल दिया कि उत्पादन के साधनों में परिवर्तन आने से समाज के स्वरूप में भी परिवर्तन आता है और नए–नए समूहों का जन्म होता है। यह परिवर्तन बुद्धिजीवियों के आपसी सम्बन्धों तथा राज्य के साथ उनके सम्बन्धों को भी प्रभावित करता है। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप नए आर्थिक व्यवस्था के नए प्रतिनिधि उभरते हैं। इसी से जैविक बुद्धिजीवियों का जन्म होता है जो अन्तःवर्गीय वातावरण स्पष्ट करते हैं। इस तरह ग्रामसी ने दक्षिण इटली में परम्परागत बुद्धिजीवियों तथा उत्तर में जैविक बुद्धिजीवियों जो सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि हैं, पर जोर दिया है। ग्रामसी ने उत्पादन की दष्टि से बुद्धिजीवियों को दो भागों–I. परम्परागत बुद्धिजीवी, II. जैविक बुद्धिजीवी में बांटा है–

I. ***परम्परागत बुद्धिजीवी (Traditional Intellectuals)***–परम्परागत बुद्धिजीवियों में साहित्यकार, वैज्ञानिक, दार्शनिक और अनुष्ठान करने वाले आदि व्यक्ति शामिल हैं। ये बुद्धिजीवी अपने सामाजिक वर्ग से स्वतन्त्र होते हैं और उनका कार्य भी स्वायत प्रकृति का होता है। ये बुद्धिजीवी अपने जन्म के वर्गों से अपना नाता तोड़कर एक अन्तःवर्गीय वातावरण को जन्म देते हैं। दक्षिण इटली में इसी प्रकार के बुद्धिजीवियों का प्रभाव है। इटली के इतिहास में परम्परागत बुद्धिजीवियों की भूमिका काफी महत्वपूर्ण रही है। इन्होंने उत्पादन व उत्पादन शक्ति में परिवर्तन आने पर भी भूतकाल को वर्तमान से जोड़े रखा है और समाज में अपनी परम्परागत भूमिका को बनाए रखने का हर सम्भव प्रयास किया है।

II. ***जैविक या आंगिक बुद्धिजीवी (Organic Intellectuals)***–जैविक बुद्धिजीवी उत्पादन प्रक्रिया में आए परिवर्तनों की उपज होते हैं। जब उत्पादन प्रक्रिया में परिवर्तन आता है तो समाज में नए–नए वर्गों का भी जन्म होता है। इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति ने इसी प्रक्रिया में नए–नए सामाजिक वर्गों को जन्म दिया है। इसी कारण वहां पर जैविक बुद्धिजीवियों का ही अधिक प्रभाव है। जब नए वर्गों को नेतत्व की आवश्यकता अनुभव हुई तो इस प्रकार के बुद्धिजीवियों का भी जन्म हुआ। बुर्जुआ और सामन्त अधिपति कालान्तर में अपने–अपने वर्गों के जैविक बुद्धिजीवी ही रहे हैं। पूंजीवादी व्यवस्था ने सर्वहारा वर्ग के बुद्धिजीवियों को पैदा किया है। यद्यपि इनकी भूमिका संगठन के रूप में ही अधिक प्रभावशाली रही है, क्योंकि ये राजनीतिक दल को अधिक महत्व देते रहे हैं। जैविक बुद्धिजीवियों की दष्टि समाजवादी रही है। ग्रामसी ने किसी भी आन्दोलन की सफलता के लिए जैविक बुद्धिजीवियों के निर्माण को पूर्व आवश्यक शर्त के रूप में मान्यता दी है। उनका कहना है कि आंगिक या जैविक बुद्धिजीवियों के बिना न तो कोई क्रान्ति हो सकती

है और न ही सफल हो सकती है। ग्रामसी ने पूंजीवादी व्यवस्था के कारण उत्पन्न हुए सर्वहारा वर्ग के बुद्धिजीवियों को ही क्रान्ति के अग्रदूत मानकर, उनको अधिक महत्व दिया है। उसका मानना है कि ये बुद्धिजीवी ही जनता और नेतत्व में संतुलन कायम रख सकते हैं और सामाजिक परिवर्तन की किसी भी सम्भावना को सफल बना सकते हैं। सर्वहारा वर्ग में चेतना तथा सभी प्रकार की जागरूकता व संगठन बुद्धिजीवियों के बिना असम्भव है।

ग्रामसी ने बुद्धिजीवियों को इस वर्गीकरण के तहत रखने के बाद कहा कि सर्वहारा वर्ग के बुद्धिजीवी ऐतिहासिक आधार पर बुर्जुआ वर्ग के बुद्धिजीवियों से अलग है। इसी आधार पर ग्रामसी की यह अवधारणा बुद्धिजीवियों से अर्न्तसम्बन्धों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है। ग्रामसी ने कहा है कि समाज में किसी भी प्रकार का परिवर्तन चाहे वह नैतिक ही क्यों न हो, बुद्धिजीवियों द्वारा ही लाया जा सकता है। बुद्धिजीवी ही व्यक्तियों को जागरूक बनाते हैं। सभी वर्गों के बुद्धिजीवी अपने–अपने वर्गों का प्रतिनिधित्व करने के बावजूद भी राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेते हैं। इनकी राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करने की क्षमता अलग–अलग होती है। बुर्जुआ वर्ग के बुद्धिजीवी वर्ग अपनों को संगठित रखकर अपना प्रभुत्व कायम रखते हैं, जबकि सर्वहारा वर्ग के बुद्धिजीवी दलीय संगठन के अधीन रहकर ही अपना कार्य करते हैं। सर्वहारा वर्ग के बुद्धिजीवी 'सामूहिक बुद्धिजीवी; होते हैं। इस वर्ग के बुद्धिजीवी राजसत्ता हासिल करने के बाद ही अपने को जैविक बुद्धिजीवियों की श्रेणी में ला सकते हैं। शासन–सत्ता प्राप्त किए बिना इनके लिए अपने बुद्धिजीवी पैदा करना असम्भव है। बुर्जुआ वर्ग के अधिनायकवाद को उखाड़ फैंकने के लिए इनके द्वारा अपनी विशेष संस्कृति और सामूहिक जागरूकता को अपना लक्ष्य बनाकर चलना जरूरी है। इस दष्टि से ग्रामसी का उद्देश्य उत्पादन के ढांचे की अपेक्षा उन साधनों पर अधिक जोर देता रहा है जिनके द्वारा सर्वहारा वर्ग पूंजीवादी समाज के आर्थिक–सामाजिक सम्बन्धों का ज्ञान प्रापत कर सकता है और आवश्यकता पड़ने पर राजनीतिक रूप से पूंजीवादी ढांचे को ध्वस्त भी किया जा सकता है।

ग्रामसी ने स्थान के अधार पर भी बुद्धिजीवियों को दो भागों–ग्रामीण और शहरी में बांटा है। उत्पादन प्रक्रिया की दष्टि से अन्तर के आधार पर ग्रामीण और शहरी बुद्धिजीवियों में अन्तर का पाया जाना स्वाभाविक बात है। ग्रामसी का कहना है कि शहर में रहने वाले बुद्धिजीवी उद्योग के साथ विकसित हुए हैं। औद्योगिक प्रणाली में आने वाले उतार–चढ़ावों ने बुद्धिजीवियों के निर्माण की प्रक्रिया को भी प्रभावित किया है। शहरी बुद्धिजीवी उत्पादक और मजदूर के बीच की कड़ी है। ग्रामीण बुद्धिजीवी अधिकतर पारम्परिक होते हैं। ये ग्रामीण लोगों के सामाजिक जन–समूह और छोटे कस्बों के निम्न बुर्जुआ वर्ग से जुड़े होते हैं। उन्हें पूंजीवादी प्रणाली ने अभी तक विकसित नहीं किया है और न ही उन्हें अभी तक गति प्रदान की है। इस तरह का बुद्धिजीवी खेतीहर जनसमूहों को स्थानीय और राजकीय प्रशासन के सम्पर्क में लाता है। उनकी पेशेवर मध्यस्थता को राजनीतिक मध्यस्थता से अलग करना काफी कठिन होता है। इसमें पादरी, वकील, नोटरी, अध्यापक, डॉक्टर आदि शामिल होते हैं। ये बुद्धिजीवी खेतीहर समूहों के लिए एक ऐसा सामजिक प्रतिमान होते हैं, जिनको अपना आदर्श मानकर खेतीहर समूह अपनी संतानों को इस वर्ग से जोड़ने की इच्छा रखते हैं और उसे पूरा करने के प्रयास भी करते हैं। शहरी बुद्धिजीवियों की भूमिका ग्रामीण बुद्धिजीवियों से सर्वथा उल्ट ही होती है।

ग्रामसी ने अपने विश्लेषण में आगे कहा है कि इटली का एकीकरण इसी आधार पर कमजोर पड़ा कि फासीवाद तुच्छ बुर्जुआ और शहरी पूंजीपति वर्ग के गठजोड़ से उत्पन्न हुआ था। इसी कारण इसमें विश्व दष्टि का अभाव रहा। इस विश्लेषण द्वारा ग्रामसी ने फासीवाद की असफलता पर प्रकाश डाला है। ग्रामसी का कहना है कि शहरी बुद्धिजीवी ग्रामीण बुद्धिजीवियों की अपेक्षा अधिक संगठित है और राजनीतिक प्रक्रिया को नेतत्व के द्वारा प्रभावित करने में सक्षम हैं। इनमें सर्वहारा वर्ग के बुद्धिजीवी तो किसी भी अवस्था में अपने सामाजिक समूहों को नेतत्व प्रदान करने में असफल हैं और न ही वे सामाजिक परिवर्तन के लिए कोई प्रयास करते हैं। इसी तरह ग्रामीण बुद्धिजीवी केवल जमींदारों और किसानों तथा सरकार व अन्य वर्गों में मध्यस्थता का प्रयास तो करते हैं, लेकिन किसी वर्ग को नेतत्व प्रदान करने में असमर्थ हैं। उनकी रूचि तो यथास्थिति में ही हैं। इस तरह ग्रामीण बुद्धिजीवियों की उत्पादन प्रक्रिया के प्रति उदासीनता ही इटली की कमजोर राजनीतिक दशा के लिए उत्तरदायी है।

इस तरह ग्रामसी ने अपनी बुद्धिजीवियों की अवधारणा में इटली की राजनीतिक स्थिति, आर्थिक व सामाजिक समूहों, उत्पादन प्रक्रिया और उत्पादन सम्बन्धों आदि पर भी व्यापक दष्टि उकेरी है। ग्रामसी ने यह तत्व उद्‌घाटित किया है कि उत्पादन प्रक्रिया में आने वाले परिवर्तन ही बुद्धिजीवियों के वर्ग चरित्र को भी बदल देते हैं और यह परिवर्तन और बुद्धिजीवियों में जन्म और विकास के आधार पर पाया जाने वाला अन्तर समाज विशेष के ढांचे पर काफी निर्भर करता है। बुद्धिजीवियों का निर्माण एक समाज से दूसरे समाज के दष्टिगत काफी भिन्न हो सकता है। इसी कारण प्राचीन समाज के बुद्धिजीवी आधुनिक समाज के बुद्धिजीवियों से सर्वथा भिन्न हैं। ग्रामसी ने भी मार्क्स व लेनिन की भांति सर्वहारा वर्ग को जागरूक व संगठित बनाने की आवश्यकता पर जोर देकर मार्क्सवाद को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया है। ग्रामसी की रूचि सामाजिक परिवर्तन में है। वह इटली की तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों से असंतुष्ट दिखाई देता है। इसी कारण उसने ऐसे मार्क्सवाद का स्वप्न लिया है जो मानवतावाद और सुधारवाद का मिश्रित रूप हो तथा जटिल सांस्कृतिक समस्याओं का सर्वमान्य हल प्रस्तुत करने में सक्षम हो। उसने सामाजिक परिवर्तन में बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका पर ही बल दिया है। रुस, फ्रांस और इंग्लैण्ड की क्रान्तियों से यह बात पुष्ट हो जाती है कि क्रान्ति का सफल संचालन और उससे प्राप्त हाने वाले स्थायी व लाभकारी परिणाम बुद्धिजीवी वर्ग के बिना असम्भव है।

यद्यपि ग्रामसी की 'बुद्धिजीवी की अवधारणा' विश्व क्रान्ति का आधार है और सामाजिक परिवर्तन के किसी भी विचार का केन्द्र बिन्दु है, लेकिन फिर भी वह काफी विवादों से घिरी रही है। आलोचकों ने इस अवधारणा पर पहला आरोप यह लगाया है कि ग्रामसी ने बुद्धिमता मानव की एक बौद्धिक विशेषता है। इसी तरह बुद्धिमता या बुद्धिजीवियों का विभाजन भी तर्कसंगत नहीं है। आलोचकों ने अन्य आरोप यह भी लगाया है कि ग्रामसी ने इस अवधारणा में आर्थिक पक्ष पर अधिक ध्यान देकर अन्य पक्षों की उपेक्षा की है। उसने उत्पादन प्रक्रिया को ही बुद्धिजीवियों के जन्म का कारण माना है, जो सर्वथा गलत है। उसने सर्वहारा वर्ग में चेतना पैदा करने का कार्य बुद्धिजीवियों को सौंपकर मार्क्स के ही सिद्धान्तों को धूमिल कर दिया है। यद्यपि ग्रामसी की इस अवधारणा को काफी आपेक्षों का सामना करना पड़ा है, लेकिन यह बात निर्विवाद रूप से सत्य है कि ग्रामसी की यह अवधारणा तत्कालीन पूंजीवादी व्यवस्थाओं

के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाली महत्वपूर्ण अवधारणा रही है। ग्रामसी की यह बात आज भी प्रासांगिक है कि सामाजिक परिवर्तन का कोई भी विचार बुद्धिजीवियों के बिना पूरा नहीं हो सकता। ग्रामसी ने इस अवधारणा को अपने राजनीतिक दर्शन का केन्द्र बिन्दु बनाकर विश्व क्रान्ति की जो आशाएं जगाई है, वे आज की परिस्थितिों में भी सम्भव हो सकती है। अतः ग्रामसी की बुद्धिजीवियों की अवधारणा एक महत्वपूर्ण विचार है जो विश्व क्रान्ति का आधार है।

3. ***ग्रामसी की प्राधान्य या प्रभुत्व की अवधारणा (Gramsci's concept of Hegemony)–*** ग्रामसी की प्राधान्य की अवधारणा उसके दर्शन का महत्वपूर्ण विचार है। ग्रामसी ने अपनी पुस्तक 'Prison Notes' में अपने चिन्तन का सैद्धान्तिक आधार इसी अवधारणा को बनाया है। ग्रामसी को इस अवधारणा का केन्द्रीय विचार है कि जनता शक्ति द्वारा शक्ति न होकर, विचारों द्वारा शासित होती है। जब शासन का आधार शक्ति या बल बन जाती है तो प्रभुत्व या प्राधान्य के सामने उसके अस्तित्व का संकट उत्पन्न हो जाता है। ग्रामसी का कहना है कि नागरिक समाज वैचारिक सहमति पर टिका होता है। इसी पर प्राधान्य का अस्तित्व निर्भर होता है। ग्रामसी ने नागरिक और राजनीतिक समाज में अन्तर किया है। नागरिक समाज में निजी संस्थाएं जैसे स्कूल, चर्च, क्लब, दल शामिल हैं जो सामाजिक और राजनीतिक चेतना पैदा करते हैं। इसके विपरीत राजनीति समाज में सरकार, न्यायालय, पुलिस, सेना शामिल हैं जो प्राधान्य या प्रत्यक्ष प्रभुत्व के उपकरण हैं। ग्रामसी ने कहा है कि यह नागरिक समाज ही था जिसमें बुद्धिजीवियों ने प्राधान्य के पैदा करके महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। यदि बुद्धिजीवियों द्वारा सफलतापूर्वक प्राधान्य को पैदा किया जाएगा तो नागरिक समाज में शक्ति का अस्तित्व नष्ट हो जाएगा ऐसे में शासन वैचारिक सहमति पर ही आधारित रहेगा।

ग्रामसी ने मार्क्सवादी परम्परा में कुछ सुधार करके अपनी इस अवधारणा को विकसित रूप देकर कहा है कि लेनिन की प्राधान्य की अवधारणा लेनिन का सबसे महान योगदान है। लेनिन ने अपनी पुस्तकों 'What is to be done' में तथा 'Two Tactics' में इस अवधारणा का विकसित रूप में प्रयोग किया है। ग्रामसी का कहना है कि लेनिन ने इस अवधारणा को तीन रूपों में पेश किया है–I. यह एक वर्ग का नेतत्व है, II. यह उस वर्ग का नेतत्व है जिसके पास राजनीतिक शक्ति है, III. यह उस दल का भी नेतत्व है जिसमें स्वतन्त्र राजनीतक शक्ति को बनाए रखने की क्षमता है। यद्यपि लेनिन से पहले भी एकसेलरोड ने इसे समाजवादी पार्टी का सदस्य होने के कारण प्रयुक्त किया था, लेकिन उसका दष्टिकोण परम्परावादी ही रहा। पारम्परिक दष्टि से प्राधान्य का अर्थ होता है–एक राष्ट्र का किसी भी प्रकार का प्रभुतव या सत्ता। बेलस ने भी प्राधान्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि "प्राधान्य का अर्थ है, निर्देशित की सहमत पर आधारित राजनीतिक नेतत्व, एक ऐसी सहमति जो शासक वर्गों की विश्व दष्टि के प्रसार तथा लोकप्रियता द्वारा अर्जित की जाती हैं रेजर सुनियस (Rager Sunious) के अनुसार "प्राधान्य एक राजनीतिक और वैचारिक नेतत्व का सम्बन्ध नहीं है, बल्कि यह तो सहमति का संगठन है।"

ग्रामसी का कहना है कि लेनिन की प्राधान्य सम्बन्धी अवधारणा लेनिन का सैद्धान्तिक कार्य है। लेनिन ने इस अवधारणा का प्रयोग सर्वहारा की भूमिका निभाने के लिए

किया है। ग्रामसी ने इसका प्रयोग उस क्रिया से लिया है, जिसमें सर्वहारा वर्ग उन सभी शक्तियों पर प्राधान्य प्राप्त करते हैं जो कि पूंजीवाद के विरूद्ध हैं और उन्हें एक राजनीतिक, आर्थिक, ऐतिहासिक गुट में एक करके आंतरिक गतिरोध को समाप्त करते हैं। ऐतिहासिक गुट की यह धारणा जिसमें आर्थिक, सामाजिक और वैचारिक शक्तियां एक अस्थायी एकता में समाज को बदलने का प्रयोग करें, यही विचार ग्रामसी के विश्लेषण का केन्द्रीय विचार है। ग्रामसी ने अपने जीवन के प्रारम्भिक समय में तो इसे प्रभुत्व की एक प्रणाली के रूप में ही प्रयोग किया था, लेकिन उसका राजनीतिक व्यवहार प्राधान्य की भावना से घनिष्ठ रूप से जुड़ा होने के कारण इस विचार का पोषक है कि प्राधान्य एक संस्था है। सस्था के रूप में राज्य का अर्थ मजदूरों को नए राज्य के निर्माण के लिए प्रशिक्षित करना है। फैक्टरी काउंसिल इसी सन्दर्भ में प्राया करती हैं। ये वास्तव में क्रान्ति के विचार को चेतना के द्वारा समभव बनाने के लिए प्रयासरत् होती हैं। ग्रामसी का यह विचार लेनिन की तरह 1926 तक वर्ग नेतत्व के रूप में पोषित होता रहा जिसमें मजदूर वर्ग को अपना स्वतन्त्र राजनीतिक स्वरूप विकसित करना माना गया। लेकिन 'Prison Notes' में उनकी धारणा में परिवर्तन आया और उसने प्राधान्य को नए रूप में विकसित किया, अब ग्रामसी ने प्राधान्य को समूह के नैतिक और बौद्धिक नेतत्व के रूप में मान्यता प्रदान की। परमाधिकार की अवधारणा के नेतत्व के रूप में अब प्राधान्य का विचार समूह के नैतिक और बौद्धिक नेतत्व के विचार के साथ–साथ प्रभुत्व का उत्पीड़क स्वरूप का भी पोषक बन गया। यह विचार ग्रीक काल्पनिक कथा के आधे जानवर (अवपीड़क का प्रतिनिधित्व) तथा आधे मानव (प्रभुत्व का प्रतिनिधित्व) की सहायता से पोषित किया गया है।

ग्रामसी का कहना है कि एक वर्ग के विकास में तीन पहलू आथिक, सामूहिक और अधिपत्यात्मक होते हैं। इस दष्टि से प्राधान्य ही नेतत्व है तथा अन्य वर्गों के बुद्धिजीवियों की सहमति ही इसका आधार है। ग्रामसी ने आगे कहा है कि प्राधान्य या प्रभुत्व दो प्रकार का हो सकता है। प्रथम रूप में तो यह सर्वहारा वर्ग की एक ऐसी युक्ति हो सकता है जिसके द्वारा सर्वहारा वर्ग नए राज्य का निर्माण कर सकता है। दूसरे रूप में यह राज्य का एक भाग हो सकता है, राज्य के एक भाग के रूप में प्राधान्य या प्रभुत्व का कार्य है–शासक वर्ग के लिए सहमति अर्जित करना। ग्रामसी ने कहा है तुरिन काउंसिल आन्दोलन ने प्राधान्य की अवधारणा का ही पोषण किया है। इस आन्दोलन में शासक वर्ग ने अपने अधीनस्थ वर्ग पर अपना प्राधान्य कायम रखने क`लिए सहमति प्राप्त की। इस काम में बुद्धिजीवियों की भूमिक शासक वर्ग के पक्ष में ही रही। बुद्धिजीवियों के सहयोग से शासक वर्ग की विश्व दष्टि ने समस्त समाज को आत्मसात् कर लिया।

ग्रामसी ने कहा है कि अब तक वे विश्व इतिहास का अध्ययन करने से यह बात सर्वविदित हो जाती है कि आज तक के जन आन्दोलन बुर्जुआ समाज के पक्ष में ही रहे हैं। जब तक सांस्कृतिक प्राधान्य बुर्जुआ वर्ग के हाथों में रहेगा, तब तक सर्वहारा क्रान्ति असम्भव है। सर्वहारा वर्ग को अपना प्राधान्य स्थापित करने के लिए संकीर्ण हितों से ऊपर उठकर कार्य करना चाहिए। इसे समस्त समाज के हितों का संरक्षक बनने का प्रयास करना चाहिए। जब तक सर्वहारा वर्ग के बुद्धिजीवी सक्रिय रूप से राजनीतिक सहभागिता अदा नहीं करेंगे तब तक उनका हित होने वाला नहीं है। ग्रामसी

ने कहा है कि दलीय संगठन और फैक्टरी काउंसिल भी नागरिक समाज में अपने प्राधान्य के बिना समाजवादी कार्यक्रम को सफल नहीं बना सकती।ग्रामसी ने अपने इस विचार पर जोर दिया है कि सर्वहारा वर्ग अपनी तानाशाही की स्थापना के बिना समाजवाद की स्थापना नहीं कर सकता। किसी भी क्रान्ति के लिए समाज में प्राधान्य को सहमति और दल दोनों की आवश्यकता होती है। सहमति और बल के बिना प्राधान्य का विचार निरर्थक है। प्रत्येक नागरिक समाज में प्राधान्य के लिए संघर्ष आम बात है। समाजवाद की स्थापना के लिए यह संघर्ष आर्थिक और राजनीतिक शक्ति पर अपना अधिकार करने के लिए जरूरी है। कभी–कभी यह नागरिक समाज में राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के बाद भी जारी रहता है। यही प्राधान्य के विचार का सार है।

इस प्रकार ग्रामसी ने प्राधान्य की अवधारणा को विश्व–क्रान्ति के विचार से जोड़ा है। उसने बुद्धिजीवियों के विचार को इस अवधारणा से जोड़कर समाजवाद का मार्ग तैयार किया है। उसने इस बात पर विशेष जोर दिया है कि सर्वहारा वर्ग के बुद्धिजीवियों के निर्माण के बिना विश्व क्रान्ति द्वारा समाजवाद की बात करना निरर्थक है। राज्य–शक्ति पर नियन्त्रण का कोई भी तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक नागरिक समाज में प्राधान्य न हो। नागरिक समाज में प्राधान्य ही समाजवादी कार्यक्रम की सफलता का आधार है। इसी विचार के कारण ग्रामसी लेनिन व अन्य समाजवादियों से आगे निकल जाता है।

4. ***ग्रामसी के राज्य और नागरिक समाज पर विचार (Gramsci's Views on State and Civil Society)***–ग्रामसी का राज्य का सिद्धान्त उसके द्वारा राज्य और नागरिक समाज के पारस्परिक सम्बन्धों के विश्लेषण पर आधारित है। ग्रामसी और मार्क्स दोनों ने राज्य सम्बन्धी विचारों को नागरिक समाज के सन्दर्भ में पुष्ट किया है। लेकिन मार्क्स और ग्रामसी में इसी बात में भेद है कि मार्क्स ने आर्थिक सम्बन्धों पर अधिक जोर दिया है, जबकि ग्रामसी का जोर अधिरचना पर है। ग्रामसी की राज्य सम्बन्धी अवधारणा राजनीतिक और दार्शनिक तत्वों के विश्लेषण पर आधारित है। ग्रामसी ने वहां से शुरू किया है, जहां पर लेनिन ने छोड़ा है। ग्रामसी का मानना है कि राज्य में राजनीतिक और नागरिक समाज दोनों शामिल हैं।

राज्य सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण करने के बाद इटली के सन्दर्भ में अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि इटली का राज्य कभी भी लोकतन्त्रीय नहीं था बल्कि निरंकुश और पुलिस राज्य की तरह था। यह मजदूर और कृषक वर्ग के विरूद्ध पूंजीपति वर्ग था उद्योगपति वर्ग की तानाशाही थी। यद्यपि उसका यह विश्लेषण इटली के एकीकरण से पूर्व का है। ग्रामसी का कहना है कि इटली के सभी राज्य स्वतन्त्र रहे क्योंकि बुर्जुआ लोग उन्हें एक करने में असफल रहे। मैकियावेली द्वारा किए गए एकीकरण के सारे प्रयास व 19वीं सदी के अन्त के अन्य प्रयास भी असफल रहे, ग्रामसी ने कहा है कि 19वीं सदी के बाद इटली का एकीकरण का प्रमुख कारण अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन था।

ग्रामसी ने अपने विश्लेषण में कहा है कि राज्य शोषण का यन्त्र होने के साथ–साथ सभी सैद्धान्तिक और व्यवहारिक क्रिया–कलापों का जटिल समूह है जिसके द्वारा शासक वर्ग शासितों पर अपने शासन या आधिपत्य को न्यायोचित ठहराता है और उनकी सहमति प्राप्त करने का भी प्रयास करता है। ग्रामसी ने आगे कहा है कि शासक

वर्ग का आधिपत्य नागरिक समाज के माध्यम से ही सम्भव हुआ है परन्तु यह आधिपत्य सभी समाजों में बराबर नहीं रहा है। यदि रुस और पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों की तुलना की जाए तो रुस में राज्य ही सब कुछ रहा है जबकि पश्चिम में राज्य और नागरिक समाज में अच्छे सम्बन्ध रहे हैं। जब रुस में राज्य को झटका लगा तो नागरिक समाज का उदय हुआ। ग्रामसी का यह विश्लेषण दो विभिन्न प्रकार के राज्यों के बारे में ज्ञान करा देता है। ग्रामसी ने आगे कहा है कि लेनिन का राज्य सम्बन्धी मॉडल पश्चिमी के सन्दर्भ में अनुपयुक्त ही रहा है। पश्चिमी के विकसित देशों में रुस की तरह संक्रमणकालीन वह माध्यम है जो पाश्चात्य जगत के विकसित देशों में क्रान्ति लाई जा सकती है।

ग्रामसी ने हीगल की तरह नागरिक समाज की अवधारणा में अपना विश्वास व्यक्त करते हुए कहा है कि राज्य नागरिक और राजनीतिक समाज का योग है। ग्रामसी ने नागरिक समाज को भी एक अधिसूचना के रूप में लिया है। कई बार तो ग्रामसी ने नागरिक समाज को राजनीति और अर्थव्यवस्था के बीच मध्यस्थता तथा आर्थिक संरचना को राज्य के बीच कानून द्वारा दबाव डालने वाला बताया है। ग्रामसी ने कहा है कि नागरिक समाज का सबसे महत्वपूर्ण कार्य संस्कृति से सम्बन्धित है। उसी कारण ग्रामसी लेनिन व मार्क्स से आगे निकल जाता है। कई बार ग्रामसी ने तानाशाही और प्राधान्य (Hegemony) को समान माना है और राज्य को भी उसी श्रेणी में खड़ा किया है। उसने राज्य और नागरिक समाज को भी समान माना है। इतना होने के बावजूद भी ग्रामसी राज्य और नगरिक समाज के गहरे रिश्ते से परिचित था और फासीवाद के अन्तर्गत तो इनके सम्मिश्रण से भली–भांति अवगत था। लेकिन उन्होंने राज्य और नागरिक समाज में अन्तर भी किया है जो उदारवादी धारणा में अधिक स्पष्ट है। राज्य और नागरिक समाज में मुख्य अन्तर यही है कि नागरिक समाज निजी है, जबकि राज्य राजनीतिक समाज का प्रतिनिधि है।

ग्रामसी ने अपने विश्लेषण में आगे कहा है कि प्राधान्य की अवधारणा का अर्थ ही यह है कि सांस्कृतिक, राजनीतिक और शैक्षिक आदि सभी क्षेत्रों में परिवर्तन हो। ग्रामसी ने कहा है कि प्राधान्य आर्थिक भी होना चाहिए। इसी दष्टि से रुस की क्रान्ति पूर्ण क्रान्ति नहीं कही जा सकती, क्योंकि इसमें नागरिक समाज और राज्य का समायोजन नहीं था। कभी–कभी ग्रामसी ने यह भी कहा है कि नागरिक समाज राजनीति और अर्थव्यवस्था में मध्यस्थ का कार्य करता है। ग्रामसी ने आगे यह भी कहा है कि सर्वहारा वर्ग का राजसत्ता पर नियन्त्रण नागरिक समाज के माध्यम से ही सम्भव है। ग्रामसी का मानना हे कि जब नागरिक समाज द्वारा राजनीतिक समाज पर पूर्ण अधिकार हो जाएगा तो वही वर्ग विहीन समाज की स्थिति होगी।

5. ***ग्रामसी के दल तथा राजनीति पर विचार (Gramsci's views on Party and Politics)–*** राजनीति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अरस्तु द्वारा अपनी पुस्तक 'The Politics' में किया गया था। अरस्तु ने इसका प्रयोग 'राज्य' के रूप में किया था। लेकिन कालान्तर में यह राज्य व सरकार की प्रत्येक समस्या से सम्बन्धित हो गया, चाहे वह समस्या सामाजिक और आर्थिक क्यों न हो। इटली में 'राजनीति' शब्द को नया आयाम देने का श्रेय मैकियावेली को प्राप्त हुआ मैकियोवेलियन राजनीति नैतिकता विहिन तथा अवसरवादिता पर आधारित नया पदबन्ध है जो राजनीति के नकारात्मक पक्ष पर अधिक जोर देती है। मैकियावेली की प्रसिद्ध पुस्तक 'The Prince' राजनीतिक

विचारधारा तथा राजनीतिविज्ञान को काल्पनिक आधार पर एकसूत्र में बांधती है। यह प्रयास आधे जानवर और आधे मानव की परिकल्पना पर आधारित है।

ग्रामसी ने मार्क्स के प्रति अपना लगाव प्रकट करते हुए उसके सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त को अपनी 'राजीनीति' की अवधारणा का आधार बनाया है। ग्रामसी की दष्टि में दर्शन और राजनीति में अटूट सम्बन्ध है। ग्रामसी का कहना है कि यदि दर्शन वास्तविक है तो उसे राजनीतिक भी होना चाहिए। उसने दर्शन और राजनीति में सम्बन्ध स्थापित करने के बाद राजनीति को परिभाषित करते हुए कहा है–"सभी क्रियाकलाप प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में विश्व की एक या अधिक धारणाओं के निर्माण सम्बन्धित है और एक या अनेक धारणाओं में भागेदारी रखते हैं, राजनीति के अन्तर्गत शामिल हैं।" इसी आधार पर ग्रामसी परेकसी के दर्शन को राजनीति और दर्शन दोनों मानता है। उसका मानना है कि परेकसी का दर्शन (मार्क्सवाद) राजनीति भी है और राजनीति एक दर्शन भी है। ग्रामसी ने कहा है कि दर्शन के रूप में राजनीति का कार्य यह सोचना भी है कि उसे कैसा होना चाहिए ताकि वह निश्चित लक्ष्य तक पहुंच सके। अपने यथार्थ रूप में इसी कारण दर्शन को राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। जागरूक व्यक्ति ही वातावरण को समझकर उसमें परिवर्तन ला सकता है अर्थात् उसे लक्ष्य के अनुकूल बना सकता है। कानून भी राजनीति के क्षेत्र में ही आता है जो शासन कला से सम्बन्धित है और लोगों पर शासक का शासन आसान बनता है। इसी कारण राजनीति या राजनीतिक क्रियाकलाप एक जैविक विकसित विद्या है जिसे हमेशा नई–नई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है और समयानुसार सरंचना में परिवर्तन भी करने पड़ते हैं ताकि समाज का पुनर्निर्माण किया जा सके। इसी अर्थ में राजनीतिक दल को भी संगठनात्मक और राजनीतिक दोहरे कार्य करने पड़ते हैं।

ग्रामसी ने मार्क्सवाद का विश्लेषण करते हुए कहा है कि दर्शन राजनीति और अर्थशास्त्र मार्क्सवाद के तीन तत्व हैं। मनुष्य और पदार्थ में गतिरोध द्वन्द्वात्मक हैं। भाषिकी विकास के रूप में मार्क्सवाद के तीनों तत्व एकीकार हो जाते हैं। दर्शन वह साधन है जो मानव इच्छा तथा आर्थिक दशा के बीच में सम्बन्ध स्थापित करता है। यह सरंचना और अधिरचना के बीच में भी एकता लाता है। अर्थशास्त्र में कार्यकर्त्ताओं और औद्योगिक–उत्पादक शक्तियों में सम्बन्ध मूल्यों द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। राजनीति में राज्य और समाज के बीच सम्बन्ध ही संतुलन का आधार होता है। राजनीति शासक और शासित दो कोटियों पर ही आधारित है। यह नेता तथा नेतत्व पर भी आधारित है। नेता और नेतत्व भाषिकी अन्तःक्रिया पर आधारित है। इसमें दल की प्रकृति राज्य की प्रकृति का ही मूल अवयव है। राज्य प्रकृति के एक विचारधारा और निश्चित लक्ष्य का समायोजन दल प्रकृति में ही सम्भव है। इसी सन्दर्भ में राजनीति, अर्थशास्त्र और सामाजिक संगठन एक सम्पूर्ण का निर्माण करते हैं और राजनीति मनुष्य को, जैसा वह है और निश्चित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जैसा उसे होना चाहिए, उसकी कल्पना करती है। इसलिए वास्तविक दार्शनिक वही है जिसे राजनीति का ज्ञान है।

ग्रामसी ने अपने विश्लेषण को फासीवाद पर आधारित करते हुए भी यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि फासीवाद इटालियन समाज के अन्तर्विरोधों को हल करने में असफल रहा। उसने आगे कहा कि समाज की महत्वपूर्ण समस्याओं का हल तो राजनीति की गतिशील और स्वायत्त प्रकृति में ही सम्भव है। ग्रामसी ने क्रोसे द्वारा मार्क्स की दी

गई व्याख्या को सही बताते हुए स्वीकार किया कि 'सर्वहारा वर्ग का मैकियावेली' बनकर ही सामाजिक ढांचे का पुनर्निर्माण सम्बन्ध है। इसी सन्दर्भ में ग्रामसी ने इटली की तत्कालीन दशा का विश्लेषण किया और अपनी रचना 'Prison Notes' में मैकियावेली के सिद्धान्तों को स्वीकार किया। उसने कहा कि मैकियावेली का सबसे महान कार्य राजनीति को नीति–शास्त्र से अलग करना रहा है। इसी सन्दर्भ में ग्रामसी ने दल को ही आधुनिक राजकुमार कहा है। उसकी दष्टि में दल बुद्धिजीवी समाज का एक संगठन है जिसमें सामूहिक इच्छा के रूप में व्यक्ति की इच्छा का लोप हो जाता है। दल ही श्रम संघवादी प्रभुत्व को स्थापित करने के लिए तथा सभ्य समाज की मांगों को पूरा करने के लिए जन समुदायों में राजनीतिक चेतना का समावेश करता है, दल एक वर्ग के लिए एक नामतन्त्र है जो किसी भी दल को इतिहास, समाज तथा राज्य के जटिल चित्रांकन से प्रकट होता है। राजनीतिक दल अपने वर्ग के हितों के प्रति न तो आंख मूंद सकता है और न ही यह सम्भव है। उसके तीनों तत्व–विश्वसनीय सैनिक, नयक और कप्तान, उसे चैन से नहीं बैठने दे सकते। फासीवाद में पाई जाने वाली दलीय स्वायत्तता ही समाज के अन्तःविरोधों को दूर करने में असफल रही है और इसी कारण उसका जल्दी पतन हो जाएगा। इसके विपरीत मार्क्स के क्रान्ति के विचार में दलीय अनुशासन का महत्व कभी कम नहीं होगा। इसी कारण ग्रामसी ने अपनी दल सम्बन्धी अवधारणा का निर्माण मैकियावेली, मार्क्स और लेनिन के विचारों के अध्ययन के आधार पर किया है जिसके अन्तर्गत राजनीतिक दल श्रमिक या सर्वहारा वर्ग को नेतत्व का यन्त्र है और वह बुर्जुआ वर्ग का अन्त करता है। इस कार्य में ग्रामसी बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका को महत्वपूर्ण मानता है। उसका मानना है कि इस वर्ग के बिना न तो सर्वहारा वर्ग को संगठित किया जा सकता है और न ही किसी क्रान्ति की आशा की जा सकती है।

ग्रामसी का दल के बारे में यह विचार है कि दल को अपना नाम सार्थक करने के लिए सांस्कृतिक और राजनीतक दोहरे कार्य करने पड़ते हैं। आधुनिक युग में समय की आवश्यकता ने दलों का गुटों में विभाजन अपिरहार्य कर दिया है। जिन देशों में एक ही दल है वहां दल के कार्य राजनीतिक होने के साथ–साथ तकनीकी भी हो जाते हैं। जहां पर दलों के परोक्ष चरित्र हैं, वहां पर दल शुद्ध रूप में शैक्षणिक, नैतिक और सांस्कृतिक समुदाय के रूप में ही कार्य करते हैं। इस दष्टि से दल दो प्रकार के मालूम पड़ते हैं–पहला दल वह जिसका निर्माण सास्कृतिक मनुष्यों का विशिष्ट वर्ग करता है। इनका कार्य आपस में समान विचारधारा वाले दलों के महान आन्दोलन को सांस्कृतिक और सामान्य विचारधारा के क्षेत्र में नेतत्व प्रदान करना है। दूसरा दल आधुनिक युग में किसी बुद्धिजीवी वर्ग के द्वार निर्मित न होकर जन समूहों की राजनीतिक केन्द्र के प्रति सामूहिक वफदारी की देन होता है। दल के निर्माण व स्थापना की निश्चित तिथि की बात करना तो मूर्खतपूर्ण प्रश्न है, दल के अस्तित्व के लिए तो निश्चित रूप से कुछ–न–कुछ अवश्य कहा ही जा सकता है। ग्रामसी का कहना है कि दल का अस्तित्व–जन तत्व, संयोजक तत्व और अन्तर्राष्ट्रीय तत्वों पर आधारित है। जन तत्व में साधारण और औसत व्यक्ति शामिल हैं, जिनकी भागीदारी अनुशासन और निष्ठा का रूप लेती है। यह तत्व राजनीतिक दष्टि से प्रभावहीन है। दूसरा तत्व संयोजक तत्व है जो राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्रीयकरण करता है और अनुशासन का तत्व दल में लाता है। तीसरा तत्व अन्तर्राष्ट्रीय तत्व है जो पहले तत्व को दूसरे तत्व से जोड़ता है। ग्रामसी ने दल सम्बन्धी विश्लेषण में यह बात भी जोड़ी है कि दल को

मजदूर वर्ग का एक भाग होना चहिए ताकि फासीवाद के विरूद्ध एक संगठित ढांचा खड़ा किया जा सके। अतः ग्रामसी ने इटली की तत्कालीन परिस्थितियों में दल को बहुत महत्व दिया है।

6. ***ग्रामसी द्वारा फासीवाद का विश्लेषण (Analysis of Fascism by Gramsci)***–फासीवाद का विश्लेषण ग्रामसी का राजनीतिक चिन्तन को महान योगदान है। ग्रामसी ने इटली, स्पेन, पुर्तगाल, पोलैण्ड, बाल्कान आदि देशों के राजनीतिक दलों व विचारधाराओं का अध्ययन करने के बाद निष्कर्ष निकाला कि फासीवाद इटली व अन्य देशों में जटिल सामाजिक व राजनीतिक समस्याओं का समुचित समाधान निकालने में असफल रहा है। इसमें विश्व दष्टि का भी नितान्त अभाव है। इटली में फासीवाद का आगमन भी पूंजीवाद की तरह ही अपूर्ण परिस्थितियों का परिणाम है। फासीवाद के आगमन का कोई निश्चित क्रम नहीं हे। इटली में पूंजीवाद का आगमन सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति का परिणाम न होकर विश्वयुद्ध का परिणाम है। इसी कारण इटली में पूंजीवाद व फासीवाद दोनों अपूर्ण हैं। इसी कारण इटली में विशेष वर्ग के प्राधान्य ने प्राधान्य या प्रभुत्व का संकट भी पैदा किया है। फासीवाद शक्ति पर आधारित दर्शन होने के कारण प्राधान्य के संकट से जुझ रहा है। इसी कारण फासीवाद एक निष्क्रिय क्रान्ति है जो इटली को आधुनिक बनाने और इसकी अर्थव्यवस्था का पुर्ननिर्माण करने में असफल रही है। इसके विपरीत रुस में मार्क्सवाद एक पूर्ण व सक्रिय क्रान्ति होने के कारण वहां की अर्थव्यवस्था का पुर्ननिर्माण करने में सफल रहा है। फासीवाद ग्रामीण तुच्छ बुर्जुआ और शहरी पूंजीपति के गठजोड़ से उत्पन्न हुआ है इसी कारण विश्व दष्टि के अभाव में इटली का एकीकरण भी कमजोर पड़ा और इटली की राजनीतिक दशा कमजोर व अस्थायी रहा। इसलिए फासीवाद न केवल इटली से बल्कि विश्व से भी अपनी अल्पायु में चल बसा।

अपने फासीवाद के विश्लेषण ने ग्रामसी ने तीन सामान्य अवधारणाएं भी विकसित की हैं–I. सीजेयरवाद (Caesarism), II. संघर्ष का युद्ध (War of Attrition), III. निष्क्रिय क्रान्ति (Passive Revolution) सीजेयरवाद एक ऐसी अवस्था का प्रतीक है जिसमें अज्ञात शक्तियों द्वारा राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करके प्राधान्य की संकटकालीन व्यवस्था में स्थिर संतुलन कायम किया जाता है। यह सामान्य राजनीति के तहत वैधीकरण की प्रक्रिया के तहत ही होता है। ग्रामसी ने फासीवाद को संघर्ष का युद्ध कहते हुए इसे 'आन्दोलन के युद्ध' से अलग किया हैं उसका कहना है कि आन्दोलन के युद्ध में सैनिक शक्ति के द्वारा राजनीतिक शक्ति पर एकाधिकार की प्रद्धति पाई जाती है। 1917 की नवम्बर क्रान्ति इसी का उदाहरण है। ग्रामसी ने ट्राटस्की की निरन्तर क्रान्ति की अवधारणा का विरोध करते हुए कहा है कि निरन्तर क्रान्ति का विचार तो उस स्थिति में ही ठीक था जब राजनीतिक दलों और आर्थिक संघों की संख्या अधिक नहीं थी। इसलिए ग्रामसी ने फासीवाद को निष्क्रिय क्रान्ति की अवधारणा से पुष्ट किया। ग्रामसी ने कहा है कि निष्क्रिय क्रान्ति की अवधारणा प्रत्यक्ष कार्यवाही की समर्थक नहीं है। यह स्थिति के युद्ध (War of Position) की समर्थक हो सकती है। निष्क्रिय क्रान्ति की अवधारणा व्यूह रचना के युद्ध के प्रतिकूल है। इसी कारण फासीवाद की यथास्थिति का ही समर्थक रहा है। उसने परिवर्तन के किसी भी विचार का विरोध किया है।

इस तरह ग्रामसी ने फासीवाद का व्यापक विश्लेषण किया और उसे इटली की तत्कालीन समस्याओं का समाधान कर पाने में प्रतिकूल बताया, इसलिए ग्रामसी की फासीवाद सम्बन्धी विचाधारा राजनीतिक चिन्तकों के लिए आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है। ग्रामसी को इसी कारण फासीवाद का प्रामाणिक व्याख्याकार भी माना जाता है।

ग्रामसी का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation of Gramsci)

उपरोक्त विचारों का अध्ययन व विश्लेषण करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ग्रामसी असाधारण प्रतिभा व वामपंथी दार्शनिक चिंतक है। मार्क्सवादी इतिहासकार ई०जे० हाब्सबाम ने ग्रामसी को पश्चिमी यूरोप में 20वीं सदी का का सम्भवता सर्वाधिक मौलिक साम्यवादी विचारक माना है। अन्य विचारकों ने भी ग्रामसी को ऐसा उग्र–साम्यवादी विचारक कहा है जिनके व्यक्तित्व और कृतित्व में विचार और आचरण अर्थात् सिद्धान्त और व्यवहार का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। इटली के सर्वहारा वर्ग के प्रति उनकी चिन्ता और श्रमिक आन्दोलनों में उनकी सक्रिय सहभागिता में उनके चिन्तन को यथार्थवादी और व्यवहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। इतिहास, संस्कृति, शिक्षा, दर्शन और सामाजिक समस्याओं के प्रति ग्रामसी का मार्क्सवादी दष्टिकोण उन्हें उग्र–साम्यवादी बना देता है। कलोकोवास्की ने ग्रामसी को लेनिन के बाद साम्यवादी परम्परा का महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारक माना है। यद्यपि ग्रामसी ने मार्क्सवादी दर्शन को बदलती परिस्थितियों और बदलते परिवेश के अनुसार विकसित किया लेकिन फिर भी उनकी आलोचना की गई है।

ग्रामसी की पुस्तक 'Prison Notes' के प्रकाशन के तुरन्त बाद राजनीतिक समीक्षकों व आलोचकों ने ग्रामसी पर आरोप लगाया कि ग्रामसी स्वतन्त्र या मौलिक क्रान्तिकारी लेखक नहीं बल्कि कट्टर लेनिनवादी व मार्क्सवादी है। कुछ अन्य आलोचकों ने उन्हें हीगेलियन या समाज लोकतांत्रिक माना। ग्रामसी को बेनेदित्तो क्रोसे की परम्परा का आदर्शवादी विचारक भी कहा जाता है जो मार्क्सवाद का विरोधी और संशोधनवाद का समर्थक भी माना जाता है। ग्रामसी के राजनीतिक चिन्तन की आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं–

1. ग्रामसी की बुद्धिजीवियों, दल और राज्य सम्बन्धी अवधारणाओं ने विभिन्न विरोधाभासों को जन्म दिया है। उनका लोकतांत्रिक केन्द्रवाद पर जोर और उनकी प्राधान्य संघर्ष सम्बन्धी अवधारणा उसे सुधारवादी, सामाजिक प्रजातन्त्रवादी और नव–मार्क्सवादी बना देती हैं।
2. ग्रामसी ने मार्क्सवाद को हीगेलियन तरीके से समझने का प्रयास किया है। मार्क्स व एंजिल्स को हीगेलवादी तरीके से उसका समझने का प्रयास गलत है। उसने इतिहास और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को भी ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुरूप मानकर भारी गलती की है।
3. हीगलवादी दार्शनिक क्रोसे के प्रभाव में आकर ग्रामसी ने इतिहास पर अधिक जोर दिया है इससे राजनीतिक दर्शन व चिन्तन के अन्य पहलूओं की उपेक्षा हुई है।
4. कुछ विचारकों ने ग्रामसी को इटालियन साम्यवादल दल (PCI) में उनकी भूमिका के कारण बुर्जुआ समाज का पोषक भी कहा है।
5. रोजा ने ग्रामसी के विचारों का विश्लेषण करने के बाद उसे कृषक हितों का पोषक कहा है। कुछ अन्य विचारकों ने उसको लेनिन की तरह पेशेवर क्रान्तिकारियों का समर्थक विचारक माना है जो उनकी बुद्धिजीवियों की अवधारणा से मेल खाता है।

इसलिए ग्रामसी को हीगेलियन मार्क्सवादी, सामाजिक प्रजातन्त्रवादी तथा लेनिनवादी कहकर अनेक आपेक्ष लगाए गए। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ग्रामसी का कोई महत्व नहीं

है। ग्रामसी ही एकमात्र ऐसा विचारक रहा है जिसने इटालियन समाज को विश्व मानचित्र पर संगठित राष्ट्र के रूप में उभारने के लिए व्यावहारिक व यथार्थवादी विचारों का पोषण किया है। उसने मार्क्सवाद को इटली की परिस्थितियों के अनुकूल ढालकर सामाजिक परिवर्तन का मार्ग तैयार किया है। इसी कारण उसे नव–साम्यवादी और आधुनिक मानवतावादी विचारक कहा जाता है। वह अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक अपने सिद्धान्तों और व्यवहार की एकरूपता का पोषण करने में ही लगा रहा। इसके मार्क्सवादी दर्शन के कारण उन्हें लेनिन व मार्क्स का सच्चा उत्तराधिकारी माना जा सकता है। उनके चिन्तन ने विश्व क्रान्ति की जो आशाएं जगाई हैं, वह उसका महान योगदान है। अतः ग्रामसी एक ऐसा राजनीतिक चिन्तक व दार्शनिक है जो राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

इकाई-III

अध्याय-6: महात्मा गांधी (Mahatma Gandhi)

परिचय (Introduction)

अहिंसा के प्रबल समर्थक व सत्याग्रही सन्त महात्मा गांधी का दर्शन समस्त भारतीय चिन्तकों में सबसे अधिक महान है। इस सन्त ने राजनीतिक चिन्तकों की तरह अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किए, लेकिन फिर भी उसे अरस्तु, प्लेटो, हॉब्स, लाक व रुसो आदि की तरह स्थान प्राप्त नहीं हैं। परन्तु महात्मा गांधी द्वारा किए गए कार्यों ने उसे कर्मयोगी बना दिया है। उसने न केवल भारत के राजनीतिक क्षेत्र में कार्य किया है, बल्कि विश्व में राजनीतिक चिन्तन में बड़ी क्रान्तिकारी मौलिक देन दी है। उसके अहिंसावाद के सिद्धान्त की आज भी प्रासांगिकता है। गांधी जी के सिद्धान्त आज भी उतने ही प्रासांगिक हैं, जितने उस समय थे। उसने धर्म और राजनीति का एकीकरण करके एक महान कार्य किया है। उसका मानना है कि आर्थिक व्यक्ति ही एक अच्छा जन नायक बन सकता है। उसने राजनीति की व्यावहारिक समस्याओं का निराकरण करने के लिए जो राम राज्य का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, वह उसको अरस्तु के सर्वोत्तम व्यावहारिक राज्य या उपादर्श–राज्य की कल्पना के निकट लाकर रख देती है। उसके विचारों में कथनी करनी का जो सामंजस्य विद्यमान है, अन्य किसी में नहीं है। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में महात्मा गांधी की भूमिका को भूलाया नहीं जा सकता। डॉ० जान हेन्स होप्स का कथन है–"ईसा मसीह के बाद गांधी जी संसार के सबसे महान शक्तिशाली व्यक्ति थे, इसलिए नहीं कि उन्होंने स्वाधीनता संग्राम का सफलतापूर्वक संचालन किया बलिक इसलिए कि हिंसा, स्वार्थ, शक्ति की तष्णा और नैतिक पतन के वर्तमान वातावरण में भी उन्होंने सत्य, अहिंसा और साधनों की शुद्धता का कठिन पाठ अपने व्यावहारिक जीवन द्वारा लोगों के गले उतार दिया।" उसने साधनों की पवित्रता पर जोर देकर पथभ्रष्ट राजनीतिज्ञों को नई प्रेरणा दी। उसने राजनीति का आध्यात्मीकरण करके राजनीति को मानवता की सेवा का सच्चा साधन बताया। उसके सत्य और अहिंसा के विचार आज मानवता के लिए एक नए अध्याय का प्रारम्भ करते हैं। आज परमाणु युग में गांधी जी का चिन्तन शान्ति स्थापना का अटूट शास्त्र है।

जीवन परिचय (Life Sketch)

सत्याग्रही सन्त व अहिंसा के प्रबल समर्थक महात्मा गांधी का जन्म 2 अक्टूबर, 1869 को पोरबन्दर (गुजरात) में हुआ था। उनका बचपन का नाम मोहनदास था। उनके पिता श्री कर्मचन्द गांधी पोरबन्दर रियासत के दीवान थे और उनकी माता श्रीमती पुतलीबाई पुराने विचारों की हिन्दू महिला थी। परन्तु एक योग्य महिला होने के नाते उनकी मां ने उन पर गहरा प्रभाव डाला।

उनके पिता ने भी सत्यवादी, वीर और उदार व्यक्ति होने के कारण उनके मानस पटल पर गहरा प्रभाव डाला। आज्ञापालन का गुण गांधी जी ने अपने माता–पिता से बचपन में ही सीख लिया था। उनके माता–पिता ने गांधी जी को एक योग्य व्यक्ति बनाने के लिए जी–जान से प्रयास किए, उन्होंने गांधी जी को पोरबन्दर के प्राथमिक स्कूल में प्रवेश दिलाया। जब गांधी जी की आयु सात वर्ष की थी तो वे अपने माता–पिता के साथ राजकोट हाईस्कूल में प्रविष्ट हो गए और यहीं से उन्होंने 1887 ई० में मैट्रिक की परीक्षा पास की। 13 वर्ष की आयु में उनका विवाह पोरबन्दर के एक व्यापारी गोलकनाथ मानकजी की पुत्री कस्तूरी बाई से हो गया। वह एक शान्त व शील स्वभाव की लड़की थी। उनके स्वभाव ने गांधी जी को अत्यधिक प्रभावित किया। अपने वैवाहिक जीवन के पश्चात् भी गांधी जी ने पढ़ाई जारी रखी। अपने स्कूल समय के दौरान गांधी जी न तो पढ़ाई में ही प्रथम थे और न ही खेल में। एक वर्ष वे परीक्षा में फेल हुए, लेकिन अगले वर्ष एक साथ दो कक्षाएं पास करके अपने सहपाठियों के साथ पढ़ने लगे। मैट्रिक की परीक्षा पास करने के बाद जब उन्होंने भावनगर कॉलेज में प्रवेश लिया तो वहां पर अंग्रेजी पढ़ना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। इसलिए उन्होंने पढ़ाई छोड़ दी और कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैण्ड चले गए और वहां 1888 से 1891 तक रहे। वहां पर कानून की शिक्षा प्राप्त करने में बेचरजी स्वामी नामक एक जैन मुनि ने उनक पूरी मदद की। इस मुनि के प्रभाव से गांधी जी के जीवन में कभी शराब, मांस और औरत को न छूने की प्रतीज्ञा की। विदेश में पढ़ाई के दैरान गांधी जी को कई परेशानियों का सामना करना पड़ा। वहां पर उन्हें घर की बहुत याद सताती थी। वहां पर शाकाही रहना बड़ा मुश्किल काम था। यद्यपि कुछ समय के लिए गांधी जी विदेशी रंग में रग गए लेकिन जल्दी ही उनकी आत्मा की आवाज ने उनको गलती का अहसास दिला दिया और वे सामान्य जीवन जीने लग गए और 1891 ई० में बैरिस्टरी की परीक्षा पास करके भारत लौट आए।

गांधी जी ने भारत आकर वकालत करनी शुरू की। लेकिन उन्हें भारतीय कानून और अदालतों का ज्ञान नहीं था। इसलिए उसकी वकालत न चली। इसके बाद वे अपने मित्रों के सुझाव पर कानून का अध्ययन करने बम्बई चले गए। वहां भी वह इस पेशे में असफल रहे और वापिस राजकोट आ गए। वहां आने पर गांधी जी को दक्षिणी अफ्रीका में 'दादा अब्दुला एण्ड कम्पनी' की तरफ से एक मुकद्मे की पैरवी करने का अवसर प्राप्त हुआ। गांधी जी ने इस अवसर का पूरा लाभ उठाया और 1893 में अफ्रीका चले गए। 1893 में उन्होंने डरबन जाकर मुकद्मा लड़ा। यद्यपि गांधी जी वहां केवल एक वर्ष के लिए गए थे लेकिन वहां पर गोरे शासन की नीति को समाप्त कराने के लिए 20 वर्ष तक रहे। गांधी जी ने वहां पर रंग भेद की नीति (Policy of Apartheid) के खिलाफ सत्याग्रह आन्दोलन चलाया। वे कई बार जेल भी गए। यहां पर उनके मौलिक राजनीतिक दर्शन का निर्माण हुआ जिसे उन्होंने सत्याग्रह का नाम दिया। गांधी जी ने अफ्रीका में रहकर भारतीय को मताधिकार से वंचित करने वाले नेटाल विधान सभा बिल को भी रद्द करवाया। दक्षिण अफ्रीका में रहकर गांधी जी ने भारतीयों पर हो रहे अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाई और उन्हें सम्मान का दर्जा दिलाया। जब गांधी जी आश्वस्त हो गए कि अब अफ्रीका में भारतीयों का जीवन सुरक्षित है तो वे वापिस भारत के लिए चल पड़े और 9 जनवरी, 1915 को मुम्बई पहुंचे।

1915 में भारत आकर गांधी जी ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम की बागडोर सम्भाली। भारत में गांधी जी को "भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का वीर" कहा गया। गांधी जी ने समाज सुधार पर लिखना और बोलना आरम्भ कर दिया। उन्होंने भारत की राजनीतिक समस्याओं पर चुप्पी साधे रखी। इसके दो कारण थे–एक तो गोखले ने उनसे यह वचन ले लिया था कि वह एक साल

तक भारत की राजनीतिक परिस्थिति पर अपनी राय जाहिर नहीं करेंगे तथा दूसरे वे कुछ भी कहने से पहले देश की राजनीतिक परिस्थितियों का पूरा जायजा लेना चाहते थे।

1914 में जब प्रथम विश्वयुद्ध शुरू हो चुका था, तो गांधी जी ने अंग्रेजों का समर्थन देने पर जोर दिया, क्योंकि प्रारम्भ में गांधी जी अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास करते थे। लेकिन जल्दी ही गांधी जी को अपनी भूल का अहसास हो गया और वे राष्ट्रीय आन्दोलन को मजबूत बनाने में लग गए। 1917 में गांधी जी ने बिहार में चम्पारण सत्याग्रह चलाया ताकि वहां के नील की खेती करने वाले मजदूरों की दयनीय स्थिति से सरकार को अवगत कराया जा सके। यह गांधी जी का प्रथम सत्याग्रह आन्दोलन था। इसकी सफलता ने गांधी जी के मन में राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए एक नया जोश भर दिया। 1918 में उन्होंने अहमदाबाद में एक कपड़े की मिल में काम करने वाले व्यक्तियों की दशा सुधारने के लिए प्रयास किया। इस दौरान 1919 में जब अंग्रेजी सरकार ने भारत में रौलट एक्ट पास कर दिया जो गांधी जी का मन बहुत दुःखी हुआ और गांधी जी ने सत्याग्रह आन्दोलन चलाने का निर्णय लिया। रौलट एक्ट को काला कानून कहा गया और जगह–जगह आन्दोलन शुरू हो गए। जब भारतीय एक जुलूस के रूप में जलियांवाला बाग (अमतसर) में एकत्रित हुए तो जरनल डायर ने गोलियां चलाकर हजारों भारतीयों को मौत की नींद सुला दिया। इससे गांधी जी को अत्यधिक दुःख हुआ। इस हत्याकांड की सर्वत्र निन्दा हुई। इस दौरान गांधी जी को पकड़कर मुम्बई जेल में भेल दिया गया।

जेल से छूटने पर गांधी जी ने अंग्रेजी अत्याचारों के खिलाफ कलकत्ता में 1920 में एक अधिवेशन में असहयोग का प्रस्ताव पास किया और पूरे जोर से असहयोग आन्दोलन शुरू कर दिया। गांधी जी ने भारतीयों को अंग्रेजों का किसी भी तरह सहयोग न करने की अपील की। गांधी जी इस आन्दोलन को अहिंसात्मक रूप देना चाहते थे, लेकिन 1922 में चौरा–चौरी घटना ने हिंसात्मक कार्यवाही के रूप में गांधी जी को दुःखी कर दिया और गांधी जी ने यह आन्दोलन वापिस ले लिया। इसके बाद गांधी जी ने नए सिरे से राष्ट्रीय संग्राम को मजबूत बनाने के प्रयास शुरू कर दिए। इसके बाद गांधी जी ने 1930 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया और 6 अप्रैल, 1930 को डांडी यात्रा करके नमक कानून भंग किया। 7 सितम्बर 1931 को गांधी जी लन्दन कांफ्रैंस में भाग लेने लन्दन चले गए और जब गांधी जी वापिस आए तो उन्होंने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को मजबूत बनाने के लिए 3 जनवरी, 1932 को सविनय अवज्ञा आन्दोलन दोबार आरम्भ कर दिया। इस दौरान गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया गया और गांधी जी ने 7 अप्रेल, 1934 को यह आन्दोलन समाप्त कर दिया। इसके बाद गांधी जी ने 1942 में क्रिप्स मिशन के प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया और 8 अगस्त, 1942 को भारत छोड़ो आन्दोलन की शुरूआत कर दी। इस दौरान गांधी जी ने करो या मरो (Do or Die) की नीति पर चलने का सुझाव दिया। 9 अगस्त, 1942 को गांधी जी गिरफ्तार कर लिया गया, अपनी शस्त्र शक्ति के बल पर गांधी जी द्वारा चलाए गए आन्दोलन को दबाने में तो सफल हो गए, लेकिन वे भारतीयों के जोश के आगे अधिक दिन तक नहीं टिक सके और अन्ततः उन्हें भारत को स्वतन्त्र करना पड़ा।

गांधी जी ने आजाद भारत का जो स्वप्न देखा था, वह 1947 में साकार होने का समय आ गया। जब भारत के सामने विभाजन का खतरा उत्पन्न हुआ तो वे काफी दुःखी हुए। लेकिन उनके न चाहते हुए भी भारत के विभाजन का फैसल हो गया। देश में साम्प्रदायिक झगड़ों को शान्त करने के लिए गांधी जी ने जी तोड़ मेहनत की। उन्होंने देश में साम्प्रदायिक भेदभाव स्थापित करने के लिए व्रत भी रखा। 30 जनवरी, 1948 को जब गांधी जी बिड़ला भवन से

प्रार्थना स्थल की ओर जा रहे थे तो नत्थू राम गोडसे ने अहिंसा, सत्य, प्रेम व शान्ति के पुजारी की गोली मारकर हत्या कर दी और सत्याग्रही सन्त तो सदा के लिए धरती मां की गोद में समा गए, लेकिन उनका जीवन दर्शन हमारे लिए शेष रह गया। आज गांधी जी के व्यावहारिक आदर्श हत्यारा मार्गदर्शन करने के लिए ज्योति पुंज की तरह जगमगा रहे हैं।

महत्वपूर्ण रचनाएं
(Important Works)

यद्यपि गांधी जी ने प्लेटो, अरस्तु, हॉब्स, लॉक तथा मार्क्स जैसे विचारकों की तरह कोई क्रमबद्ध दर्शन प्रस्तुत नहीं किया और न ही कोई राजनीतिक चिन्तन पर प्रकाश डालने वाला कोई ग्रन्थ लिखा, लेकिन उन्होंने जनता के सामने जो व्यावहारिक ज्ञान प्रस्तुत किया, इससे वे चिन्तकों से भी महान हैं। उन्होंने देश के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व राजनीतिक ढांचे के बारे में जो विचार प्रकट किए, एक विचारधारा बन गए जिसे गांधीवाद के नाम से जाना जाता है। गांधी जी ने स्वयं गांधीवाद जैसी वस्तु के अस्तित्व से इंकार किया है। गांधी जी पूरे जीवन सत्य की खोज में लगे रहे। उन्होंने अहिंसा के सिद्धान्त का जो विस्तार किया, इससे वे ईसा मसीह के समान माने जाने लगे। गांधी जी के विचारों और सिद्धान्तों की जानकारी हमें निम्नलिखित रचनाओं से प्राप्त होती है'–

1. Indian Case for Swarajya (1932)
2. The Story of My Experiments with Truth (1940)
3. Satyagraha (1935)
4. Economics and Khadi (1949)
5. The Science of Satyagraha (1957)
6. Hind Swaraj and Indian Home Rule (1958)
7. Trusteeship (1960)

इनके अतिरिक्त गांधी जी ने 'Truth is God', 'Basic Education', 'Ethical Religion', आदि रचनाएं भी लिखीं। गांधी जी के मुख्य सिद्धान्तों, मन्तव्यों और प्रयोगों का उल्लेख मुख्य रूप से उनकी प्रसिद्ध रचना–'My Experiments with Truth' में मिलता है। इन रचनाओं के अतिरिक्त गांधी जी ने अपने विचारों का प्रतिपादन हरिजन, यंग इंडिया, हरिजन सेवक, हरिजन बन्धु, नव जीवन आदि पत्रिकाओं मे भी किया।

गांधी जी के प्रेरणा स्रोत
(Inspirations of Gandhi Ji)

प्रत्येक व्यक्ति व विचारक समकालीन परिस्थितियों से अवश्य प्रभावित होता है। गांधी जी भी इसके अपवाद नहीं थे। गांधी जी के विचार भारतीय सभ्यता के प्राचीन स्रोतों तथा अन्य विद्वानों के विचारों से पूर्ण रूप से प्रभावित हुए हैं। उनकी विचारधारा व राजनीतिक कार्यक्रमों पर अनेक धर्मों तथा व्यक्तियों का स्पष्ट प्रभाव उनकी रचनाओं में देखा जा सकता है। इसलिए गांधी जी को भारतीय सभ्यता व संस्कृति की उपज कहना सर्वथा सही है। उनके विचारों एवं चिन्तन के मुख्य स्रोत निम्नलिखित हैं'–

1. ***पारिवारिक प्रभाव (Influence of the Family)***–गांधी जी के विचारधारा पर उनके

माता–पिता की धार्मिक प्रवत्तियों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। गांधी जी का परिवार उदारवादी विचारों में विश्वास रखता था। उनके पिता सत्य का पालन करने वाले, उदारता का दष्टिकोण रखने वाले तथा वीर पुरुष थे। उनकी मां धार्मिक प्रवत्ति वाली स्त्री थी, एसे माता–पिता के मार्ग–दर्शन व पालन पोषण से गांधी जी का व्यक्तित्व अलग तरह को हो गया। उसके अन्दर ईश्वर–भक्ति, ईमानदारी, सत्य, दढ़ निश्चय, अहिंसा, परोपकार, सदाचार आदि गुण परिवार के वातावरण से ही पैदा हो गए। पारिवारिक प्रभाव को स्वयं स्वीकारते हुए गांधी जी ने कहा है कि "मैं सदैव आने माता–पिता के बताए गए रास्ते पर चलने का प्रयास करता रहता हूं।"

2. ***धार्मिक प्रभाव (Influence of Religion)***–गांधी जी एक अत्यन्त ही धार्मिक प्रवत्ति वाले व्यक्ति थे, उनकी रचनाओं में बार–बार धार्मिक विचारों का ही पोषण हुआ है। उसने राजनीति का जो आध्यात्मीकरण किया है, उसका कारण उस पर धर्म का प्रभाव होना है। उसके चिन्तन पर हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म व जैन धर्म का अत्यधिक प्रभाव पड़ा।

(क) ***हिन्दू धर्म का प्रभाव (Influence of Hindu Religion)*** गांधी जी के विचारों पर सर्वाधिक प्रभाव हिन्दू धर्म का पड़ा। उनकी विचारधारा को वेदों, गीता व महाभारत ने अत्यधिक प्रभावित किया। उपनिषदों के प्रभाव के कारण गांधी जी ने लिखा है कि हममें ऐसी भावना विकसित होनी चाहिए कि हम दूसरों का दुःख समझ सकें और उस दुःख से मुक्ति दिलाने में ही सन्तोष व्यक्त करें। गीता के प्रभाव को स्वीकार करते हुए गांधी जी ने लिखा है–"जब मुझे प्रकाश की एक भी किरण कहीं दिखाई नहीं देती तो मैं उसे भगवद् गीता में खोजता हूं और उसके किसी श्लोक में अपने दुःख को दूर करने का उपाय प्राप्त करता हूं। अत्यन्त दुःखों और कष्टों के पलों में मेरे स्थिर व अविचलित रहने का सारा श्रेय भगवद् गीता को ही है।" गांधी जी ने न्याय, नीति, धर्म व तर्क का ज्ञान गीता से ही ग्रहण किया है। गीता का 'कर्म का सिद्धान्त' गांधी जी के जीवन का आदर्श बना रहा और गांधी जी ने एक कर्मयोगी की भूमिका को भली–भांति निभाया।

(ख) ***इस्लाम धर्म का प्रभाव (Influence of Islam)***–गांधी जी का इस्लाम धर्म की प्रसिद्ध पुस्तक 'कुरान' का गहरा प्रभाव पड़ा। गांधी जी इस्लाम को शान्ति व अहिंसा का प्रतीक मानते थे। उनका विश्वास था कि इस्लाम धम्र एकता और समानता की भावना को जन्म देता है। वे इस्लाम धर्म का अर्थ शान्ति, सुरक्षा तथा मुक्ति से लेते थे। वे इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मोहम्मद को दयावान, सुशील तथा विनीत मानते थे। उनके लिए 'कुरान' का हर पष्ठ पूजनीय था।

(ग) ***ईसाई धर्म का प्रभाव (Influence of Christinity)***–गांधी जी ने ईसाई धर्म का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बाईबल' पढ़ा और वे ईसा मसीह के आचरण व 'बाईबल' के सिद्धान्तों से अत्यधिक प्रभावित हुए। उन पर 'बाईबल' के प्रसिद्ध वाक्य–'पाप से घणा करो, पापी से नहीं' का गहरा प्रभाव पड़ा। उसने 'बाईबल' को ईसाई धर्म की गीता कहा। उन पर ईसाई धर्म के अन्य ग्रन्थ 'सरमान ऑन दी माउन्ट' का भी गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने इसे भी गीता के समान महत्व दिया। गांधी जी ने कहा है कि "यदि मुझे गीता से वंचित कर दिया जाए तो मैं 'सरमान ऑन दी माउन्ट' से भी वैसा ही आनन्द प्राप्त करूंगा" उन्होंने जीवन भर इस

पुस्तक के इस सिद्धान्त को कभी नहीं भूला–''बदी को नेकी से जीतो; अपने शत्रुओं से प्यार करो, जो तुम्हें अभिशाप दे, उसे आशीर्वाद दो, जो तुम पर अत्याचार करते हैं, उनके लिए तुम प्रार्थना करो।' इस तरह गांधी जी पर ईसाई धर्म का भी गहरा प्रभाव पड़ा।

3. ***विभिन्न चिन्तकों का प्रभाव (Influence of Various Thinkers)***–गांधी जी पर अनेक विचारकों का गहरा प्रभाव पड़ा। उन्हें जिन प्रमुख विचारकों ने प्रभावित किया, वे हैं–टालस्टाय, रस्किन, तिलक, गोखले, हेनरी डेविड थ्योरो। इनमें से रस्किन, गोखले तथा तिलक का प्रभाव अधिक पड़ा।

(क) ***जॉन रस्किन का प्रभाव (Influence of John Ruskin)***–जब गांधी जी नेटाल जा रहे थे तो रास्ते में उन्होंने जॉन रस्किन की प्रसिद्ध पुस्तक 'Unto The Last' पढ़ी। इस पुस्तक से प्रभावित होकर उन्होंने इसका गुजराती भाषा में अनुवाद किया और उसका नाम 'सर्वोदय' रखा। गांधी जी ने इस पुस्तक से तीन शिक्षाएं ग्रहण की।

I. वह आर्थिक व्यवस्था अच्छी है जिससे सबको लाभ होता है अर्थात् एक के भले में ही सबका भला हो सकता है।

II. वकील का काम भी नाई के काम की तरह ही समान महत्व का है अर्थात् दोनों का ही अपनी आजीविका कमाने का समान अधिकार है। अतः दोनों का जीवन–स्तर ऊँचा होना चाहिए।

III. श्रम का जीवन ही वास्तविक जीवन होता है। इसलिए किसान और मजदूर का जीवन ही जीने योग्य है।

इसके अतिरिक्त गांधी जी ने रस्किन से प्रभावित होकर बुद्धि की अपेक्षा चरित्र पर अधिक बल दिया। मानवीय चरित्र में आत्मिक बल को तथा राजनीति में धर्म को महत्व दिया इस तरह गांधी जी पर रस्किन का गहरा प्रभाव पड़ा।

(ख) ***टॉलस्टॉय का प्रभाव (Influence of Tolstoy)***–गांधी पर रुसी लेखक टॉलस्टॉय की रचनाओं–'Gospel in Brief', 'What to Do' तथा 'The Kingdom of God is within you' का गांधी जी पर स्थायी प्रभाव पड़ा। इस पुस्तक ने गांधी जी के अहिंसा सम्बन्धी सन्देहों को दूर किया। इससे गांधी जी ने प्रेम, शोषण का विरोध, अहिंसा का महत्व, श्रम व नैतिकता का आदर्श तथा आदर्श साधन जैसी बातें सीखीं। इसके आधार पर ही गांधी जी ने हिंसक साधनों का परित्याग किया और जीवन भर आत्मशुद्धि, सादगी, सरल जीवन, शरीर श्रम तथा बह्मचर्य का पालन किया। टॉलस्टॉय के प्रभाव को स्वीकार करते हुए गांधी जी ने कहा है–''ईश्वर का राज्य तुम्हारे हृदय में है। उसे बाहर खोजने जाओगे तो वह तुम्हें नहीं मिलेगा। कई बार मुझे नास्तिकता के विचार भी आते हैं। इस पुस्तक को पढ़ने पर मेरी हिंसा के प्रति श्रद्धा और अहिंसा के प्रति अविश्वास (अश्रद्धा) की भावना चली गई और फिर मैंने कई ग्रन्थ पढ़े। उनका मेरे जीवन पर जो प्रभाव पड़ा, यह कह नहीं सकता।'' इस तरह रुसी लेखक टॉलस्टॉय ने गांधी जी के जीवन दर्शन पर अत्यधिक प्रभाव डाला।

(ग) ***डेविड थ्योरो का प्रभाव (Influence of David Thoreau)***–गांधी पर अमेरिकन अराजकतावादी हेनरी डेविड थ्योरो का भी प्रभाव पड़ा। 1908 में दक्षिण अफ्रीका की एक जेल में गांधी जी ने थ्योरो की प्रसिद्ध पुस्तक 'Essay on Civil

Disobedience' पढ़ी और इसी पुस्तक से प्रेरित होकर भारत में 1930 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन' चलाया। इसी पुस्तक के आधार पर गांधी जी ने राज्य की प्रकृति व कार्यों की व्याख्या की। इस पुस्तक के आधार पर गांधी जी ने सरकार के किसी भी अनैतिक कानून को तोड़ने पर बल दिया।

(घ) ***तिलक का प्रभाव (Influence of Tilak)***–यद्यपि गांधी जी तिलक को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। तिलक जी एक क्रान्तिकारी नेता थे। लेकिन दोनों के विचारों में गहरा अन्तर था। इसके बावजूद भी गांधी जी तिलक के विचारों से प्रभावित हुए। गांधी जी के स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा, निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) आदि विचारों पर तिलक जी का ही प्रभाव है। गांधी जी द्वारा चलाए गए असहयोग आन्दोलन (Non-co-opeation) तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन (Civil Disobedience Movement) पर तिलक जी का ही प्रभाव है। इन आन्दोलनों की रूपरेखा काफी समय पहले तिलक जी ने तय कर दी थी। इस तरह तिलक जी का भी गांधी जी पर गहरा प्रभाव पड़ा। तिलक जी के विचार गांधी जी के लिए प्रेरणा स्रोत बन गए।

(ङ) ***गोखले का प्रभाव (Influence of Gokhale)***–गांधी जी पर गोखले की उदारवादी विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ा। गोखले जी सवैंधानिक साधनों के समर्थक थे और राजनीति पर आध्यात्मीकरण करना चाहते थे। उन्हें राजनीतिक हिंसा से घणा थी। गोखले जी के इन विचारों के गांधी जी को बहुत प्रभावित किया। गोखले जी के प्रभाव को गांधी जी ने स्वीकार करते हुए कहा है–"सर फिरोजशाह तो मुझे हिमालय जैसे मालूम पड़े, लोकमान्य सागर की तरह, गोखले गंगा की तरह, जिसमें मैं नहा सकता था। हिमालय पर चढ़ना कठिन है और सागर में डूबने का भय रहता है पर गंगा की गोद में खेल सकते हैं और उसमें डोंगी पर चढ़कर तैर सकते हैं।" इस प्रकार गोखले का भी गांधी जी पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। उससे प्रभावित होकर ही गांधी जी ने राजनीति का आध्यात्मीकरण किया है और साधनों की पवित्रता पर जोर दिया है।

इस तरह कहा जा सकता है कि गांधी जी के चिन्तन को पारिवारिक वातावरण, धार्मिक पुस्तकें, भारतीय व विदेशी दार्शनिकों एवं विचारकों ने प्रभावित किया है। उन पर धार्मिक ग्रन्थों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। उनके द्वारा साधनों की पवित्रता पर बल देना, राजनीति का आध्यात्मीकरण करना धार्मिक ग्रन्थों के प्रभाव के कारा ही है। इनके प्रभाव के कारण ही गांधी जी ने कहा है कि एक राजनीतिज्ञ को पहले एक धार्मिक व्यक्ति होना चाहिए। धर्महीन राजनीति मत्यु के फन्दे के समान है। इसी आधार पर गांधी जी ने अहिंसा के सिद्धान्त को अपने जीवन दर्शन का आधार बनाया। इनके अतिरिक्त जॉन रस्किन की प्रसिद्ध पुस्तक 'Unto The Last' ने भी गांधी जी को बहुत अधिक प्रभावित किया। इस प्रकार गांधी जी का चिन्तन अनेक प्रेरणा स्रोतों से ढला हुआ है और आज भी उतना ही प्रासांगिक है, जितना सैकड़ों वर्ष पहले था।

गांधी जी के दर्शन के नैतिक आधार
(Moral Basis of Gandhian Philosophy)

गांधी जी मानवता के सच्चे पुजारी थे। वे समाज के सभी वर्गों का कल्याण चाहते थे। वे जीवन के एक सच्चे कलाकार थे। उनके जीवन दर्शन पर प्राचीन भारतीय धर्म ग्रन्थों तथा अनेक देशी व विदेशी विद्वानों का प्रभाव पड़ा। यद्यपि उन्होंने किसी 'वाद' (Ism) को जन्म नहीं

दिया। लेकिन फिर भी उनका कुछ नैतिक सिद्धान्तों में गहरा विश्वास था। इसलिए नैतिकता ही उनके विचारों का मूल आधार है। इसी आधार पर उनका समस्त चिन्तन खड़ा हुआ है। उनके दर्शन के प्रमुख नैतिक आधार निम्नलिखित हैं:–

1. ***ईश्वर में विश्वास (Faith in God)***–गांधी जी ईश्वरीय शक्ति में पूरा विश्वास रखते थे, उनका कहना था कि ईश्वर के प्रति मेरा विश्वास ही मुझे सद्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है। ईश्वर के प्रति आस्था ही मनुष्य के दुर्गुणों को सतगुणों में बदल सकती है। उन्होंने कहा है–"सत्य ईश्वर है। मेरे लिए ईश्वर सत्य और प्यार है। ईश्वर नैतिकता और सदाचार है। ईश्वर प्रकाश एवं जीवन का स्रोत है। वह सबसे ऊपर और दूर है।" गांधी जी के ईश्वर का कोई रूप तथा नाम नहीं था। उनके अनुसार ईश्वर निराकार है। उसकी केवल अनुभूति की जा सकती है। वह हर वस्तु व प्राणी में विद्यमान है। उसे देखा नहीं जा सकता। यह वह अदश्य शक्ति है, जो अपने आप को अनुभव कराती है। इसको किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता है और न करने की आवश्यकता है। यह स्वतः सिद्ध होती है। इस संसार की प्रत्येक परिवर्तनशील वस्तु में ईश्वर रूपी किसी अज्ञात व गुप्त शक्ति का ही निवास है। इस शक्ति के करण हर इस संसार का नियमन हो रहा है। यह शक्ति विश्व में अनुशासन बनाए रखती है। यह सष्टि का निर्माण करती है, भंग करती है और आनन्द भागती हैं इसी शक्ति को ईश्वर का नाम दिया जा सकता है। इस संसार में मत्यु के बीच जीवन, झूठ के बीच सत्य तथा अन्धकार के बीच प्रकाश चलता है। अतः मेरी समझ के अनुसार ईश्वर ही जीवन है, सत्य है, प्रकाश है, प्यार है और सर्वोच्च है। ईश्वर की सत्ता के अतिरिक्त इस सष्टि में कोई दूसरी सत्ता न तो है और न ही हो सकती है।

2. ***सत्य में विश्वास (Faith in Truth)***–गांधी जी के अनुसार सत्य ही ईश्वर है। उन्होंने सत्य की ही खोज में अपना सारा जीवन व्यतीत किया। उन्होंने अपनी आत्म कथा का नाम भी 'My Experiments with Truth' ही रखा, उन्होंने सारे देश को सत्य का मार्ग ही अपनाने का उपदेश दिया। उनके अनुसार सत्य से बढ़कर काई अन्य धर्म नहीं है। सत्य के बारे में गांधी जी ने कहा है–"सत्य से बढ़कर कोई दूसरा ईश्वर नहीं है।" उनका कहना था कि यदि सत्य जीवन के सभी क्षेत्रों और सभी व्यवहारों में नहीं चल सकता तो उसकी कोई कीमत नहीं है। उन्होंने सारे जीवन अपने कार्यों को सत्य से दूर नहीं जाने दिया। इसलिए उन्होंने सत्य को ईश्वर और ईश्वर को सत्य (Truth is God and God is Truth) कहा है। उनका सत्य में विश्वास अन्य सभी भारतीयों से बढ़कर है।

3. ***अहिंसा में विश्वास (Faith in Non-Violence)***–गांधी जी ने अहिंसा को सत्य का अभिन्न अंग माना है। उनके अनुसार अहिंसा के बिना सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। उनके समस्त आन्दोलन अहिंसा पर ही आधारित थे। उनके अनुसार अहिंसा जीवन का आधार है। विश्व–बन्धुत्व की स्थापना अहिंसा के बिना नहीं हो सकती। अहिंसा जीवन के हर क्षेत्र में सफल होती है। गांधी जी ने अहिंसा के बारे में लिखा है–"मैं तो अहिंसा का कलाकार हूं, ऐसा मेरा दावा है। मैं सत्य और अहिंसा को संगठित रूप देना ही अपने जीवन का परम धर्म मानता हूं। मेरी अहिंसा एक वैज्ञानिक प्रयोग है। वैज्ञानिक प्रयोग में निष्फलता जैसी वस्तु के लिए स्थान नहीं है। मैं अवश्य ही

मरूगा, तब भी मेरी जुबान पर अहिंसा ही होगी। मेरी अहिंसा सारे जगत् के प्रति प्रेम मांगती है। मुझमें जो शक्ति है, वह अहिंसा की ही शक्ति है। अहिंसा के बिना मेरी जिन्दगी नहीं चल सकती।'' गांधीजी ने अहिंसा को परिभाषित करते हुए कहा है कि अहिंसा का अर्थ किसी को शारीरिक नुकसान न पहुंचाना ही नहीं है, बल्कि मन, चलन व कर्म से किसी को दुःखी न करना ही अहिंसा है। उनके अनुसार अहिंसा जीवन को सुचारु रूप से चलाने का एक आवश्यक उपाय है। इसके बिना सत्य की प्राप्ति नही हो सकती और सत्य के बिना ईश्वर की। इस तरह गांधी जी अहिंसा के महान पुजारी थे।

4. ***साध्य और साधन (Ends and Means)***–गांधी जी का कहना था कि साध्य और साधन दोनों ही पवित्र होने चाहिएं। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए गलत साधन का प्रयोग कदापि उचित नहीं हो सकता। सत्य का मार्ग ही मनुष्य को उसके लक्ष्य तक पहुंचा सकता है। अनैतिक साधन लक्ष्य को दूषित करते हैं। जैसा बीज होता है, वैसा ही पेड़ उगता है। उनका कहना था–''साधनों को बीज और साध्य को वक्ष की संज्ञा दी जा सकती है–जिस तरह का सम्बन्ध बीज और पेड़ में रहता हे, वैसा ही साध्य और साधन में होना चाहिए।'' उनका कहना था कि भय, लोभ और अंधकार मानव के सबसे बड़े शत्र हैं। इनके त्याग के बिना ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। अर्थात् अच्छे साधन के बिना अच्छे लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

5. ***मानव प्रकृति में विश्वास (Faith in Human Nature)***–गांधी जी का कहना था कि मनुष्य प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। प्रत्येक व्यक्ति में ईश्वर का निवास है और वह उसे सद्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है। प्रेम से बढ़कर कोई अन्य अस्त्र–शस्त्र इस संसार में नहीं है। मनुष्य को प्रेम से जीता जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति एक आध्यात्मिक इकाई है और प्रत्येक व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास सम्भव है। प्रेम उसके नैतिक विकास का प्रमुख आधार है।

6. ***सत्याग्रह में विश्वास (Faith in Satyagraha)***–गांधी जी एक सच्चे सत्याग्रही थे। उन्होंने इसका सर्वप्रथम प्रयोग दक्षिण अफ्रीका में बसे भारतीयों के विरुद्ध अंग्रेजों की रंग–भेद नीति के विरुद्ध किया था। उसके बाद भारत में भी इसी अस्त्र से आजादी की लड़ाई लड़ी। गांधी जी इसे 'प्रेम शक्ति' या 'आत्म–शक्ति भी कहते थे। सत्याग्रह आत्म–पीड़न या प्रेम द्वारा सत्य की रक्षा है। इसमें निष्क्रिय प्रतिरोध या हिंसा का कोई स्थान नहीं है। सत्याग्रही स्वयं को पीड़ा देकर दूसरे को सुख प्रदान करता है। वह अच्छाई से बुराई पर विजय प्राप्त करता है। सत्याग्रह वीरों का अस्त्र है, कायरों का नहीं। इसे असहयोग (Non- Cooperation), सविनय अवज्ञा (Civil disobedience) हिजरत (Fasting), हड़ताल (Strike) आदि साधनों द्वारा सफल बनाया जा सकता है।

7. ***विश्व शान्ति का समर्थक (Advocate of World Peace)***–गांधी जी मानव को ही ईश्वर का रूप मानते थे। उनकी इच्छा थी कि समस्त विश्व में एक भाईचारे की भावना का विकास हो। अन्याय और शोषण का अन्त हो और प्रत्येक व्यक्ति तथा राष्ट्र स्वतन्त्र रहे। उन्होंने विश्व–बन्धुत्व की भावना बढ़ाने पर बहुत जोर दिया। उनका कहना था कि–''इन्सान केवल मौत से बचने के लिए ही नहीं जीता। अगर वह ऐसा करता है तो मेरी सलाह है कि ऐसा न करे। यदि वह ज्यादा न कर सके तो कम से कम

मौत और जिन्दगी से प्यार करना तो सीखे। जिन्दगी वहीं तक जीने लायक होती है, जहां तक मौत को दुश्मन नहीं, बल्कि दोस्त माना जात है।" इस तरह गांधी जी शान्ति के विचार को सम्पूर्ण विश्व में फैलाना चाहते थे। उनका कहना था कि जब तक इन्सान को इन्सान से प्यार नहीं होगा, तब तक विश्व शान्ति की कल्पना करना निरर्थक है।

इस तरह गांधी जी का सम्पूर्ण दर्शन सत्य और अहिंसा के विचारों पर ही आधारित है। उनके विचार में विश्व शान्ति का आधार सत्य और अहिंसा के विचार ही है। अन्य समस्त क्रिया–कलाप भी सत्य और अहिंसा पर ही आधारित होने चाहिएं। सच्चे धर्म का पालन करने के लिए न तो हिमालय पर जाने की जरूरत होती है और न सन्यास लेने की, न आश्रम में रहने की और न किसी विशेष सम्प्रदाय को अपनाने की। सच्चे धर्म का पालन सत्य और अहिंसा का पालन करने में ही निहित होता है। सत्य और अहिंसा से बढ़कर कोई दूसरा धर्म इस संसार में नहीं हो सकता।

गांधी जी के राजनीतिक विचार
(Political Ideas of Gandhi)

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में गांधी जी का एक अति महत्वपूर्ण स्थान है। गांधी जी का दर्शन बहुमुखी है। उन्होंने जीवन के हर क्षेत्र को स्पर्श किया है। यद्यपि उनके विचार प्लेटो, अरस्तु, हॉब्स व लॉक आदि राजनीतिक विचारकों की तरह क्रमबद्ध नहीं है, लेकिन फिर भी अनेक विद्वान उन्हें एक उच्चकोटि का राजनीतिक विचारक मानते हैं। उन्होंने महात्मा महात्मा बुद्ध व सुकरात की तरह जीवन भर सत्य की खोज में समय व्यतीत किया तथा सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों पर आधारित राजनीति के व्यावहारिक पहलू पर जोर दिया। उनके विचारों में क्रमबद्धता न होने के कारण अनेक विचारकों ने उन्हें एक राजनीतिक विचारक मानने से इन्कार किया है। लेकिन आज भी उनके राजनीतिक विचारों को अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। उनके दर्शन को, 'गांधीवाद' आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। इससे उनके राजनीतिक विचारक होने में कोई सन्देह शेष नहीं रह जाता है। सत्य तो यह है कि उनके द्वारा राजनीतिक जीवन में प्रयोग किए सिद्धान्त को ही उनकी राजनीतिक विचारधारा है और वे स्वयं एक उच्च कोटि के राजनीतिक विचारक हैं। उनके राजनीतिक विचारों को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत बांटा जा सकता है–

1. राजनीति का आध्यात्मीकरण (Spritiualization of Politics)
2. अहिंसा का सिद्धान्त (Theory of Non-Violence)
3. साध्य और साधनों का सिद्धान्त (Theory of Ends and Means)
4. सत्याग्रह (Satyagraha)
5. राज्य का सिद्धान्त (Theory of State)
6. सर्वोदय (Sarvodaya)

राजनीति का आध्यात्मीकरण
(Spiritualization of Politics)

महात्मा गांधी की सबसे बड़ी महत्वपूर्ण व मौलिक देन राजनीति का आध्यात्मीकरण करना है। गांधी जी राजनीतिज्ञ से पहले एक धार्मिक व्यक्ति थे। उन्होंने राजनीति और धर्म के बीच एक

अटूट रिश्ता कायम किया और राजनीति को धर्म पर आधारित करके निःस्वार्थ लोक सेवा तथा नैतिकता के विकास का साधन बनाय। उनकी दष्टि में धर्महीन राजनीति की कल्पना करना सबसे बड़ा पाप था। गांधी जी ने राजनीति के प्रचलित अर्थ को नकारते हुए इसे नया रूप दिया। इसलिए वे राजनीतिक विचारक न होकर जीवन के कलाकार व धर्म के उपासक थे। उनके जीवन का उद्देश्य किसी राजनीतिवाद का प्रतिपादन करना नहीं था, बल्कि आत्मदर्शन, ईश्वर का साक्षात्कार एवं मोक्ष था। इसलिए उन्होंने धर्म को मानव जीवन की धुरी बनाया और उसे राजनीति के साथ अटूट रिश्ते के रूप में जोड़ दिया।

उन्होंने छल–कपट पूर्ण राजनीति की निन्दा करते हुए इसे सर्प की संज्ञा दी है। उनका मानना है कि धर्म के बिना इस राजनीति का कोई प्रयोजन नहीं है। यह प्राणी मात्र के लिए सुख का सच्चा साधन कदापि नहीं हो सकती। इसलिए उन्होंने राजनीति के विकृत रूप को मिटाने के लिए उसका आध्यात्मीकरण किया है। गांधी जी से पहले राजनीति धर्म और नैतिकता के सभी नियमों को ताक पर रखने वाले धूर्त, चालाक, अवसरवादी, विवेकशून्य राजनीतिज्ञों का रंगमच मानी जाती थी। आम आदमी की दष्टि में दूसरों को मूर्ख बनाना तथा धोखा देना ही राजनीति थी। गांधी जी ने राजनीति को सत्य और अहिंसा पर आधारित करके इसमें उच्च नैतिकता और धार्मिकता की भावना का समावेश किया। उन्होंने राजनीति के विकृत रूप के बारे में लिखा है–"मैं जिन धार्मिक व्यक्तियों से मिला हूं, उनमें से अधिकांश छिपे वेश में राजनीतिज्ञ हैं। किन्तु राजनीतिज्ञ का चोला धारण करने वाला मैं अपने ह्रदय से एक धार्मिक व्यक्ति हूं।" उन्होंने राजनीति के विकृत रूप अर्थात् धर्महीन राजनीति के बारे में आगे कहा है–"यदि मैं राजनीति में भाग लेता हूं, तो इसका कारण यही है कि राजनीति हम सबको सर्प के समान घेरे हुए हैं, जिससे कोई चाहे कितनी ही चेष्टा करे, बाहर नहीं निकल सकता, मैं उस सर्प से युद्ध करना चाहता हूं। मैं राजनीति में धर्म का समावेश करना चाहता हूं" इससे स्पष्ट है कि गांधी जी ने राजनीति में हिस्सा, उसे जनसेवा का साधन बनाने के लिए ही लिया। उन्होंने जीवन भर राजनीति में ऐसे प्रयोग किए, जो जन–कल्याण को बढ़ावा देने वाले थे।

गांधी जी का मानना था कि धर्म समाज के प्रत्येक पक्ष सम्बन्धित हैं। इसी तरह राजनीति भी प्रत्येक क्रिया–कलाप को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य प्रभावित करती है। यदि इन दोनों का मेल कर दिया जाए तो इनसे बढ़कर जन कल्याण का साधन अन्य दूसरा कोई नहीं हो सकता। इसलिए वे धर्म से अलग राजनीति का कोई महत्व नहीं मानते थे। उन्होंने लिखा है–"मेरे लिए धर्म के बिना राजनीति का कोई अस्तित्व नहीं है। राजनीति धर्म के अन्तर्गत है। धर्म से विमुख राजनीति मत्यु का फन्दा है, क्योंकि यह आत्मा को मार देती है।" गांधी जी का कहना है कि जो लागे कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है, वे धर्म का अर्थ ही नहीं जानते। गांधी जी के अनुसार धर्म से राजनीति को अलग करना मानवता की हत्या करने के समान है जो धार्मिक रुचि रखते हों तथा जिनमें सत्य तथा ईश्वर की खोज करने की लगन हो। इसी कारण से गाधी जी ने राजनीति में प्रवेश किया और आजीवन सत्य और ईश्वर की खोज में लगे रहे।

गांधी जी एक महान कर्मयोगी थे। उनका राजनीति का आध्यात्मीकरण करने के पीछे मूल कारण नैतिकता के दोहरे मापदण्डों को समाप्त करना था। उनकी दष्टि में राजनीति धर्म और नैतिकता की एक शाखा थी, इसीलिए उन्होंने राजनीति में प्रवेश का अर्थ सत्य और न्याय की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होना माना। इसी कारण गांधी जी ने राजनीति व धर्म को स्वीकार किया। उनका मानना था कि आज तक भारत के पिछड़ने का कारण राजनीति से धर्म को पथक रखना ही था, उनका मानना था कि प्रत्येक आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक कार्य किसी न किसी

रूप से धर्म से जुड़ा हुआ है। गांधी जी ने लिखा है–"सारी मानव जाति से अभिन्नता ही मेरा धर्म है और मेरी राजनीतिक गतिविधि, उस धर्म पर आचरण करने का ढंग, मनुष्य की गतिविधियों के क्षेत्र को आज विभाजित नहीं किया जा सकता और न ही सामाजिक, आर्थिक एवं शुद्ध आर्थिक कार्यों को एक–दूसरे से विभक्त करने वाली स्पष्ट सीमा रेखाएं ही खींची जा सकती है।" इस प्रकार गांधी जी ने राजनीति व धर्म को एक सिक्के के दो पहलू मानकर, राजनीति का आध्यात्मीकरण किया। उनकी दष्टि में धर्म और राजनीति के बीच वही सम्बन्ध है जो शरीर और आत्मा में होता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गांधी जी ने राजनीति का आध्यात्मीकरा सिद्धान्त तौर पर ही नहीं किया बल्कि उसे व्यावहारिक स्तर पर भी लागू किया उन्होंने अपने धार्मिक विश्वासों–आस्तिकता, अद्वैत की कल्पना, समस्त जगत में एक सत्ता का होना, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि को राजनीतिक क्षेत्र में लागू करके राजनीति का आध्यात्मीकरण किया हैं प्रत्येक मनुष्य के जीवन का लक्ष्य धर्म और राजनीति से जुड़ा हुआ है। इसलिए उन्होंने सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों का समावेश राजनीति में करके उसे नया रूप दिया है अर्थात् गांधी जी का यही सबसे महान कार्य है कि उन्होंने सत्य और अहिंसा के प्रयोगों से राजनीति का आध्यात्मीकरण किया है।

अहिंसा का सिद्धान्त
(Theory of Non-Violence)

अहिंसा का विचार भारतीय दर्शन का प्रमुख तत्व रहा है। महाभारत, वेद, उपनिषद आदि में अहिंसा को ही सबसे बड़ा धर्म माना गया है। जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म में अहिंसा का विशेष महत्व है। गांधी जी ने 'अहिंसा के सिद्धान्त' को प्राचीन भारतीय धार्मिक ग्रन्थों, बाईबल के प्रवचनों तथा टॉल्स्टॉय की रचना–'The Kingdom of God is within You' से ग्रहण किया है। परन्तु गांधी जी ने इस सिद्धान्त को एक व्यावहारिक रूप दिया है। गांधी जी ने इस सिद्धान्त का प्रयोग देश को शांतिमय तरीके से स्वराज्य तक पहुंचाने के लिए किया है। इसलिए गांधी जी की महानता इसी विचार के कारण है।

गांधी जी का यह व्यावहारिक अनुभव रहा कि अहिंसा हिंसा से अधिक शक्तिशाली होती है। अहिंसा ही प्रेम और आदर की जननी है। यह समानता के सिद्धान्त को भी जन्म देती है। यह बुराई को अच्छाई से जीतने का गुण रखती है। सत्य रूपी साध्य की खोज अहिंसा रूपी साधन से ही हो सकती है। इसलिए यह सत्याग्रह का मूल मन्त्र है। सत्य सर्वोच्च कानून और अहिंसा सर्वोच्च कर्त्तव्य होता है। सत्य की तरह अहिंसा की शक्ति भी असीम होती है। जिस प्रकार हिंसा पशु जगत का नियम है, अहिंसा मानव जाति का मूल आधार है।

अहिंसा का अर्थ ***(Meaning of Non-Violence)***–गांधी जी के अनुसार अहिंसा से तात्पर्य किसी को न मारने से नहीं है। उन्होंने अहिंसा शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग यिा है। उन्होंने अहिंसा को परिभाषित करते हुए कहा है–"सष्टि के सब प्राणियों को मन, वाणी और कर्म से किसी भी प्रकार की कोई हानि न पहुंचाई जाए।" गांधी जी ने अहिंसा को आत्मिक तथा दैवीय शक्ति माना है। उनके अनुसार अहिंसा निषेद्यात्मक विचार न होकर एक सकारात्मक विचार है। जहां इसका तात्पर्य किसी दूसरे को नुकसान न पहुंचाना है, वहां दूसरों का भला करना भी इसका लक्षण है।

अहिंसा का ऐतिहासिक आधार (Historical Basis of Non-Violence)–गांधी जी ने अहिंसा का समर्थन ऐतिहासिक आधार पर किया है। उनका कहना है कि आज तक का मानव इतिहास

संघर्षों का इतिहास न होकर अहिंसा का इतिहास है। मनुष्य आदिम काल में तो नरभक्षी था। परन्तु ऐसा करना उसकी मजबूरी थी। जब उसने मनुष्य का मांस खाना अनुचित समझा तो वह पशुओं का मांस खाने लगा। कुछ समय बाद उसने आखेट करे पेट पालने की पद्धति को छोड़ दिया। जब उसने खेती करके अपना पेट पालने की कला सीख लो तो वह खानाबदोश जीवन छोड़कर एक ही स्थान पर रहने लगा। अब वह पशुओं को मारने के स्थान पर उन्हें पालने लग गया। इससे गांव, नगर एवं राष्ट्र अस्तित्व में आए। इससे स्पष्ट है कि हिंसा का प्रयोग निरन्तर घट रहा था और अहिंसा का बढ़ रहा था। इसी कारण मानव जाति का भी विकास हुआ है। यदि कार्ल मार्क्स की संघर्ष की अवधारणा सत्य होती तो संसार न जाने कब का नष्ट हो गया होता। यद्यपि हिंसा को संसार से पूरी तरह नष्ट नहीं किया जा सकता है। यह कभी–कभी अपना रौद्र रूप दिखा देती है। आज जितने हिंसा के साधनों का विकास हो रहा है, अहिंसा के साधनों का भी उतना ही विकास हो रहा है। अतः मानव समाज निरन्तर अहिंसा की तरफ जा रहा है।

अहिंसा के रूप (Forms of Non-Violence)–गांधी जी के अनुसार अहिंसा के दो रूप हैं–

1. नकारात्मक अहिंसा (Negative Non-Violence)
2. सकारात्मक अहिंसा (Positve Non-Violence)

नकारात्मक अहिंसा का अर्थ है कि व्यक्ति को वे कार्य नहीं करने चाहिए जो सत्य पर आधारित नहीं हैं। इसमें किसी प्राणी को काम, क्रोध, विद्वेष की भावना के वशीभूत होकर हिंसा न पहुंचाना शामिल हैं।

सकारात्मक अहिंसा का अर्थ अन्याय व अत्याचार के विरुद्ध उदासीन बने रहना नहीं, बल्कि उसका सक्रिय किन्तु शांतिपूर्ण विरोध करना है। इसका अर्थ है–दूसरों के प्रति प्रेम भावना तथा उदारता का दष्टिकोण रखना। यद्यपि गांधी जी अंग्रेजों की नीतियों का विरोध करते थे, लेकिन उनके मन में अंग्रजों के प्रति घणा नहीं थी। गांधी जी ऐसे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने अहिंसा को व्यापक अर्थ देकर उसका प्रयोग राजनीतिक हथियार के रूप में किया, इस सम्बन्ध में उन्होंने सकारात्मक अहिंसा के प्रयोग पर जोर दिया।

अहिंसा के तत्व (Elements of Non-Violence)–गांधी जी का कहना था कि अहिंसा के अन्दर सार्वभौमिकता का गुण पाया जाता है। इसमें करुण की भावना का भी समावेश होता है। इसमें अहिंसावादी अपने प्रतिद्वन्द्वी के अनुचित कार्यों का विरोध शान्तिपूर्ण तरीके से करता है। इसके चार मूल तत्व निम्नलिखित हैं।

1. प्रेम
2. धैर्य
3. अन्याय का विरोध
4. वीरता

1. ***प्रेम***–जिस तरह हिंसा का आधार विद्वेष होता है, उसी तरह अहिंसा का आधार प्रेम है। अहिंसावादी एक पिता की तरह अपने बुरे मित्र से भी प्रेम रखता है। जिस तरह पिता का यही प्रयास रहता हे कि बुरा पुत्र बुरे काम करने छोड़ दे, उसी तरह अहिंसावादी व्यक्ति का भी यही प्रयास रहता है कि शत्रु भी बुराई छोड़ दे। अहिंसावादी व्यक्ति स्वयं कष्ट सहकर भी प्रेम के ब्रह्मशास्त्र से शत्रु का दिल जीतने का प्रयास

4. अहिंसा का आत्मबल शत्रु पर अचेतन, अज्ञात एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालता है और यह शस्त्र बल की तुलना में अधिक बलशाली होती है।

5. हिंसा की विफलता तथा अहिंसा की सफलता निश्चित है, क्योंकि अहिंसा प्रेम पर आधारित होती है। घणा, घणा को जन्म देती है, प्यार, प्यार को।

इस प्रकार गांधी जीने अहिंसा को हिंसा से अधिक प्रभावशाली माना है। उनका कहना है कि मनुष्य निरन्तर अहिंसा की तरफ अग्रसर है। अहिंसा की शक्ति एक आत्मिक शक्ति है। हिंसात्मक लड़ाई तो नौजवान ही लड़ सकते हैं, लेकिन अहिंसा की लड़ाई प्रत्येक कमजोर व्यक्ति भी लड़ सकता है, बशर्ते वह कायर न हो। यह प्रेम पर आधारित होने के कारण भयंकर जंगली जानवरों को भी वश में करने की योग्यता रखती है। शस्त्र बल की कार्यवाही का परिणाम तात्कालिक होता है, किन्तु अहिंसा के शस्त्र का परिणाम अप्रत्यक्ष व स्थायी होता है। घणा से प्राप्त वस्तु कभी स्थायी परिणाम नहीं दे सकती। गांधी जी ने कहा है–"आग आग से नहीं, पानी से शान्त होती है।" अहिंसा कुछ देर के लिए तो असफल हो सकती है, लेकिन यह स्थाई रूप से असफल नहीं हो सकती। बड़ी से बड़ी समस्या का समाधान अहिंसा के द्वारा किया जा सकता है। इसलिए यह परमाणु बम से अधिक शक्तिशाली होती है। इसमें सार्वभौमिकता का गुण होता है। यह किसी जाति विशेष की धरोहर नहीं होती। गांधी जी ने लिखा है–"यह आत्मा का गुण है, सबके लिए है, सब जगहों के लिए है, सब समय के लिए है।"

अहिंसा के सिद्धान्त के अपवाद (Exceptions to the Theory of Non-Violence)–गांधी जी अहिंसा के प्रबल समर्थक होते हुए भी कुछ आधारों पर हिंसा को उचित ठहराते हैं। गांधी जी का कहना है कि जीवन निर्वाह के लिए की गई हिंसा पाप नहीं होती। यद्यपि गाय का दूध बछड़े के लिए होता है, लेकिन यदि वह किसी रोगी को ठीक करता है तो बछड़े का हक छीनना कोई हिंसा नहीं हे। आमदखोर जानवरों को मारना कोई हिंसा नहीं है। यदि कुत्ता पागल हो जाए तो उसको मारना ही ठीक है। यदि कोई रोगी जब इस अवस्था में हो कि उसका ठीक होना असम्भव हो जाए तो उसके प्राण लेना कोई पाप नहीं है। गांधी जी ने स्वयं अपने आश्रमों के मरणासन्न बछड़े को जहर देकर मार दिया था। गांधी जी का कहना है कि ऐसा उपाय तभी करना चाहिए, जब कोई अन्य उपाय शेष न रह जाए। इस प्रकार का हिंसापूर्ण कार्य हिंसा न होकर दयापूर्वक किया गया अहिंसक कार्य ही होता है। इससे स्पष्ट है कि अहिंसा अकर्मणयता का सिद्धान्त नहीं है। यह कर्मठता और गतिशीलता का दर्शन है। यह सत्य के लिए शाश्वत् संघर्ष है जो युगों से चलता आ रहा है। इस प्रकार गांधी जी ने कल्पना की बजाय अहिंसा के व्यावहारिक पहलू पर ही जोर दिया है। उन्होंने अहिंसा के अस्त्र का प्रयोग सामाजिक कल्याण को बढ़ावा देने के लिए किया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गांधी जी मानवता के सच्चे पुजारी थे। उनके अनुसार अहिंसा केवल एक दर्शन ही नही है बल्कि एक कार्य पद्धति है, हृदय परिवर्तन का साधन है। उन्होंने अपना अहिंसा का सिद्धान्त जीवन के हर क्षेत्र में लागू किया है। उन्होंने इस मानव हृदय की दिव्य ज्योति माना है जो राख से ढक तो सकती है, लेकिन कभी बुझ नहीं सकती। हिंसा में भी अहिंसा का सिद्धान्त काम करता है। अहिंसा एक शाश्वत् विचार है, जिसका महत्व कभी कम नहीं हो सकता। इतना होने के बावजूद भी गांधी जी के इस सिद्धान्त की कुछ आलोचनाएं हुई हैं।

अहिंसा के सिद्धान्त की आलोचनाएं (Criticism of the Theory of Non-Violence)

गांधी जी के अहिंस सम्बन्धी विचारों की आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं–

1. ***अप्रासांगिकता***—आलोचकों का कहना है कि गांधी जी का अहिंसा का सिद्धान्त परमाणु युग में प्रासांगिक नहीं हो सकता, राष्ट्रीय सम्प्रभुसत्ता व सीमाओं की रक्षा सशस्त्र सेनाओं के बिना नहीं हो सकती। आत्मा की शक्ति से ही शत्रु का मुकाबला नहीं किया जा सकता है। अहिंसा और सत्य राष्ट्रीय सम्प्रभुता की रक्षा की कोइ गारन्टी नहीं दे सकते। अतः अहिंसा का सिद्धान्त आधुनिक युग में अप्रासांगिक है।

2. ***काल्पनिक***—गांधी जी अहिंसा के समर्थक थे और इसी के आधार पर उन्होंने स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी, इस बात में कम सच्चाई नजर आती है। स्वतन्त्रता के लिए किया गया संघर्ष हिंसा के अनेक प्रकरणों से भरा हुआ है। स्वयं गांधी जी के असहयोग आन्दोलन में चौरा–चौरी कांड ने कई जानें ले ली थी। यह सिद्धान्त सन्तों व महापुरुषों का सिद्धान्त तो हो सकता है, साधारण लोगों के लिए नहीं। आधुनिक समाज अहिंसा की बजाय हिंसा पर आधारित होता जा रहा है। आज के समय में जितने अपराध बढ़ रहे हैं, उतने पहले नहीं थे, इसलिए गांधी जी द्वारा यह बात कहना कि व्यक्ति निरन्तर अहिंसा के रास्ते पर चल रहा है, कपोल मात्र प्रतीत होती है।

3. अहिंसा और सत्य पर्यायवाची नहीं है। सत्य को अहिंसा के अतिरिक्त अन्य विधियों से भी प्राप्त किया जा सकता है। सत्य किसी देश, काल व सीमाओं से बंधा हुआ नहीं है।

4. गांधी जी का यह कथन ठीक है कि अहिंसा हिन्दू धर्म का आधार है। लेकिन हिन्दू धर्म में अनेक युद्धों का समर्थन भी किया है। रामायण व महाभारत में अनेक नैतिक युद्धों का वर्णन मिलता है। इसलिए यह कहना उचित होगा कि हिन्दू धर्म में हिंसा तथा अहिंसा दोनों के लिए जगह है।

5. गांधी जी द्वारा अहिंसा के सिद्धान्त के आधार पर विश्व समस्याओं को हल करने की बात अवास्तविक व काल्पनिक हैं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में समस्याओं का हल कुटनीति करती है, अहिंसा नहीं।

लेकिन उपरोक्त आलोचनओं के बाद यह नहीं समझ लेना चाहिए कि गांधी जी के अहिंसा के सिद्धान्त का कोई महत्व नहीं है। अहिंसा के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने में गांधी जी ने कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी। यदि कहीं पर यह सिद्धान्त असफल रहा तो गांधी जी ने इसके लिए स्वयं को दोषी माना। गांधी जी ने इस सिद्धान्त के बल पर आध्यात्मिक मूल्यों को नष्ट करने वाले भौतिकवाद व हिंसा का विरोध किया और परमाणु युग में भी मानवता के लिए शांति का आधार पेश किया। यदि हम गांधी जी के इस सिद्धान्त को अपना लें तो विश्व की अधिकांश समस्याएं स्वतः ही हल हो जाएंगी और समाज की प्रगति का नया साधन मानवता की वेदना का नाश करेगा। गांधी जी का महत्व इसी बात में है कि उसने हिंसा के युग में भी अहिंसा की बात की है। शांति के विचार का समर्थन करने वाले विचारकों में गांधी जी का नाम स्वर्ण अक्षरों में लिखा जा चुका है। उनका अहिंसा का सिद्धान्त भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक अति महत्वपूर्ण व शाश्वत् विचार है इसलिए इसका महत्व कदापि कम नहीं हो सकता। हिंसा के विचार की तरह गांधी जी का अहिंसा का विचार भी अमर है।

साध्य और साधन का सिद्धान्त
(Theory of Ends and Means)

गांधी जी स्वभाव से ही एक धार्मिक व्यक्ति थे, उनका मानना था कि अच्छे साध्य (उद्देश्य) की प्राप्ति के लिए अच्छे साधन का होना आवश्यक है। उनकी विचारधारा मैक्यावली, कार्ल

मार्क्स, लेनिन, मुसोलिनी तथा हिटलर से पूर्णतया अलग थी। वे शक्ति राजनीति के घोर विरोधी थे, उनका मानना था कि हिंसा या शक्ति पर आधारित राजनीतिक व्यक्तिगत हितों की तो पोषक हो सकती है, सामाजिक कल्याण का साधन कभी नहीं बन सकती। उन्होंने भारत को स्वतन्त्रता दिलाने जैसे साध्य की प्राप्ति अहिंसा रूपी शांतिमय साधन द्वारा ही की। उनका विचार था कि अच्छे साध्य की प्राप्ति अच्छे साधन के बिना नहीं हो सकती, इसलिए साधनों की पवित्रता पर ध्यान रखना चाहिए। गलत साधन कभी भी अच्छे साध्य का आधार नहीं बन सकते। अच्छा साधन ही अच्छा साध्य प्राप्त कर सकती है।

साध्य और साधन सम्बन्धी प्रचलित मत

इस सिद्धान्त के बारे में दो धारणाओं का प्रचलन है। प्रथम धारणा यथार्थवादी है और दूसरी आदर्शवादी है। गांधी जी ने यथार्थवादी धारणा पर जोर दिया है। यथार्थवादी धारणा का प्रतिपादन भौतिकवादियों, साम्यवादियों, फासीवादियों एवं व्यावहारिकवादियों ने किया है। इसमें मैक्यावली, मार्क्स, लेनिन, मुसोलिनी तथा हिटलर जैसे विचारक शामिल हैं। इनके अनुसार साध्य (लक्ष्य) ही सर्वोपरि है, वे साध्य की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार के साधन को अपनाने के पक्ष में हैं। मैक्यावली का कहना है कि–"उद्देश्य ही साधनों की श्रेष्ठता को सिद्ध करता है।" इसलिए इन विचारकों ने हिंसात्मक साधनों पर ज्यादा जोर दिया। गांधी जी हिंसा के घोर विरोधी थे। इसलिए उन्होंने भारतीय वेद शास्त्रों में वर्णित रीति के अनुसार शुद्ध साधनों का अनुस्वरण करने पर जोर दिया। उनका साध्य और साधन की पवित्रता में गहरा विश्वास था, उनका कहना था कि बुरे साधन के कारण अच्छा साध्य भी नष्ट हो जाता है। गांधी जी ने साधन और साध्य की तुलना बीज और फल से करते हुए कहा कि जिस प्रकार के बीज होंगे, उसी प्रकार का फल आएगा। इस प्रकार यदि साधन (बीज) अच्छा नहीं होगा तो साध्य (फल) भी अच्छा नहीं हो सकता। इसलिए गांधी जी ने साध्य की बजाय साधनों पर अधिक जोर दिया और भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में इसका व्यावहारिक प्रयोग करके दिखाया।

साध्य और साधन सम्बन्धी विचार–गांधी जी के साध्य और साधन सम्बन्धी विचारों का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है–

1. ***साधनों की पवित्रता पर जोर (Emphasis on the Purity of Means)***–गांधी जी का मानना था कि अच्छे साधन की प्राप्ति के लिए साधनों का पवित्र होना जरूरी है। उन्होंने इस बात का खण्डन किया है कि अच्छे साध्य की प्राप्ति हिंसा द्वारा भी की जासकती है। साधनों की पवित्रता ही साध्यों की वैधता सिद्ध कर देती है। गांधी जी का विश्वास था कि हम बुरे साधनों द्वारा तो बुरे साध्यों की ही प्राप्ति कर सकते हैं। बुरे साधन द्वारा प्राप्त साध्य की वैधता कुछ समय बाद स्वतः ही समाप्त हो जाती है। असहयोग आन्दोलन के दौरान भड़की हिंसा से गांधी जी ने दुःखी होकर यह आन्दोलन वापिस ले लिया था। गांधी जी बुरे साधन द्वारा स्वतन्त्रता जैसे अच्छे साध्य की प्राप्ति नहीं चाहते थे। वे किसी भी अवस्था में साधनों को अपवित्र नहीं बनाना चाहते थे। उन्होंने साधनों की पवित्रता पर जोर देते हुए कहा है–"मैं जानता हूं कि यदि हम साधनों का ध्यान रखें तो साध्य की प्राप्ति विश्वसनीय हो जाती है। मैं यह भी महसूस करता हूं कि साध्य–प्राप्ति में हमारी प्रगति हमारे साधनों की पवित्रता के पूर्ण अनुपात में होगी।" इस प्रकार गांधी जी किसी भी कीमत पर साधनों की पवित्रता बनाए रखने के पक्ष में थे। वे गन्दे तथा अनैतिक साधनों द्वारा स्वतन्त्रता जैसे अच्छे व पवित्र साध्य की प्राप्ति नहीं चाहते थे।

2. ***साध्यों की पवित्रता पर जोर (Emphasis on the Purity of Ends)***–गांधी जी ने साधनों की पवित्रता के साथ–साथ साध्यों की पवित्रता पर भी जोर दिया है। उनका कहना है कि साधनों के पवित्र और न्यायपूर्ण होने से ही काम नहीं चल सकता। इसके लिए तो स्वयं साध्य भी पवित्र होना चाहिए। उनका मानना था कि व्यक्ति का साधनों पर तो नियन्त्रण होता है, साध्य पर नहीं। इसलिए व्यक्ति को साधनों की पवित्रता बनाने का प्रयास करना चाहिए ताकि साध्य को वैध बनाया जा सके। इसी से साधनों की शुद्धता का पता चल जाता है। अनैतिक साधन नैतिक साध्य को भी अपवित्र सिद्ध कर देते हैं। इसलिए व्यक्ति को पवित्र साध्य के लिए ही पवित्र साधनों द्वारा प्रयास करना चाहिए।

3. ***साध्य और साधन परिवर्तनशील है (Ends and Means are Inter-changeable)***–गांधी जी का विचार है कि कोई भी साध्य या साधन स्थाई नहीं होता। इनकी प्रकृति परिवर्तनशील होती है, साध्य साधन का रूप ले सकता है और साधन साय का। इसलिए कोई भी साध्य अन्तिम नहीं होता। इनकी परिवर्तनशील प्रवत्ति के कारण ही समाज का विकास होता है। स्वतन्त्रता से पूर्व जो साध्य था, वह आज साधन है। आज साध्य सर्वपक्षीय विकास है। कल यही साध्य साधन का रूप ग्रहण कर सकता है। स्वतन्त्रता से पहले राष्ट्रीय आन्दोलन में लोगों को शामिल करना एक साध्य था, जो आज साधन बन चुका है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि साध्य और साधन परिवर्तनशील हैं और इसी से समाज की धारा आगे बढ़ती है।

4. ***साध्य और साधन की एकता पर जोर (Emphasis on the Unity of Ends and Means)***–गांधी जी के अनुसार साधन साध्य का ही अभिन्न अंग है। इसे साध्य से अनग नहीं किया जा सकता। इन दोनों में आंगिक एकता पाई जाती है। ये भिन्न–भिन्न इकाईयां न होकर एक ही समग्र के दो भाग हैं। ये दोनों पर्यायवाची हैं। ये एक दूसरे का स्थान लेने की योग्यता रखते हैं। साध्य प्रयुक्त साधनों का ही प्रतिफल है। व्यक्ति साध्य व साधनों में उचित सामंजस्य रख सकता है। अच्छे साध्य की प्राप्ति बुरे साधन से नहीं हो सकती। अच्छे साधन ही अच्छे साध्य की कसौटी है। गांधी जी ने लिखा है–"मेरे लिए साधनों का जानना ही पर्याप्त है। मेरे जीवन दर्शन में साध्य और साधन पर्यायवाची हैं। लोग कहते हैं कि साधन तो साधन है। मैं कहता हूं कि साधन ही सब कुछ है। जैसा साधन वैसा साध्य। दोनों के बीच एक–दूसरे को अलग करने वाली कोई दीवार नहीं है। वास्तव में ईश्वर ने हमें साधनों पर नियन्त्रण दिया है, साध्यों पर नहीं।" गांधी जी ने उन व्यक्तियों के तर्क का खण्डन किया है जो यह कहते हैं कि साध्य और साधनों में कोई सम्बन्ध नहीं है। गांधी जी का कहना है कि इसी भूल के कारण धार्मिक व्यक्तियों से भी अपराध हुए हैं। यह तर्क तो ऐसा है कि गन्दी घास–फूस लगाकर फल पैदा कर सकते हैं। यदि मैं समुद्र को पार करना चाहता हूं तो मैं जहाज द्वारा ही कर सकता हूं। यदि मैं इसके लिए गाड़ी का प्रयोग करूं, तो गाड़ी और मैं दोनों धरातल पर पहूंच जाएंगे। बबूल का पेड़ बोने से उस पर आम के फल कभी नहीं लग सकते। आम का फल प्राप्त करने के लिए आम का पेड़ ही लगाना पड़ता है। जैसे बीज होता है, वैसा ही फल प्राप्त होता है। इस तरह गांधी जी ने साध्य और साधन की आंगिक एकता पर बल दिया है।

5. ***नैतिक नियमों में विश्वास (Faith in Moral Principles)***–गांधी जी नैतिकता के महान

सत्याग्रह का अर्थ है–"सत्य पर आग्रह करते हुए अत्याचारी का प्रतिरोध करना, उसके सामने सिर न झुकाना तथा उसकी बात को न मानना।" यह आत्मबल का शारीरिक बल अथवा पशुबल के साथ संघर्ष है। यह सभी प्रकार के अन्याय और शोषण के विरुद्ध आत्मा की शक्तिका प्रयोग है। इसका उद्देश्य विरोधी को दबाना नहीं है, बल्कि उसका हृदय परिवर्तन करना है। इस प्रकार सत्याग्रह विरोधी का हृदय परिवर्तन करने की कार्यवाही है। इसके लिए हिंसात्मक साधनों या किसी प्रकार के दबाव का प्रयोग वर्जित होता है।

गांधी जी ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है–"सत्याग्रह से अभिप्राय विरोधी को पीड़ा या कष्ट देकर नहीं, बल्कि स्वयं कष्ट सहकर सत्य पर डटे रहना अथवा सत्य की रक्षा करना है।" दूसरे शब्दों में कह सकते हैं–"सत्याग्रह रक्षा है, यह रक्षा विरोधियों को कष्ट देकर नहीं, बल्कि स्वयं कष्ट सहकर की जाती है। यह सच्चाई के लिए तपस्या के अतिरिक्त कुछ नहीं है।' जी०एन० धवन के अनुसार–"सत्याग्रह अहिंसक साधनों द्वारा सत्यपूर्ण लक्ष्यों के लिए निरन्तर प्रयत्न है।" वी०पी० वर्मा के अनुसार–"सत्याग्रह का अर्थ अन्याय, अत्याचार और शोषण के विरुद्ध शुद्ध आत्म–शक्ति का प्रयोग है।" कृष्णलाल श्री धारणी ने इसे 'अहिंसक कार्यवाही' कहा हे। एन० के बोस ने इसे 'अहिंसक तरीकों द्वारा युद्ध का संचालन करने का तरीका' कहा है। साधारण रूप में यह 'सत्य के लिए तपस्या' है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि सत्याग्रह सब प्रकार के अन्याय, उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध विशुद्ध आत्मबल का प्रयोग है, जिसमें हिंसा का प्रयोग लेशमात्र भी नहीं होता। इससे विरोधी का हृदय परिवर्तन इस तरह से किया जाता है कि दूसरा स्वतः ही सत्याग्रह के नियमों में विश्वास करने लगता है। राजनीतिक शब्दावली में इसे अपनी बात शांतिपूर्ण तरीके से मनवाने का शांतिपूर्ण शस्त्र भी कहा जा सकता है।

सत्याग्रह की विशेषताएं (Characteristics of Stayagraha)

गांधी जी ने 'यंग इण्डिया' और 'हरिजन' पत्रिकाओं में सत्याग्रह सम्बन्धी अपने विचार प्रस्तुत किए। उनके आधारों पर सत्याग्रह की निम्नलिखित विशेषताएं हैं:–

1. ***सत्याग्रह आत्म-बल का प्रयोग है (Satyagraha is use of Moral-force)***–गांधी जी का कहना है कि सत्याग्रह में पाश्विक या शारीरिक बल की बजाय आत्म–बल का ही प्रयोग किया जाता है। आत्म–शक्ति शारीरिक शक्ति से अधिक शक्तिशाली होती है। कोई भी व्यक्ति कितना ही अत्याचारी व अन्यायी क्यों न हो, उसे भी आत्मबल से जीता जा सकता है। सत्याग्रह आत्म–बल रूपी शस्त्र से विरोधी का हृदय परिवर्तन करने का प्रयास करता है। वह बुराई को अच्छाई से, क्रोध को प्यार से, असत्य को सत्य से तथा हिंसा को अहिंसा से जीतने पर बल देता है। सत्याग्रह आत्म–बल पर आधारित नैतिक शस्त्र होने के नाते अधिक प्रभावशाली होता है। सच्चा सत्याग्रही अपने विरोधी को कष्ट देने की बजाय प्यार से उसे अच्छे–बुरे का भेद कराकर उसे न्याय की ओर प्रेरित करता है। इस तरह यह आत्म–बल द्वारा अत्याचारी के हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया है।

2. ***स्वयं कष्ट सहना सत्याग्रह का अनिवार्य भाग है (Self- suffering is an essential part of Satyagraha)***–गांधी जी का मानना है कि सत्याग्रह में सत्याग्रही स्वयं कष्ट सहकर दूसरों का हृदय जीत सकता है। सत्याग्रह का यह आवश्यक नियम है कि एक सच्चा सत्याग्रही स्वयं कष्ट उठाए, दूसरों को कष्ट न दे। स्वयं कष्ट भोगना तथा

व साधनों का गलत चुनाव है। गांधी जी का यह सिद्धान्त साध्य व साधनों की पवित्रता अपनाने पर जोर देकर इसी समस्या का समाधान करता हुआ प्रतीत होता है। निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि साध्य और साधन का सिद्धान्त गांधी जी की एक महत्वपूर्ण व शाश्वत देन है।

सत्याग्रह का सिद्धान्त
(Theory of Satyagraha)

महात्मा गांधी ने अपने अहिंसा के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए जिस उपाय का प्रयोग किया, वह सत्याग्रह है। उनका यह सिद्धान्त सत्य की अवधारणा पर आधारित है। सत्य के प्रबल समर्थक होने के नाते गांधी जी का मानना था कि सत्य के मार्ग पर चलकर ही व्यक्ति पूर्ण विकास का लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। गांधी जी ने सत्याग्रह का प्रथम प्रयोग दक्षिणी अफ्रीका में किया। इसे वहां पर निष्क्रिय प्रतिरोध का नाम दिया गया। लेकिन गांधी जी ने इस बात को स्पष्ट किया कि सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध अलग–अलग है। सत्याग्रह शुद्ध अहिंसक साधनों पर आधारित तकनीक है। इसमें हिंसा के लिए कोई जगह नहीं है। सत्य इसका आधार है। इसमें आत्मबल रूपी शस्त्र का ही प्रयोग किया जाता है। यह एक आदर्श है, कर्म योग का एक व्यावहारिक दर्शन है और एक क्रियाशील अवधारणा है।

दार्शनिक आधार (Philosophical Basis)–गांधी जी ने 'शक्तिशाली की विजय' के जैविक सिद्धान्त तथा हॉब्स के विचार–'प्रत्येक एक–दूसरे के सिरुद्ध संघर्षरत रहता है' का खण्डन किया है। गांधी जी मानव स्वभाव का वर्णन करते हुए कहता है कि मनुष्य प्रारम्भ से ही अहिंसा प्रेमी रहा है। वह पारस्परिक सहायता व सहयोग में विश्वास करता हैं वह वेद–शास्त्रों के मार्ग का अनुसरण करता है। कोई भी व्यक्ति या शासक कितना निर्दयी क्यों न हो, उसमें भी मनुष्यता, करुणा, परोपकार तथा दया की भावना अवश्य पाई जाती है। सत्याग्रह द्वारा अत्याचारी मनुष्य की सोई हुई आत्मा को जगाया जा सकता है। एक समय ऐसा आता है, जब अत्याचारी की आत्मा अवश्य जागत होती है। बुराइ को बुराई से कभी दूर नहीं किया जा सकता। प्रेम से ही अत्याचारी व अन्यायी पर काबू पाया जा सकता है। घणा, घणा को जन्म देती है। मानव के दुःखों का कारण घणा है। असत्य का सामना सत्य से करके ही मानवता को सुख प्रदान किया जा सकता है। गांधी जी का यह द्विान्त इस बात में विश्वास करता है–"हम सब एक–दूसरे के सदस्य हैं" मनुष्य को ईश्वर के सभी व्यक्तियों की भलाई करनी चाहिए। सबकी भलाई में ही उसकी भलाई निहित है और उसके साथ कभी अच्छा नहीं हो सकता। इसलिए व्यक्ति को बुराई दूर करने के लिए अच्छाई का ही मार्ग अपनाना चाहिए। हिंसा, युद्ध, कुटिल राजनीति कभी भी शांति का साधन हीं हो सकते। अहिंसा, प्यार और सत्य ही समस्याओं के समाधान के स्थाई उपाय हैं यही सत्याग्रह के सिद्धान्त का सन्देश है और मानवता के सुख का आधार है।

सत्याग्रह का अर्थ
(Meaning of Satyagraha)

साधारण शब्दों में सत्याग्रह–सत्य + आग्रह दो शब्दों के मेल से बना है। इसका शाब्दिक अर्थ है–सत्य पर आरुढ़ रहकर बुराई का विरोध करना। यह असत्य का विरोध है व हर अवस्था में सत्य को पकड़े रहना है। हिंसा, भय और मत्यु इसे विचलित नहीं कर सकते। यह सत्य के लिए एक तपस्या है। गांधी जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' में इसे 'आत्मा का बल' भी कहा है।

अन्याय का विरोध करना ही सत्याग्रह है। सत्याग्रह स्वार्थ पर आधारित नहीं होता। सत्याग्रही परमार्थ हेतु स्वयं कष्ट उठाकर सत्य व न्याय की रक्षा करता है। सच्चा सत्याग्रही वही होता है जो समस्त दुःखों को स्वयं सहे और समस्त सुखों को प्राणीमात्र की भलाई के लिए अर्पित कर दे। सत्याग्रही पर जितने अधिक दुःख आते हैं, वह जितने अधिक दुःख सहता है, उसी से वह पूर्णता की तरफ अग्रसर होता है। जिस तरह सोना आग में तपकर कुन्दन बनता है, उसी तरह अधिक से अधिक कष्टों के माध्यम से गुजरकर सच्चा सत्याग्रही तैयार होता है। यही सत्याग्रह का अटल व शाश्वत् नियम है। दुःखों से ही सुखों का जन्म होता है। कोई भी देश दुःखों के बिना सुख नहीं भोग सकता। भारत ने कष्ट सहकर की स्वतन्त्रता का आनन्द उठाया है। आत्मपीड़न ही सत्याग्रह के सिद्धान्त का आधार है। जो कष्ट सहता है या आत्मपीड़न से गुजरता है, वही सुखों को भोगता है। इससे उसकी आत्मा पवित्र होती है। जनता उसके पक्ष में होकर उसी को औचित्यपूर्ण ठहराती है।

3. ***सत्याग्रह विरोधी के हृदय को विवेक तथा अपील से बदलता है (Satyagraha converts one's heart through reason and appeal)***–सत्याग्रह में विरोधी को अपनी बात मनवाने के लिए किसी भय या दण्ड का प्रयोग वर्जित होता है। सत्याग्रह विवेक पर आधारित होता है। सत्याग्रही अन्यायी या अत्याचारी के हृदय को किसी कष्ट या दण्ड का भय दिखाकर नहीं बदलता, बल्कि उसक तर्क–बुद्धि के आधार पर हृदय परिवर्तन के लिए तैयार करता है। एक स्थिति ऐसी आ जाती है कि विरोधी व्यक्ति स्वयं यह अनुभव करता है कि वह गलत या अनुचित कार्य कर रहा है। वह स्वयं तर्क–बुद्धि के अनुसार अन्याय व अत्याचार का रास्ता छोड़कर न्याय की तरफ अग्रसर होने लगता है।

4. ***सत्याग्रह में हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं (No place of violence in satyagraha)***– गांधी जी का मानना है कि हिंसा को हिंसा से नहीं जीता जा सकता। प्रेम ही एक ऐसी वस्तु है जो पाश्विक बल को भी काबु कर सकती है। हिंसा से समाज में अराजकता पैदा होती है। अन्याय और अत्याचार कम होने की बजाय तेजी से बढ़ने लगते हैं। इसलिए अहिंसा ही एक ऐसा उपाय है जो समाज में व्याप्त हिंसा का नामोनिशान मिटा सकता है। गांधी जी ने कहा है–"अहिंसा मनुष्य के पास परमाणु बम से भी अधिक शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र है।" अतः सत्याग्रह में हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं है।

5. ***सत्याग्रह प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है (Satyagraha is the birth right of every individual)***–गांधी जी का कहना है कि सत्याग्रह व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। इसकी उत्पत्ति राज्य से न होकर, आत्मा से हुई है। यह अधिकार होने के साथ–साथ एक कर्त्तव्य भी है। यदि कोई भी शासक या सरकार जन–कल्याण की उपेक्षा करने लग जाए या अन्यायी अत्याचारी हो जाए तो उसका विरोध करना प्रजा का परम कर्त्तव्य बन जाता है। लेकिन विरोध हर परिस्थिति में अहिंसात्मक ही होना चाहिए।

6. ***सत्याग्रह का सार्वभौमिक प्रयोग (Satyagraha has universal application)***–गांधी जी का मानना है कि सत्याग्रह जीवन के हर क्षेत्र में प्रयोग किया जा सकता है। इसका प्रयोग सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक सभी क्षेत्रों में निर्बाध रूप से किया जा सकता है। इस प्रकार इसमें सार्वभौमिकता का गुण भी विद्यमान है।

7. ***सत्याग्रह में खुला व्यवहार (Open dealing in Satyagraha)***–गांधी जी कहना है कि सत्याग्रह में कुछ भी गुप्त नहीं रखा जाना चाहिए। सत्याग्रही का प्रत्येक कार्य जन समर्थक होना चाहिए। छिपाकर किया गया कार्य अविश्वास को जन्म देता है। इससे सत्याग्रह का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। गांधी जी ने कहा है–"जितने खुले रूप से आप बात करोगे उतने ही आप सत्यपूर्ण होंगे।" इसमें छल–कपट, धोखा, बेईमानी आदि का समावेश नहीं होना चाहिए। इसी पर सत्याग्रह की सफलता निर्भर करती है।

8. ***अच्छे साध्य और अच्छे साधन (Good ends and good means)***–गांधी जी का मानना है कि सत्याग्रह में प्रयुक्त सभी साधन भी साध्य के अनुकूल ही होने चाहिए। यदि सत्याग्रह का लक्ष्य (साध्य) उचित है तो उसे प्राप्त करने में अच्छे साधनों का प्रयोग अपरिहार्य है। अच्छा साध्य अच्छे साधनों से ही प्राप्त किया जा सकता है। यदि सत्याग्रह सामाजिक हित के लक्ष्य (साध्य) को ध्यान में रखकर किया जाता है तो उसे अच्छे साधनों द्वारा सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। यदि साध्य ही गलत है तो अच्छे साधन भी असफल सिद्ध होते हैं।

9. ***सत्याग्रह सामाजिक हित के लिए किया जाता है (Satyagraha is undertaken only for social interest)***–गांधी जी के दर्शन में व्यक्तिगत हित की बजाय सामाजिक हित को प्राथमिकता दी गई है। गांधी जी का कहना है कि कोई भी सत्याग्रही आन्दोलन तभी सफल हो सकता है, जब वह सामाजिक हित की दष्टि से किया जाए। स्वार्थ की भावना से किया गया सत्याग्रह सदैव निष्फल रहता है। जो बात न्याय व सत्य के विपरीत हो उसको सत्याग्रह से जीतना कठिन होता है। इसलिए गांधी जी ने सत्याग्रह का प्रयोग व्यक्तिगत हित की बजाय सामाजिक हित के लिए करने का समर्थन किया है।

सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध में अन्तर
(Difference between Satyagraha and Passive Resistance)

जब गांधी जी ने सर्वप्रथम दक्षिण अफ्रीका में अपना सत्याग्रह आरम्भ किया तो उसे निष्क्रिय प्रतिरोध का नाम दिया गया। लेकिन गांधी जी ने इस भ्रान्ति का जल्दी ही निवारण करके इन दोनों को अलग–अलग बताया। आम आदमी प्रायः इन दोनों को एक ही मान बैठता है। क्योंकि ये दोनों अत्याचार व अन्याय का सामना करने व उन्हें समाप्त करने के साधन हैं। इन दोनों का उद्देश्य भी विधमान व्यवस्था में सामाजिक व राजनीतिक परिवर्तन लाना होता है। लेकिन फिर भी दोनों में व्यापक अन्तर है। गांधी जी ने एक स्थान पर लिखा है–"सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध में उतना ही अन्तर है जितना उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव में। निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बलों का अस्त्र है और यह स्वार्थ सिद्धि के लिए जरूरत पड़ने पर बल प्रयोग की आकांक्षा रखता है। परन्तु सत्याग्रह बलवानों का अस्त्र है और इसे स्वीकार करने वालों को किसी भी अवस्था में या रूप में बल–प्रयोग की आज्ञा नहीं है।" इस आधार पर निष्क्रिय प्रतिरोध और सत्याग्रह में निम्नलिखित अन्तर हो सकते हैं–

1. निष्क्रिय प्रतिरोध एक राजनैतिक शस्त्र है जबकि सत्याग्रह एक नैतिक अस्त्र है।
2. निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बल का शस्त्र है जबकि सत्याग्रह वीरों का अस्त्र है।
3. निष्क्रिय प्रतिरोध में शत्रु या विरोधी को तंग करने की भावना पर बल दिया जाता है, लेकिन सत्याग्रह में सत्यागही सारे कष्ट स्वयं ही लेता है।

4. निष्क्रिय प्रतिरोध में विरोधी का ह्रदय परिवर्तन करने या अपनी बात को मनवाने के लिए हिंसा या संघर्ष का सहारा लिया जाता है, जबकि सत्याग्रह में प्रेम और धैर्यपूर्वक आत्म–बल के आधार पर विरोधी का ह्रदय परिवर्तन किया जाता है।

5. निष्क्रिय प्रतिरोध हिंसा व घणा पर आधारित होता है, जबकि सत्याग्रह प्रेम व अहिंसा पर आधारित होता है।

6. सत्याग्रह एक सार्वभौमिक अस्त्र है। इसका प्रयोग जीवन के किसी भी क्षेत्र में किया जा सकता है। निष्क्रिय प्रतिरोध प्रायः शत्रु पक्ष या अपने राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी के विरुद्ध ही किया जाता है।

7. सत्याग्रह रचनात्मक कार्यों की ओर उन्मुख होता है, जबकि निष्क्रिय प्रतिरोध का अपना कोई रचनात्मक दष्टिकोण नहीं है।

इस तरह कहा जा सकता है कि सत्यागह बलवान का शस्त्र है। इसमें हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं होता है, यह सदैव सत्य व अहिंसा पर ही आधारित होता है, जबकि निष्क्रिय प्रतिरोध हिंसात्मक कार्यवाहियों पर आधारित होता है। यह कायरों का शस्त्र है। इसमें आत्मबल की बजाय शारीरिक बल का प्रयोग किया जाता है। इसमें प्रेम जैसी भावना के लिए कोई स्थान नहीं होता है। गांधी जी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान निष्क्रिय प्रतिरोध और सत्याग्रह में व्यापक अन्तर करके दिखाया, उनका हर आन्दोलन और हर कदम पूर्णतया अहिंसात्मक रहा।

सत्याग्रह के तरीके (Methods of Satyagraha)–गांधी जी ने सत्याग्रह के निम्नलिखित साधन या तरीके बताए हैं–

1. ***बातचीत द्वारा समझौता (Compromise by Negotiation)***–गांधी जी का मानना था कि किसी भी प्रकार की सामाजिक या राजनीतिक समस्या के समाधान के लिए सर्वप्रथम समझौतेका प्रयास करना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर किसी मध्यस्थ की मदद भी लेनी चाहिए। विरोधी पक्ष को उसकी गलती का अहसास कराने का प्रयास करना चाहिए। समझौते की शर्तें मानने योग्य होनी चाहिए। विरोधी पर अनुचित दबाव डालकर समझौते का प्रयास नहीं करना चाहिए। गांधी जी का कहना था–"जिस प्रकार सत्याग्रही संघर्ष के लिए सदैव तैयार रहता है, उसी तरह उसे शान्ति के लिए तैयार रहना चाहिए।"

2. ***असहयोग (Non-cooperation)***–गांधी जी का मानना था कि किसी भी देश का शासन उसकी सैनिक शक्ति पर नहीं, बल्कि जनता के सक्रिय सहयोग पर आधारित होता है। यदि सरकार को जनता का सहयोग प्राप्त न हो तो सरकार ज्यादा दिन तक नहीं चल सकती। इसलिए यदि कोई सरकार या संस्था अन्याय व अत्याचार करती है तो उसकी नीतियों व कानूनों को मानना बन्द कर देना चाहिए। जिस प्रकार प्रजा की सेवा करना सरकार या शासक का धर्म है, उसी प्रकार शासक की आज्ञा का पालन करना जनता का धर्म होता हे। सहयोग, त्याग एक न्यायपूर्ण धार्मिक सिद्धान्त है। सरकार के अत्याचारी होने पर उसको असहयोग देना जनता को शाश्वत् धर्म है। इसमें किसी भी रूप में हिंसक उपायों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। गांधी जी ने जब 1920 में असहयोग आन्दोलन चलाया तो वकीलों ने अदालतों का, जनता ने विदेशी माल का, विद्यार्थियों ने कक्षाओं का, सार्वजनिक समारोहों का तथा उपाधियों की वापसी जैसे कार्य किए। गांधी जी ने इस कार्यक्रम को पूर्णतया अहिंसा पर आधारित रखा।

3. ***हड़ताल (Strike)***–गांधी जी ने हड़ताल को भी सत्याग्रह का आवश्यक व प्रभावशाली शस्त्र माना है। गांधी जी ने कहा था कि हड़ताल उद्देश्यपूर्ण होनी चाहिए। इसके पीछे कोई ठोस कारण होना चाहिए। अनुचित कारणों से की गई हड़ताल न तो कभी सफल होती है और न ही उसे जन समर्थन मिल पाता है। हड़ताल कानूनी दायरे में रहकर ही की जानी चाहिए। हड़ताल से आशय किसी अन्याय का प्रतिकार करने के लिए समस्त गतिविधियों को बन्द करना है। ताकि सरकार तथा जनता का ध्यान उस अन्याय की तरफ आकृष्ट हो जिसके कारण हड़ताल की जा रही है। हड़ताल अन्याय के विरुद्ध की जा रही होती है। इसलिए हड़ताल के दौरान कोई हिंसात्मक कार्यवाही नहीं होनी चाहिए। हड़ताल करने के लिए किसी पर कोई दबाव या प्रलोभन न देना चाहिए। हड़ताल बार–बार न की जानी चाहिए। इससे इसका महत्व कम हो जाता है। जनता को अनावश्यक परेशानी पैदा होती है। इस तरह गांधी जी ने हड़ताल को विशुद्ध रूप से अहिंसात्मक कार्यवाही पर आधारित रखने का विचार दिया है।

4. ***उपवास (Fasting)***–गांधी जी ने उपवास को भी सत्याग्रह का महत्वपूर्ण साधन बताया है। गांधी जी के अनुसार–"उपवास अहिंसा के शस्त्रागार में सबसे अधिक प्रभावशाली व फलदायक शस्त्र है।" इसके दो उद्देश्य आत्म–शुद्धि तथा असत्य व अन्याय के विरुद्ध प्रतिकार है। यह सबसे कठिनतम अस्त्र है। यह अस्त्र सरकार को कमजोर करता है, जनता की आत्म–शक्ति में वद्धि करता है तथा विरोधी पक्ष की सद्मार्ग की ओर लौटने के लिए प्रेरित करता है। इसमें विरोधी को कष्ट देने की बजाय स्वयं कष्ट सहना पड़ता है। इस अस्त्र का प्रयोग करने के लिए किसी शारीरिक शक्ति की आवश्यकता नहीं होती है। जिस व्यक्ति को अपने आत्म–बल पर भरोसा है वही इसका सफल प्रयोग कर सकता है। गांधी जी ने उपवास को व्यापक अर्थ में स्पष्ट करते हुए कहा है–"उपसास आत्मा की शुद्धि के लिए केवल अन्न ग्रहण न करना नहीं है, बल्कि मन के सभी विकारों को मुक्त करना या होना है। इसलिए गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन के दौरान चौरा–चौरी घटना से दुःखी होकर असहयोग आन्दोलन को बन्द कराने के लिए 5 दिन का उपवास रखा था।

5. ***सवनिय अवज्ञा (Civil Disobedience)***–सविनय अवज्ञा को गांधी जी ने सबसे अधिक प्रभावशाली अस्त्र माना है जिसका उद्देश्य अनैतिक नियमों को तोड़ना है। यह असहयोग की अन्तिम अवस्था है। गांधी जी का कहना है कि विनयपूर्वक सरकार की अन्यायपूर्ण नीतियों को मानने का अर्थ है–स्वयं अन्याय में सांझेदार बनना, यदि कोई सत्याग्रही शासक का आज्ञाकारी रहता है तो उसका असहयोग निरर्थक है। इसलिए एक सभ्य पुरुष को अन्यायी शासन का अपने सम्पूर्ण आत्म–बल से विरोध करना चाहिए। इसका प्रयोग हृदय से आदरपूर्ण और संयत् होना चाहिए। अवज्ञा का कार्य पूर्ण रूप से अहिंसक होना चाहिए। 1930 में गांधी जी ने अहिंसक तरीके से नमक कानून भंग किया था। यह गांधी जी का 'सविनय अवज्ञा' का सफल प्रयोग था।

6. ***धरना (Picketing)***–गांधी जी के अनुसार धरना एक वैध और उपयोगी साधन है। इसका उद्देश्य भी नैतिक है। यह जन–शिक्षा का माध्यम भी है, इसलिए यह मनुष्य के अधिकारों की प्राप्ति के लिए बहुत जरूरी है। यह बुराई या अन्याय के विरुद्ध मित्रता की चेतनावनी है। गांधी जी ने कहा है–"अहिंसक धरना देने वाले का यह कर्त्तव्य है कि वह जनमत को जगाए, उपयुक्त वातावरण तैयार करे, सामने वाले को चेतावनी

दे और उसे ह्रदय परिवर्तन द्वारा वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराए।" गांधी जी ने धरने की निम्नलिखित शर्तें बताई हैं–

I. धरना पूर्ण रूप से शांत होना चाहिए।

II. इसमें धमकी का प्रदर्शन नहीं होना चाहिए।

III. इसमें अनुचित दबाव नहीं डालना चाहिए।

IV. इसमें विवेकपूर्ण प्रार्थना और पत्रिकाएं बांटने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार गांधी जी ने विशुद्ध अहिंसात्मक उपायों का सहारा लेकर ही धरने पर बैठने व उसे सफल बनाने का सुझाव दिया है।

7. ***सामाजिक बहिष्कार (Social Boycott)***–गांधी जी ने कहा है कि जो व्यक्ति समाज हित के विपरीत आचरण करें और जनमत की अवहेलना करे तो उसका सार्वजनिक रूप से बहिष्कार कर देना चाहिए। इस प्रकार का तरीका सरकारी चम्मचों का प्रयोग करना चाहिए। लेकिन यह सारी कार्यवाही पूर्ण से अहिंसक पर होनी चाहिए।

8. ***आर्थिक बहिष्कार (Economic Boycott)***–जब कोई व्यवसायी या व्यापारी अत्याचारी हो जाए, मजदूर वर्ग व किसान वर्ग के हितों की अनदेखी करने लगे तो उसके सामान का प्रयोग करना बन्द कर देना चाहिए। गांधी जी ने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने के लिए इस साधन का प्रयोग भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान किया था।

9. ***हिजरत (Hijrat)***–इसका अर्थ है–देश छोड़कर चले जाना। गांधी जी ने कहा हे कि जब शासक या सरकार इतनी अधिक अन्यायी व अत्याचारी हो जाए कि उसके अत्याचारों को सहन करना जनता के वश की बात न रहे तो जनता को वह राज्य छोड़ देना चाहिए और कहीं ओर चले जाना चाहिए। हजरत मुहम्मद पर जब धाम्रिक कट्टरपंथियों ने मक्का में अत्याचार किए तो वे मक्का छोड़कर मदीना चले गए थे। गांधी जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' में भी काठियावाड़ की रियासत एक ऐसा ही उदाहरण दिया है। जब काठियावाड़ की रियासत पर राजा ने अत्याचार इतने अधिक किए कि उनको सहन करना जनता के वश में नही रहा तो जनता ने वहां से पलायन करना शुरू कर दिया था। राजा ने इससे घबराकर उन पर अत्याचार न करने की प्रतीज्ञा की और प्रजाजन वापिस लौटने लगे। गांधी जी ने कहा है कि इस प्रकार का उपाय अन्तिम साधन के रूप में ही अपनाना चाहिए अर्थात् जब जनता के लिए सम्मानपूर्वक जीवन जीना मुश्किल हो जाए तो तभी इसका प्रयोग करना चाहिए।

सत्याग्रही के आवश्यक नियम (Essential rules of Satyagraha)–गांधी जी ने सत्याग्रह के कुछ नियम भी बताएं हैं। ये नियम अपनाने वाले व्यक्ति ही सच्चा सत्याग्रही होता है। ये नियम निम्नलिखित हैं–

1. सत्याग्रही के मन में बदले की भावना नहीं होनी चाहिए।
2. सत्याग्रही को क्रोध नहीं करना चाहिए।
3. सत्याग्रही को सभी प्रकार के कष्ट और अपमान सहने के लिए तैयार रहना चाहिए।
4. सत्याग्रही के मन में विरोधी के प्रति कोई घणा या हिंसा का भाव नहीं होना चाहिए।

5. सत्याग्रही को पवित्र जीवन बिताना चाहिए।
6. सत्याग्रही को शान्तिपूर्वक व अहिंसात्मक रूप से सत्याग्रह करना चाहिए।
7. सत्याग्रही को आत्म–बलिदान के लिए तैयार रहना चाहिए।
8. सत्याग्रही को सत्य व न्याय की पहचान होनी चाहिए।
9. सत्याग्रही का बल कष्ट सहन करने में है।
10. सत्याग्रह का आधार केवल त्याग और तपस्या है।
11. सत्याग्रह को विनयी व दयावान होना चाहिए।
12. सत्याग्रह को किसी डर के आगे झुकना नहीं चाहिए अर्थात् वह निर्भयी होना चाहिए।
13. सत्याग्रही को धर्म का ज्ञान होना चाहिए।
14. सत्याग्रही की आत्मा पवित्र होनी चाहिए। क्योंकि सत्याग्रह का मूलमन्त्र अन्तर्आत्मा की पवित्रता है।
15. सत्याग्रह के लिए मत्यु, मोक्ष और जेल स्वतन्त्रता का द्वार है।
16. सत्याग्रही को किसी भी प्रकार के अन्याय व अत्याचार के आगे नहीं झुकना चाहिए।
17. सत्याग्रह में पराजय के लिए कोई स्थान नहीं है।
18. सत्याग्रही सत्ता का इच्छुक नहीं होता।
19. सत्याग्रही संख्या पर नहीं, आत्मा में विश्वास करने वाला होना चाहिए।
20. सत्याग्रही में अहंकार की भावना नहीं होना चहिए।
21. सत्यागही को समझौतावादी होना चाहिए।
22. सत्याग्रही को ईश्वर में अटूट विश्वास होना चाहिए।
23. सत्याग्रह सार्वजनिक उद्देश्य के लिए किया जाना चाहिए।
24. सत्याग्रही में आत्म–अवलोकन का गुण होना चाहिए।
25. सत्याग्रही को अनुशासनप्रिय होना चाहिए।

इस प्रकार गांधी जी ने सत्याग्रह की सफलता के लिए जो नियम बताए हैं, उन पर चलकर ही कोई भी व्यक्ति सच्चा सत्याग्रही बन सकता है। गांधी जी ने कहा है कि सत्याग्रह का रास्ता बड़े सोच विचार के बाद ही अपनाना चाहिए। इस रास्ते पर आ जाने पर बिना उद्देश्य प्राप्त किए वापिस लौटना सत्याग्रही के आचरण के विरुद्ध होता है। इसलिए सत्याग्रही को चाहे कितने ही कष्ट उठाने पड़े, सत्याग्रह से मुंह नहीं मोड़ना चाहिए।

आलोचना
(Criticism)

यद्यपि गांधी जी का सत्याग्रह का सिद्धान्त भारतीय राजनीतिक चिन्तन में काफी महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। लम्बे समय से इसका प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों में किया जाता रहा है। लेकिन व्यावहारिक रूप में यह सिद्धान्त कम ही सफल रहा है और बहुत ही कम व्यक्तियों ने सत्याग्रही बनने का प्रयास किया है। इसलिए यह कोरा आदर्शवाद ही बनकर रह गया है। अनक विद्वानों जैसे आर्थर मोर ने इसे 'मानसिक पीड़ा;' सी०एम० केस ने इसे 'जबरन उत्पीड़न' (coercive

suffering) कहकर इसकी आलोचना की है। इसे राजनीतिक दबाव की संज्ञा भी दी जाती है। आलोचकों का कहना है कि इस सिद्धान्त का हर परिस्थिति व हर क्षेत्र में प्रयोग असम्भव है। जहां न्याय एवं मानवता के प्रति आदर है वहां तो सत्याग्रह का प्रयोग हो सकता है लेकिन निरंकुश शासनों में इसका प्रयोग और उसकी सफलता पूर्णता संदिग्ध है। आज कोई भी देश अहिंसक साधनों के सहारे नागरिकों की स्वतन्त्रता व सुरक्षा खतरे में नहीं डाल सकता। आज परमाणु युग में सत्याग्रह का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। एक देश की सीमाओं में तो इसको कुछ सफलता मिल भी सकती है, सीमाओं से बाहर इसकी सफलता की आशा न के बराबर है। इसलिए यह सिद्धान्त आधुनिक समय में अव्यावहारिक व असंगत है। महात्मा गांधी ने स्वयं कहा था कि सत्याग्रह बड़ा भयानक शस्त्र है, इसका प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिए। लेकिन इन आलोचनाओं की बावजूद भी यह कहा जा सकता है कि इस सिद्धान्त की सफलता प्रयोगकर्त्ता पर निर्भर करती हैं गांधी जी ने इस सिद्धान्त का सफल प्रयोग करके दिखाया था। यदि आज व्यक्तिगत स्वार्थों को तिलांजलि दे दी जाए तो इस सिद्धान्त का आज भी सफल प्रयोग किया जा सकता है। अतः सत्याग्रह का सिद्धान्त गांधी जी एक महत्वपूर्ण व शाश्वत् देन है।

राज्य का सिद्धान्त
(Theory of State)

राज्य के बारे में गांधी जी की धारणा मूलतः अराजकतावादी है। गांधी जी ने राज्य को एक आवश्यक बुराई माना है, उन्होंने दार्शनिक आधार पर राज्य को व्यक्तितव विकास में बाधा मानकर उसका विरोध किया है। गांधी जी का कहना है कि राज्य दण्ड और कानून का भय दिखाकर स्यक्ति से अपनी बात मनवा लेता है। इससे हिंसा व पाश्विक बल को बढ़ावा मिलता है और नैतिकता का मार्ग अवरुद्ध होता है। इसलिए राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप में न्यूनतम कार्यक्षेत्र में रहना चाहिए। उसे व्यक्ति के जीवन को अधिक से अधिक स्वतन्त्र व स्वावलम्बी बनाने का प्रयास करना चाहिए ताकि उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सके।

गांधी जी राज्य को समाप्त करने के पक्ष में अपने मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि शासन व्यवस्था चाहे कितनी भी लोकतान्त्रिक हो, फिर भी उसकी जड़ में सदैव हिंसा रहती है, वह गरीबों का शोषण करता है और पूंजीपति वर्ग के हितों का पोषक होता है। यह पुलिस, न्यायालय, सेना आदि के माध्यम से व्यक्तियों पर अपनी इच्छा थोपता है। इससे नैतिक मूल्यों को आघात पहुंचता है। राज्य की आज्ञा का मनुष्य के नैतिक कार्यों से कोई सम्बन्ध न होने के कारण व्यक्तित्व का विकास भी रूक जाता है। इसलिए हिंसा और पाश्विक शक्ति पर आधारित होने के कारण राज्य एक आत्मा रहित मशीन है जो मानव जाति को सर्वाधिक हानि पहुंचाती है।

गांधी जी ने लिखा है–"राज्य हिंसा का धनीभूत और संगठित रूप है। एक व्यक्ति में आत्मा होती है, किन्तु राज्य आत्मा रहित यन्त्र मात्र है। यह हिंसा पर जीवित रहता है और इसे हिंसा से कभी अलग नहीं किया जा सकता।" इसलिए कोई भी ऐसा कार्य जो व्यक्ति की इच्छा से परे होता है, अनैतिक होता है। हिंसा व भय के वातावरण में किया गया प्रत्येक कार्य सदैव अनैतिक ही होता है। इसलिए गांधी जी ने राज्य की शक्ति को भय की दष्टि से देखा है और उसे व्यक्तित्व के विकास में सबसे बड़ी बाधा मानकर उसे समाप्त करने का विचार प्रस्तुत किया है। इसी कारण अनेक विचारकों ने गांधी जी को एक अराजकतावादी विचारक कहा है।

गांधी जी ने राज्य के स्थान पर एक ऐसे आदर्श समाज या राज्यविहीन लोकतन्त्र (Stateless Democracy) की स्थापना का विचार पेश किया है। इसे राम राज्य की कल्पना भी कहा जा सकता है। गांधी जी ने इसे स्वयं स्वराज्य की संज्ञा दी है और अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' में इस आदर्श राज्य का व्यावहारिक ढांचा पेश किया है। गांधी जी ने अहिंसा को आदर्श समाज की स्थापना का आवश्यक तत्व मानकर, उस पर ही अपने आदर्श समाज की स्थापना की कल्पना की है। उन्होंने अहिंसात्मक समाज में सरकार का स्वरूप लोगों पर ही छोड़ने बी बात स्वीकार की है। उन्होंने 11 फरवरी 1939 को 'हरिजन' पत्रिका में लिखा था कि–"अहिंसा पर आधारित समाज में सरकार की रूप–रेखा क्या होगी, मैं जान–बूझकर इसका वर्णन नहीं कर रहा हूं–जब समाज अहिंसा के नियम के अनुसार स्वयं बन जाएगा तो उसका रूप आज के समाज से पूर्ण रूप से भिन्न होगा।" इससे स्पष्ट है कि गांधी जी ने अपने आदर्श समाज या राम राज्य की कोई निश्चित रूप–रेखा प्रस्तुत नहीं की। उसने कल्पना मात्र के आधार पर ही रामराज्य का ढांचा पेश किया है, जिसके आधार पर उनके आदर्श समाज या रामराज्य की निम्नलिखित विशेषताएं दृष्टिगोचर होती है–

1. ***व्यक्ति साध्य और राज्य साधन है (Man is end and state is a means)***–गांधी जी का मानना था कि राज्य अपने आप में कोई साध्य नहीं है, बल्कि व्यक्तियों के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी परिस्थितियों को उत्कृष्ट बनाने सहायता देने का साधन है। राज्य व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति राज्य के लिए नहीं है। राज्य का प्रधान कार्य सभी व्यक्तियों के हित का सम्पादन करना है। इसका उद्देश्य (साध्य) सर्वोदय अर्थात् सभी का कल्याण है। वह किसी वर्ग विशेष के हितों का प्रतिनिधि नहीं हो सकता है। यदि राज्य अपने अधिकारों का अतिक्रमण करता है तो उसके विरोध का अधिकार सत्याग्रही व्यक्ति को होता है। इस प्रकार गांधी जी ने आदर्श समाज में राज्य को व्यक्ति के विकास का साधन माना है ताकि राज्य की निरंकुशता पर रोक लगाई जा सके।

2. ***विकेन्द्रीकरण (Decentralization)***–गांधी जी राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में शक्ति और धन के केन्द्रीकरण को सारी बुराईयों की जड़ मानते थे। इसलिए उन्होंने आदर्श समाज में विकेन्द्रीकरण पर जोर दिया है। उनके मतानुसार बड़े पैमाने पर उत्पादन मनुष्य जाति के लिए अभिशाप है। इसी से व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का, एक देश द्वारा दूसरे देश का शोषण हो रहा है। इससे हिंसा को बढ़ावा मिल रहा है। भौतिक पाश्चात्य सभ्यता की बुराईयों भी इसी व्यवस्था के कारण फेली हुई है। इसलिए विकेन्द्रीकरण द्वारा कुटीर उद्योगों का विकेन्द्रीकरण किया जाए। राष्ट्रीय महत्व के उद्योगों को केन्द्रीकरण व्यवस्था पर ही आधारित रहना चाहिए। केवल आम लोगों के हितों के पोषक उद्योग ही विकेन्द्रीकरण के तहत शामिल किए जाने चाहिएं। इसी तरह राजनीतिक क्षेत्र में शक्तियों का विभाजन होने के कारण शक्ति व सत्ता विशेष वर्ग तक ही सिमटकर रह जाती है। जिस प्रकार उद्योगों में मुट्ठी भर पूंजीपति जनता का आर्थिक शोषण करते हैं, उसी तरह राजनीतिक क्षेत्र में भी मुट्ठी भर नेता जनता का शोषण कर रहे हैं इसलिए राजनीतिक विकन्द्रीकरण द्वारा पंचायतों को अधिक शक्तियां प्रदान की जानी चाहिएं ताकि आम व्यक्ति भी शासन में भागीदार बन सकें।

3. ***न्याय (Justice)***–गांधी जी का मानना था कि न्याय व्यवस्था एक स्तर पर उपलब्ध होनी चाहिए ताकि जनता को न्याय पाने में कोई कठिनाई न हो। न्यायलयों को सत्य के मार्ग पर चलना चाहिए ताकि स्वस्थ न्यायपालिका प्रणाली का विकास हो। लोगों को आपसी समस्याएं पंच निर्णय (Arbitration) द्वारा ही हल करने के प्रयास करना

चाहिए। दीवानी झगड़ों में पंच निर्णय ही अपनाना चाहिए। भ्रष्टाचार अथवा कानून के दुरुपयोग के मामलों में ही न्यायलयों का सहारा लिया जाए। छोटे–छोटे झगड़ों के लिए न्यायलय का सहारा न लिया जाए ताकि समय व धन का अपव्यय न हो। गांधी जी ने कहा है–"वकील होने चाहिए, परन्तु उनकी फीस निश्चित व कम होनी चाहिए। उनके सामने सेवा का आदर्श होना चाहिए, न कि धन कमाने का।" उन्होंने आगे कहा है–"न्याय व्यवस्था को सस्ती बनाना चाहिए। दीवानी मुकद्दमों को छोड़कर अन्य मामलों में ही कोर्ट का सहारा लेना चाहिए। बीच वाले न्यायलयों को समाप्त कर देना चाहिए और न्याय प्रक्रिया सरल बनाई जाए।" इस तरह गांधी जी ने न्याय प्रक्रिया को सरल व सस्ती बनाने का विचार प्रस्तुत किया है।

4. ***पुलिस और जेलें (Police and Jails)***–गांधी जी का मानना था कि समाज में समाज विरोधी तत्व अवश्य होते हैं। उन पर अंकुश लगाने के लिए पुलिस की आवश्यकता पड़ती है। गांधी जी ने पुलिस व्यवस्था को पूर्णतया नए सिरे से कायम करते हुए कहा है–"यह पुलिस वर्तमान पुलिस–पद्धति से बिल्कुल भिन्न होगी। इस पुलिस दल के सदस्य वे व्यक्ति ही होंगे जो अहिंसा में विश्वास रखते होंगे। वे जनता के स्वामी न होकर उनके सेवक होंगे। जनता उन्हें हर प्रकार का सहयोग प्रदान करेंगी तथा इस तरह आपसी सहयोग से वह सदैव कम हेने वाले उपद्रवों का आसानी से मुकाबला कर सकेंगे। पुलिस के पास कुछ न कुछ हथियार भी होंगे, किन्तु उनका प्रयोग यथासम्भव बहुत ही कम किया जाएगा। पुलिस के सदस्य सुधारक होंगे और उनका कार्य चोर–डाकूओं तक ही सीमित होगा।" इस प्रकार गांधी जी समाज के विघटनकारी तत्वों से निपटने के लिए ही पुलिस की व्यवस्था का समर्थन किया है ताकि आम आदमी निर्भय होकर अपना जीवन जी सके और उसे अपने जान–माल की हानि की कोई चिन्ता न रहे। गांधी जी ने अपराधों की रोकथाम के लिए पुलिस को कुछ हद तक हिंसा करने की भी छूट दी है। पुलिस कानून व व्यवस्था कायम रखने के लिए आंसू गैस का प्रयोग कर सकती है।

गांधी जी ने जेलों को भी अहिंसक बनाने का सुझाव दिया है। उनका कहना है कि जेलों को भी सुधारात्मक संस्थाओं का रूप देना चाहिए ताकि अपराधी जलों में कुछ काम–धन्धा सीखकर बाहर जाने पर स्वयं अपनी रोजी–रोटी कमा सकें और दोबारा कोई अपराध न करें। गांधी जी ने आगे कहा है–"समस्त अपराधियों को रोगी मानकर उनका इलाज करना चाहिए और जेलों को इस वर्ग के रोगियों के इलाज और निरोगता का अस्पताल समझना चाहिए। जेल कर्मचारियों का व्यवहार अस्पताल के डॉक्टरों और नर्सों जैसा होना चाहिए तथा कैदियों को महसूस होना चाहिए कि कर्मचारी उनके दोस्त हैं, दुश्मन नहीं।" इस तरह जेलों को अस्पताल समझकर कैदियों के रहने से उनकी अपराध प्रवत्ति पर भी रोक लगेगी और भारतवर्ष जैसे निर्धन देश का चिकित्सा पर किया जाने वाला खर्च भी बच जाएगा। इसके लिए जेल अधिकारियों को अपराध के कारणों का पता लगाकर, उन्हें दूर करना होगा ताकि दोबारा अपराध की प्रवत्ति जन्म न ले।

5. ***प्रतिनिधित्व और चुनाव (Representation and Elections)***–यद्यपि गांधी जी निर्वाचन और प्रतिनिधित्व के विरोधी नहीं थे लेकिन उसके प्रचलित स्वरूप के विरुद्ध थे। निर्वाचन द्वारा जनता यह समझती है कि उनका अपना शासन है लेकिन इससे शोषण की प्रवत्ति का जन्म होता है। उन्होंने 'यंग इण्डिया' में लिखा है–"स्वराज्य से मेरा

अभिप्राय उस भारत से है, जिसमें शासन जनता की स्वीकृति से हो, जिसका निश्चय वयस्क जनसंख्या के सर्वाधिक बहुमत के द्वारा हो, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, वहीं जन्म लेने वाले हों अथवा वहां आकर बसने वाले हों, जिन्होंने शारीरिक श्रम के द्वारा राज्य की सेवा में योगदान दिया हो तथा जिन्होंने मतदाताओं की सूची में अपना नाम शामिल करवा लिया हो।" मताधिकार के बारे में गांधी जी ने कहा है कि वयस्क मताधिकार के लिए आवश्यक योग्यता सम्पत्ति या पद नहीं, बल्कि शारीरिक श्रम होना चाहिए। गांव का शासन ग्राम पंचायतों के हाथ में ही होना चाहिए और इसमें प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली को अपनाया जाए। प्रत्येक 18 वर्ष के ऊपर के स्त्री–पुरुष को वोट का अधिकार हो, जिला प्रशासन के अधिकारी पंचायतों के माध्यम से ही प्राप्त हो। प्रांतीय शासन का चुनाव जिला अधिकारियों द्वारा किया जाए और प्रांतीय अधिकारी देश के राष्ट्रपति का चुरपव करें। इस तरह गांधी जी ने गांव में तो प्रत्यक्ष शासन प्रणाली का समर्थन किया है, लेकिन आगे के स्तरों पर अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली का ही समर्थन किया है।

6. ***बहुमत का शासन (Rule by Majority)***–गांधी जी का मानना था कि आधुनिक समाज में बहुमत का शासन है। लोकतन्त्र को सफल बना सकता है। प्रतिनिधि शासन अल्पमत पर आधारित होने के कारण बहुमत का शोषण करता है। परन्तु गांधी जी का यह उद्देश्य कभी नहीं रहा कि बहुमत अल्पमत का शोषण करे। उनका कहना था कि बहुमत तथा अल्पमत दोनों को खुले दिमाग से कार्य करना चाहिए। उन्हें आत्म–परीक्षण द्वारा अपने कार्यों को जांचना चाहिए। उसी के आधार पर निर्णय देना चाहिए। इससे बहुमत के अत्याचार व अल्पमत के शोषण दोनों से मुक्ति मिलेगी। उन्होंने अन्तःकरण के विषयों के बहुमत के कानून के लिए कोई स्थान नहीं रखा है। उन्होंने लिखा है–"बहुमत के शासन में एक संकुचित व्यवहार सामने आता है, परन्तु इस बात की परवाह न करते हुए कि बहुमत के निर्णय कैसे हैं, सदा ही उनके सामने झुकना गुलामी है। प्रजातन्त्र एक ऐसा राज्य नहीं है जिसमें भेड़ों की तरह कार्य करें।" इस प्रकार गांधी जी ने बहुमत के शासन का समर्थन भी किया हे, लेकिन उसे अल्पमत पर अत्याचार न करने का आग्रह भी किया है।

7. ***अधिकार और कर्त्तव्य (Rights and Duties)***–गांधी जी ने नागरिकों के अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं का पूर्ण समर्थन किया है। लेकिन उन्होंने अधिकारोंकी अपेक्षा कर्त्तव्यों पर अधिक जोर दिया है। उनके अनुसार मनुष्य का सबसे बड़ा अधिकार कर्त्तव्यों का पालन करना ही है। कर्त्तव्य पालन के बिना अधिकारों का कोई महत्व नहीं रह जाता। उन्होंने कर्त्तव्य के महत्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है–"अधिकार का सच्चा स्रोत कर्त्तव्य है। यदि हम अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं तो अधिकारों को ढूंढना कठिन नहीं होगा। यदि हम कर्त्तव्यों का पालन किए बिना अधिकारों के पीछे भागते हैं, तो वह उसी प्रकार दूर भाग जाएंगे, जैसे कि दलदल में उत्पन्न होने वाला जगमगाता हुआ प्रकाश, जितना ही अधिक हम उसका पीछा करते हैं, उतना ही आगे वह भाग खड़ा होता है।" इस तरह गांधी जी ने आदर्श समाज में अधिकारों की तुलना में कर्त्तव्यों पर अधिक जोर दिया है।

8. ***धर्म-निरपेक्ष समाज (Secular Society)***–गांधी जी के अनुसार धर्म आत्मा की वस्तु है। इसका सम्बन्ध व्यक्ति के अन्तःकरण से होता है। इसलिए व्यक्ति को धार्मिक मामलों में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इसी कारण गांधी जी ने अपने रामराज्य की कल्पना

में प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करने का समर्थन किया है। उन्होंने लिखा है–"धर्म व्यक्ति का निजी मामला है इसलिए समाज की कोई भी सस्था व्यक्ति के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करेगी। इसके अतिरिक्त राज्य का कोई धर्म नहीं होगा और राज्य की दष्टि में सभी धर्म समान होंगे।" इस प्रकार गांधी जी ने धर्म–निरपेक्षता की वकालत की है।

9. ***वर्ण-व्यवस्था (Varna System)*–**गांधी जी प्राचीन वर्ण–व्यवस्था में नया भाव भरने का प्रयास किया है। वे अपने आदर्श राज्य की कल्पना में प्राचीन वर्ण–व्यवस्था को धर्म, जाति, लिंग आदि पर आधारित होने के कारण अन्यायपूर्ण मानते हैं। गांधी जी ने कहा है दलित का विकास ही पूरे राष्ट्र का विकास है, इसलिए उनकी स्थिति में सुधार लाने के लिए हर संभव प्रयास करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने परम्परागत व्यवसायों में ही दक्ष होना चाहिए। जब समाज में सारे कार्य समान स्तर के होंगे तो कड़ी प्रतिस्पर्धा और अराजकता का वातावरण समाप्त हो जाएगा और प्रत्येक पेशा सम्मान का स्थान प्राप्त करेगा। गांधी जी ने लिखा है–"मेरा विश्वास है कि संसार में प्रत्येक व्यक्ति कुछ स्वाभाविक प्रवत्तियां लेकर जन्म लेता है। वह अपनी जन्मजात सीमाओं को लांघ नहीं सकता। आज अशोभनीय प्रतिस्पर्धा का कारण वर्ण धर्म का पतीत व तिरस्कृत होना है। यदि आज व्यक्ति को यह गारन्टी दे दी जाए कि उसे श्रम का उचित फल मिलेगा और वह अपने पड़ोसी के कार्य क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करेगा, तो तभी एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था की स्थापना हो सकती है जब उसे वर्ण–धम्र को भली भांति समझा दिया जाए अर्थात् सीमाओं को मानते हुए वर्ण–धम्र में ऊंच–नीच का भेद–भाव समाप्त कर दिया जाए।" लोग अपना कार्य गुजारा करने के लिए ही करेंगे, न कि धन इकट्ठा करने के लिए करेंगे। इसके लिए गांधी जी ने उचित शिक्षा का प्रबन्ध करने का सुझाव दिया है। लेकिन इस सिद्धान्त का यह दोष है कि जो व्यक्ति जिस वर्ण में है, वह सदा के लिए उसी वर्ण में रहेगा। इससे प्रतिभावान व्यक्तियों को अपनी प्रतिभा अपने वर्ण विशेष से हटकर दिखाने का मौका नहीं मिल सकेगा।

10. ***ट्रस्टीशिप-व्यवस्था (Trusteeship system)*–**गांधी जी का कहना है कि वर्तमान समय में आर्थिक विषमता का कारण धनी वर्ग द्वारा आवश्यकता से अधिक धन तथा वस्तुओं का संग्रह करना है। इससे एक तरफ तो धन का अपव्यय बढ़ता है और दूसरी तरफ समाज में आपसी कटुता तथा घणा का भाव बढ़ता है। इसलिए इन दोषों को दूर करने अर्थात् आर्थिक विषमता को समाप्त करने के लिए मनुष्य को आवश्यकता से अधिक धन का संचय नहीं करना चाहिए। इसके लिए उनहोंने ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त पेश किया है इससे अभिप्राय यह है कि धनी व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं से अधिक किसी वस्तु का स्वामी स्वयं को न मानकर, समाज की धरोहर के रूप में उस वस्तु को मान्यता दें और स्वयं को उसका संरक्षक समझें। गांधी जी ने साम्यवादियों की तरह हिंसा द्वारा धनी लोगों की सम्पत्ति छीनने का विरोध किया है। इसके समाज में कटुता तथा घणा का वातावरण पैदा होगा। इसलिए गांधी जी ने इसके लिए अहिंसक मार्ग चुना है। गांधी जी ने लिखा है–"मेरा दढ़ विश्वास है कि यदि राज्य ने पूंजीवाद को हिंसा के द्वारा दबाने की कोशिश की तो वह खुद ही हिंसा के जाल में फंस जाएगा और फिर कभी अहिंसा का विकास नहीं कर सकेगा। इसलिए मैं ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को तरजीह देता हूं।" गांधी जी का कहना है कि इस सिद्धान्त के अनुसार लोगों को स्वेच्छापूर्वक समझाना चाहिए कि वे अपने धन की आवश्यक

मात्रा अपने पास रखकर शेष मात्र समाज की भलाई के लिए लगा दें। इसके आंधी जी का तात्पर्य यह था कि प्रत्येक व्यक्ति को रोटी, कपड़ा और मकान की सुविधा धनिकों द्वारा इस सिद्धान्त को अपनाने पर ही उपलब्ध हो सकेगी। जब धनिक अपने अधिक धन को ऐसे उद्योग धन्धों में लगाएंगे जिनसे साधारण जनता को रोजगार के अवसर प्राप्त होंगे तो असमानता काफी हद तक कम हो जाएगी। गांधी जी ने कहा है कि समाज से पूर्ण असमानता न तो समाप्त हुई और न हो सकती है। इसे एक सीमा तक कम अवश्य किया जा सकता है।

11. ***अहिंसात्मक समाज (Non-Violent Society)***–गांधी जी ने अपने आदर्श राज्य या रामराज्य की कल्पना में आदर्श समाज का चित्रण किया है। गांधी जी का कहना है कि आदर्श समाज पारस्परिक सहयोग पर आधारित ग्रामों का समुदाय होगा। इसका निर्माण अनेक ग्राम पंचायतों को मिलाकर होगा प्रत्येक व्यक्ति समाज की रक्षा तथा कल्याण के लिए तत्पर रहेगा। राज्य की शक्ति पंचायतों में केन्द्रित होगी। समाज विकास के सारे कार्य पंचायतों के हाथ में होंगे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता व गुण धर्म के अनुसार कार्य करेगा। आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति समाज की होगी। रोटी और श्रम का सिद्धान्त लागू होगा। कमाने वाले को ही खाने का अधिकार होगा। राज्य का उद्देश्य सर्वांगीण विकास होगा। व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध सत्य और अहिंसा पर आधारित होंगे, समाज में कुटीर उद्योगों में काम करने वालों का सम्मान बढ़ेगा। कोई काम छोटा नहीं माना जाएगा, समान मजदूरी का नियम सामाजिक विषमाताओं को कम करेगा। इस प्रकार के समाज वाला राज्य एक पवित्र राज्य होगा जहां शोषण और दबाव का नामोनिशान नहीं रहेगा।

इस प्रकार गांधी जी ने रामराज्य की कल्पना के बारे में विस्तार से अपने विचार प्रस्तुत किए। लेकिन गांधी जी कोरे कल्पनावादी नहीं थे। वे एक व्यावहारिक विचारक, सन्त और राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने एक आदर्श राज्य की कल्पना अवश्य की है, लेकिन उस तक पहुंचने का मार्ग कठिन बताया है। उन्होंने स्वयं लिखा है–"इस प्रकार का अहिंसक समाज एक ऐसा प्रेरणा देने वाला आदर्श है, जिसको निकट भविष्य में व्यवहार में लाना कठिन काम है।" इसको व्यावहारिक धरातल पर लाने के लिए आत्म संयम व अनुशासन की बहुत अधिक आवश्यकता है इसलिए राज्य–विहीन समाज की कल्पना यथार्थ में लागू करना सम्भव नहीं है। लेकिन गांधी जी ने कहा है कि ऐसा निकट भविष्य में असम्भव होने के बावजूद भी धीरे–धीरे समाज का आविर्भाव इस सीमा तक हो सकता है कि जो सबके लिए कल्याणकारी होगा। इस प्रकार रामराज्य में राज्य अनावश्यक होते हुए भी कुछ सीमा तक अस्तित्व में रहेगा, जब समाज से पूर्ण अराजकता व विषमता की समाप्ति हो जाएगी तो राज्य की भी स्वयं समाप्ति हो जाएगी और गांधी जी का रामराज्य का स्वप्न साकार होगा।

राज्य के सिद्धान्त का मूल्यांकन
(An Evaluation of the Theory of State)

गांधी जी का रामराज्य या आदर्श राज्य का स्वप्न देखने में तो सुन्दर लगता है। यदि इसे व्यवहार में लागू कर दिया जाए तो बहुत अच्छा है। लेकिन इसको व्यावहारिक रूप में लागू करने में कुछ कठिनाईयां हैं–

1. गांधी जी द्वारा कुटीर उद्योग धन्धों का सिद्धान्त राष्ट्रीय प्रगति को अवरुद्ध करता है।

आज विदेशी व्यापार इन उद्योगों की बजाय भारी पैमाने के उद्योगों पर आधारित है।

2. गांधी जी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त अव्यावहारिक व असंगत है। एक तरफ तो गांधी जी उद्योगों के केन्द्रीकरण को आर्थिक विषमता का कारण मानते थे और दूसरी तरफ पूंजीपतियों द्वारा अधिक पूंजी या धन का प्रयोग नए उद्योग लगाने के लिए करने के लिए प्रेरणा देते हैं। कोई भी उद्योगपति अपने परिश्रम से कमाए गए धन का प्रयोग समाज हित के कार्यों में करना क्यों पसंद करेगा।

3. गांधी जी ने प्रतिनिधि लोकतन्त्र की आलोचना तो की है लेकिन शुद्ध लोकतन्त्र की स्थापना के लिए व्यक्तियों में गुण पैदा करने का उपाय नहीं बताया है।

4. गांधी जी की वर्ण–व्यवस्था आधुनिक ढंग में प्रासंगिक नहीं हो सकती। आज ग्रामीण क्षेत्र में जांति–पांति के बन्धन ढीले होते जा रहे हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति वही कार्य करने लगे, जो उसके पूर्वजों ने किया है, तो सामाजिक प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो जाएगा।

5. गांधी जी ने व्यक्ति के जीवन के नैतिक पक्ष को ही उजागर किया है, उसने भौतिक पक्ष की अवहेलना की है।

6. गांधी जी का रामराज्य एक कल्पना मात्र ही है, इसे व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सकता। आज राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां इसके प्रतिकूल हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि गांधी जी का आदर्श राज्य सभी सिद्धान्त अव्यावहारिक व असंगत है तथा मात्र कपोल कल्पना है। लेकिन यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को नैतिक मापदण्डों के अनुसार ढालने का प्रयास करे तो समूचे समाज से शोषण व अन्याय की समाप्ति सम्भव हो सकती है। यदि गांधी जी की तरह सत्य, अहिंसा तथा प्रेम के गुणों को सामाजिक व्यवहार का आधार बना लिया जाए तो समाज में जो व्यापक परिवर्तन देखने को मिलेंगे, उनमें से पहला होगा–आदर्श समाज की स्थापना या रामराज्य की स्थापना। इससे समाज का स्वरूप आध्यात्मिक लोकतन्त्र पर आधारित होगा और भ्रष्टाचार जैसे तत्व स्वतः ही समाप्त हो जाएंगे। गांधी जी ने कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देने का जो विचार दिया है, उसे ग्रामीण समुदाय का सर्वांगीण विकास होगा। इससे सामाजिक व राजनीतिक क्षेत्र में गहरे परिवर्तन होंगे। सामाजिक विषमता एक कल्पना की वस्तु बनकर रह जाएगी। राज्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करने वाला साधन बनकर कार्य करेगा और आदर्शवादी समाज की अन्तिम अवस्था में उसका स्वतः लोप हो जाएगा।

सर्वोदय की अवधारणा
(Concept of Sarvodaya)

सत्य व अहंसा की साक्षात मूर्ति महात्मा गांधी भारत के ही नहीं, बल्कि सारे संसार के व्यक्ति थे। उनके हृदय में समस्त मानव जाति के प्रति असीम श्रद्धा का भाव था। वे एक ऐसे कर्मयोगी थे जो कथनी और करनी को बराबर महत्व देते थे। वे किसी एक धर्म, जाति, देश व समुदाय के कल्याण के पक्षपाती न होकर सम्पूर्ण विश्व में मानव जाति के कल्याण व उत्थान का स्वप्न देखते थे। उनकी यह दूरदर्शी सोच थी कि भारत के स्वतन्त्र होने पर भरतीय समाज की सामाजिक व आर्थिक बुराईयों का अन्त करना उनकी प्राथमिकता होगी। भारतीय स्वतन्त्रता का स्वप्न तो गांधी जी के जीवनकाल में साकार हो गया लेकिन सम्पूर्ण जाति का कल्याणकरने की उनकी इच्छा अधूरी रह गई।

सर्वोदय के विचार का जन्म
(Origin of the idea of Sarvodaya)

'सर्वे भवन्तु सुखनिः' भारतीय दर्शन का आधार है। इसी बात में सर्वोदय का विचार छिपा हुआ है। भारतीय चिन्तकों ने सर्वदा वर्ग विशेष के कल्याण की बात न करके सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण की बात कही है, गांधी जी के मन में यह विचार रस्किन की प्रसिद्ध पुस्तक 'Unto this Last' पढ़ने के बाद आया और उसने अपने मन में सब के कल्याण की बात बिठा ली। गांधी जी ने स्वयं स्वीकार किया है–"अन्टु दिस लास्ट' पुस्तक पढ़कर मैं जितना अधिक प्रभावित हुआ, उतना पहले कभी नहीं हुआ। जब मैंने ट्रेन में यह पुस्तक सारी पढ़ ली तो घर गया तो मुझे नींद नहीं आई और मैंने इसके विचार जीवन में धारण करने का मन बनाया।" इससे स्पष्ट है कि गांधी जी के मन में सर्वोदय के विचार का जन्म रस्किन की प्रसिद्ध पुस्तक 'Unto this Last' का परिणाम है। रस्किन की इस पुस्तक का उद्देश्य अथवा सार सब का कल्याण है। इसी तरह गांधी जी ने अपने जीवन में सब का कल्याण करने की बात जिसे सर्वोदय का नाम दिया जाता है।

सर्वोदय का अर्थ
(Meaning of Sarvodaya)

सर्वोदय की अवधारणा गांधी जी ने रस्किन से ली है। रस्किन के दर्शन का मुख्य उद्देश्य सबका उदय है। इसी तरह गांधी जी ने 'सर्वोदय' शब्द का प्रयोग भी समाज के हर वर्ग के कल्याण के लिए किया है। सर्वोदय का शाब्दिक अर्थ है–सबका उदय। गांधी जी साम्यवादियों के उस विचार का खण्डन किया है, जो निर्धन वर्ग का कल्याण करने की बात करता है। इस दष्टि से गांधी जी की सर्वोदय की अवधारणा अन्य सभी विचारकों से महान है। गांधी जी का ध्येय अमीर और गरीब दोनों का कल्याण करना है। विनोबा जी ने गांधी जी के 'सर्वोदय' के बारे में कहा है–"सर्वोदय समाज कुछ लोगों का या बहुत लोगों का या अधिकांश लोगों का उदय नहीं चाहता। हम ऊंचे, नीचे, सबल–निर्बल, विद्वान–मूर्ख सभी के हित से ही सन्तुष्ट हो सकते हैं।" धनी लोगों के उत्थान पर बोलते हुए विनोबा जी ने कहा है–"धनी लोग पहले ही गिरे हुए हैं, और निर्धन कभी उठे ही नहीं हैं। इसलिए धनी वर्ग को नैतिक या आध्यात्मिक दष्टि से ऊपर उठाना है ताकि वे आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का समाज के शोषित वर्गों के लिए परित्याग कर सकें।" समस्त विश्व में सबका उदय सर्वोदय का सर्वोच्च आदर्श है। इस प्रकार गांधी जी की विचारधारा के अनुसार सर्वोदय समाज के हर वर्ग का उदय का विचार है। यह गतिशील धारणा है जो किसी वर्ग, जाति, देश तक ही सीमित नहीं है। यह सार्वभौमिक व सार्वकालिक अवधारणा के रूप में समस्त विश्व का कल्याण चाहती है।

सर्वोदय के आधार
(Bases of Sarvodaya)

गांधी जी का कहना है कि यदि हम जीवन में कुछ बातें अपना लें तो सबको समान अवसर प्राप्त हो सकते हैं अर्थात् सबका कल्याण हो सकता है। लेकिन किसी व्यक्ति को दबाव डालकर सर्वोदय की विचारधारा से जोड़ना अन्याय है। सर्वोदय का विचार स्वतः प्रेरित होता है। इसी से सर्वोदय का लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। सर्वोदय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं–

1. ***इन्द्रिय निग्रह***–गांधी जी ने सदैव आत्म–संयम पर जोर दिया। उनका विचार था कि यदि व्यक्ति स्वयं अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखे या संयमपूर्वक जीवन बिताए तो

समाज के अनेक दोष दूर हो सकते हैं। विनोबा जी ने गांधी जी के विचार का समर्थन करते हुए कहा है–"सर्वोदय विचार में मुख्य बात यह है कि हमें अपने मन को वश में रखना चाहिए, इन्द्रियों को काबू में रखना चाहिए।"

2. ***नए समाज की रचना***–गांधी जी का मानना था कि वर्तमान समाज अन्यायपूर्ण सम्बन्धों पर आधारित है। समाज तरह–तरह के सामाजिक व आर्थिक दोष हैं। व्यक्तियों के हित परस्पर विरोधी हैं। यदि इन दोषों को दूर किया जाए या शोषणमुक्त समाज की जगह शोषणयुक्त नए समाज की रचना कर दी जाए तो सर्वोदय का लक्ष्य प्राप्त हो सकता है।

3. ***विश्व समाज की स्थापना***–गांधी जी का मानना था कि वर्तमान समय में प्रत्येक देश और प्रत्येक व्यक्ति संकीर्ण स्वार्थपूर्ण सम्बन्धों के आधार पर कार्य कर रहे हैं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संघर्ष व विरोध है। यदि एक विश्व समाज की स्थापना का प्रयास किया जाए तो सर्वोदय का लक्ष्य प्रभावी हो सकता है।

4. ***राज्य की समाप्ति***–गांधी जी का विचार था कि राज्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास में सबसे बड़ी बाधा है। यह विभिन्न वर्गों व समुदायों में वर्ग–भेद को बढ़ावा देता है। यदि राज्य को समाप्त कर दिया जाए तो शोषण मुक्त समाज क्या रामराज्य की स्थापना हो सकती है। इस विचार द्वारा गांधी जी अंग्रेजों की 'फूट डालो राज करो' की नीति की निन्दा की है। गांधी जी का मानना है कि राज्य इस प्रकार की नीतियों के सहारे अपना अस्तित्व बनाए हुए है। इससे समाज के हितों को गहरा आघात पहुंचता है। समाज में विरोधी गुटों का जन्म होता है और विघटन को बढ़ावा मिलता है। राज्य व सरकार की समाप्ति से ही सर्वोदय का विचार प्रभावी हो सकता है।

सर्वोदय की विचारधारा की विशेषताएं
(Features of the Concept of Sarvodaya)

गांधी जी के सर्वोदय के विचार का अध्ययन करने पर इनकी निम्नलिखित विशेषताएं दष्टिगोचर होती है–

1. ***स्वराज्य प्राप्ति का साधन***–गांधी जी स्वराज्य प्राप्ति के लिए सर्वोदय को प्रमुख साधन माना है। उनका कहना है कि सत्य, प्रेम, दया, अहिंसा, व्रत, सच्ची लगन और निःस्वार्थ भावना से सर्वोदय समाज का जन्म होगा और इसी से स्वराज्य का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा।

2. ***ग्राम स्वावलम्बन***–गांधी जी का कहना है कि सर्वोदय विचारधारा का मूल लक्ष्य आत्मनिर्भर ग्रामों की स्थापना करना है। गांव में कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देकर लाखों को रोजी–रोटी की प्राप्ति होगी। कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए ग्रामीण स्तर पर ही प्रयास तेज किए जाएंगे। गांधी जी ने कहा है–"सर्वोदय समाज आपसी सहयोग पर आधारित पंचायतों का संघ होगा। पंचायतें हर तरह से सक्षम व शक्तिशाली होगी।" गांधी जी ने आगे कहा है कि "सर्वोदय समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपना पुश्तैनी धन्धा अपनाएगा और इससे अनुचित प्रतियोगिता का अन्त होगा।" इस तरह गांधी जी ने गांवों को स्वावलम्बी व विकास के रास्ते पर लाने के लिए सर्वोदय का विचार पेश किया है।

3. ***विकेन्द्रीकरण पर बल***–गांधी जी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे। इसके लिए वे आर्थिक व राजनीतिक सर्वोदय का विचार विकेन्द्रीकरण करने के पक्ष में थे। इसलिए सर्वोदय का विचार ऐसे केन्द्रीकृत समाज की रचना करने पर जोर देता है, जिसमें वर्ग विभेद समाप्त हो और सभी व्यक्ति निर्बाध रूप में आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक उन्नति कर सकें। सर्वोदयी विचारधारा का मानना है कि कोई सत्ता जितनी केन्द्रीकृत होती है, उतनी ही अधिक भ्रष्ट होती है। इसलिए सर्वोदयी विचारधारा ने समाज से अन्याय व शोषण को समाप्त करने के लिए आर्थिक व राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का सुझाव दिया है। गांधी जी ने कहा है–"यदि सर्वोदय को सफल बनाना है तो अहिंसात्मक तरीके से विकेन्द्रीकरण करना होगा।" इससे स्पष्ट है कि गांधी जी ने सारी शक्तियां व अधिकार पंचायतों को हस्तांतरित करने पर जोर दिया है। आर्थिक क्षेत्र में कुटीर उद्योगों को महत्व दिया है इससे ही सर्वोदय की प्राप्ति हो सकती है।

4. ***आर्थिक समानता की स्थापना***–गांधी जी का मानना है कि समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता ही समाज के अनेक दोषों का कारण है। इसलिए उन्होंने ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त द्वारा इस समस्या का समाधान करने का सुझाव दिया है। गांधी जी का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति आवश्यकता से अधिक वस्तुएं या सम्पत्ति कर स्वामी न समझकर उसका संरक्षक समझे। गांधी जी का विचार है कि फालतू धन के हस्तांतरण के बिना आर्थिक विषमता को कम नहीं किया जा सकता, इसलिए सवोदय का लक्ष्य आर्थिक विषमता समाप्त करके समाजवाद का लक्ष्य प्राप्त करना है।

5. ***आत्मिक सर्वोच्चता***–सर्वोदयी विचारधारा में आत्मा की सर्वोच्चता पर बल दिया जाता है। गांधी जी का विश्वास था कि समाज की समस्त समस्याओं का कारण आध्यात्मवाद से विश्वास का हटना है। सर्वोदय आन्दोलन का प्रमुख लक्ष्य सभी की आत्मिक शक्ति का विकास करना है। गरीबों की सेवा या परोपकार से आत्मिक शक्ति का विकास होता है। इस तरह सर्वोदय का विचार आध्यात्मिक शक्ति का विकास करता है।

6. ***अहिंसा पर बल***–गांधी जी का मानना था कि अहिंसा के बिना कोई भी आन्दोलन सफल नहीं हो सकता। हिसा पर आधारित शक्ति अस्थायी व क्षणिक होती है। गांधी जी ने अहिंसा की शक्ति के बारे मे लिखा है–"अहिंसा की शक्ति बिजली से भी तेज और ईथर से अधिक शक्तिशाली है। बड़ी से बड़ी अहिंसा का सामना अहिंसा से सम्भव है।" इस प्रकार अहिंसा के बिना सर्वोदय की स्थापना भी नहीं हो सकती। अहिंसक साधन ही सर्वोदय के विचार को चिरस्थाई बना सकते हैं। अतः सर्वोदय का विचार अहिंसा के सिद्धान्त पर आधारित है।

7. ***सर्वोदय राज्य व दल विहीन समाज की स्थापना का पक्षधर है***–गांधी जी राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते थे। उन्होंने राज्य को आत्मा रहित मशीन की संज्ञा दी है। राज्य शोषण का ऐसा यन्त्र है, जो गरीबों को अधिक पीसता है। यह संगठित तथा एकत्रित हिंसा का प्रतिनिधि है। इसी तरह राजनीतिक दल भी समाज को वर्गों में विभाजित कर देते हैं और समाज की एकता नष्ट हो जाती है। इसलिए राज्य रूपी शोषण की संस्था और समाज की एकता को नष्ट करने वाले दलों की समाप्ति से ही सर्वोदय समाज की स्थापना हो सकती है। सर्वोदय समाज की एकता को नष्ट करने वाले दलों की समाप्ति से ही सर्वोदय समाज की स्थापना हो सकती है। सर्वोदय समाज में राज्य व दलों का कोई महत्व नहीं होगा।

8. ***नैतिकता पर आधारित***–गांधी जी का मानना है कि नैतिकता के आदर्श को प्राप्त किए बिना सर्वोदयी समाज की स्थापना सम्भव नहीं है। वर्तमान सभी समस्याएं नैतिक समस्याओं पर आधारित हैं और उनका समाधान भी नैतिक साधनों द्वारा सम्भव है। इसलिए सर्वोदय का विचार नैतिक साधनों के अभाव में सफल नहीं हो सकता। जब तक व्यक्ति का नैतिक विकास न किया जा सकेगा, तब तक सर्वोदयी समाज की स्थापना नहीं हो सकती।

9. ***समानता व स्वतन्त्रता पर बल***–गांधी जी ने समानता को सर्वोदय का आधार माना है। समानता के बिना सर्वोदय की स्थापना नहीं हो सकती। जब सभी व्यक्तियों को समान पनपने के अवसर प्राप्त होंगे तो उनका सर्वोदय होगा। इसी प्रकार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अभाव में भी व्यक्ति का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता। सर्वोदय समानता व सबको स्वतन्त्रा प्राप्त होने के बाद ही प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार गांधी जी का सर्वोदय का विचार समानता व स्वतन्त्रता के अधिकार पर आधारित है।

सर्वोदय के साधन
(Means of Sarvodaya)

गांधी जी के विचारों के आधार पर उसके अनुयायियों विनोबा भावे तथा काका कालेलकर ने सर्वोदय की स्थापना के निम्नलिखित तरीके बताए हैं–

1. ***आत्म-संयम***–गांधी जी का कहना है कि यदि हम अपनी इच्छाओं पर काबू पा लें तो गरीब लोगों के लिए भी कुछ बच सकता है। विनोबा भावे ने कहा है–"हमें अपने विचार और जीभ पर काबू रखना चाहिए। हम भोग करें लेकिन अति से बचें।" इसके लिए लोगों को आध्यात्म व योग की शिक्षा दी जानी चाहिए ताकि वे इन्द्रिय–विग्रह के आदि हो जाएं और दूसरों के बारे में भी सोचें।

2. ***हृदय परिवर्तन***–गांधी जी का कहना है कि अहिंसात्मक साधनों द्वारा अमीरों को गरीबी की सहायता करने के लिए मनाना चाहिए। इससे शोषण की समाप्ति होगी और समाजिक व आर्थिक विषमताओं का अन्त होगा। इसके लिए किसी प्रकार का दबाव नहीं डालना चाहिए। स्वेच्छा से किया गया समाज हित का कार्य ही सर्वोदय प्राप्ति में सहायता पहुंचा सकता है।

3. ***भू-दान आन्दोलन***–गांधी जी का कहना था कि अतिरिक्त सम्पत्ति को गरीबों में बांटने या समाज हित में लगा देने से सामाजिक विषमता का अन्त होता है। उस विचार को आगे बढ़ाते हुए विनोबा जी ने भू–दान आन्दोलन का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि जिस व्यक्ति के पास फालतू या आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति है तो उसे स्वेच्छा से गरीबों को या भूमिहीनों को दान कर देना चाहिए। इससे गरीबों की सामाजिक उन्नति के अवसर प्राप्त होंगे और सारे सामाजिक दोष समाप्त हो जाएंगे।

4. ***ट्रस्टीशिप व्यवस्था***–गांधी जी का विचार था कि जिन लोगों के पास फालतू सम्पत्ति है, वे उस सम्पत्ति को समाज की धरोहर समझकर उसकी रक्षा करें, स्वयं को उसके स्वामी न समझे। वे लोग अपनी सम्पत्ति के कुछ अंश स्वेच्छा से गरीबों को दान भी कर सकते हैं।

5. ***राज्य व सरकार का अन्त***–गांधी जी का मानना था कि राज्य और सरकार व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में बांधा पहुंचाते हैं। इनका अन्त करके ही सर्वोदय का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

6. ***ग्राम दान आन्दोलन***–गांधी जी ने सर्वोदय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ग्राम दान का सुझाव दिया था। इस विचार को विनोबा जी ने आगे बढ़ाते हुए कहा है कि सब लोग अपनी–अपनी भूमि ग्राम समाज को दान कर दें और जब भूमि पर खेती हो, वह ग्राम समाज के नियन्त्रण में हो। प्रत्येक योग्यतानुसार कार्य करें और उसे योग्यतानुसार ही प्राप्त हो। इससे सम्पूर्ण ग्राम एक परिवार का रूप ले लेगा और सर्वोदय का लक्ष्य प्राप्त होगा।

इस प्रकार गांधीजी व उसके अनुयायियों ने सर्वोदय के विचार का पोषण किया है। उन्होंने समाज के प्रत्येक वर्ग के उत्थान के लिए कार्य करने पर जोर दिया है ताकि सर्वोदय की प्राप्ति हो सके। लेकिन फिर भी सर्वोदयी विचारधारा यथार्थवादी स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकी। आज का युग प्रतियोगिता का युग है इसमें सर्वोदय को प्राप्त करना कठिन है। सर्वोदय समाज की हर समस्या का समाधान नहीं कर सकता। गांधी जी ने सर्वोदय को प्राप्त करने के तरीकों के बारे में ज्यादा कुछ नहीं कहा है, भू–दान तथा ग्रामदान जैसे उपाय उसके परवर्ती विचारकों द्वारा शामिल किए गए हैं। लेकिन इतना होने के बावजूद भी गांधी जी के सर्वोदय के विचार को समय–समय पर महत्व दिया जाता रहा है। 73वें संविधान संशोधन में भी पंचायती राज संस्थाओं को महत्व दिया गया है। उनके अहिंसा सम्बन्धी विचारों पर आधारित होने के कारण सर्वोदय का विचार काफी प्रासांगिक है। आज विश्व संकीर्ण राष्ट्रीयताओं का शिकार है। विश्व शान्ति के लिए गांधी जी के सर्वोदय के विचार की सार्वभौमिकता आज अधिक व्यावहारिक लगती हैं अतः गांधी जी के सर्वोदय सम्बन्धी विचारों का परमाणु युग में भी विशेष महत्व है।

आधुनिक समय में गांधी की प्रासांगिकता
(Gandhi's Relevance Modern Times)

गांधी जी का जीवन दर्शन एक कर्मयोगी व व्यावहारिक राजनीति का है। यद्यपि उन्होंने किसी क्रमबद्ध सिद्धान्त या दर्शन का प्रतिपादन नहीं किया, लेकिन उनके विचार विश्व शान्ति के लिए प्रकश स्तम्भ है। उनका राजनीतिक चिन्तन उदारवाद और मानवतावाद पर आधारित होने के कारण सर्वहारा वर्ग के हितों का पोषक है। उनका राजनीति का आध्यात्मीकरण करने का विचार आज की राजनीतिक समस्याओं का समाधान करने व राजनीति को जनकल्याण का साधन बनाने के लिए बहुत महत्वपूर्ण देन है। उनका सर्वोदय तथा अहिंसा का सिद्धान्त विश्व–बन्धुत्व की भावना को बढ़ावा देने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में मधुरता पैदा करने का अचूक शस्त्र है, इतना होने के बावजूद भी शांति के पुजारी तथा आध्यात्मिक के अग्रदूत व प्रणेता महात्मा गांधी के विचारों को अनेक राजनीतिक विचारक अव्यावहारिक व अप्रासांगिक मानते हैं। उनका कहना है कि गांधी जी के सिद्धान्त आदर्श मात्र हैं, व्यावहारिक नहीं।

उनका सत्य व अहिंसा का सिद्धान्त निस्सन्देह मूल्यवान व महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। परन्तु अब प्रश्न यह पैदा होता है कि आज के आणविक युग में इसकी क्या प्रासांगिकता है। आज प्रत्येक राष्ट्र अपने को सामरिक दष्टि से सुरक्षित देखना चाहता है। दो विश्व युद्धों ने मानव को आतंक व भय के वातावरण में जीने के लिए जिस कद्र बाध्य किया है, उससे राष्ट्रीय सीमाओं की सुरक्षा आवश्यक व महत्वपूर्ण राष्ट्रीय हित का लक्ष्य बन गया है। इसलिए व्यवहार में इस सिद्धान्त को लागू करना असम्भव है। कोई भी देश अहिंसा के सिद्धान्त के सहारे अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा को नहीं छोड़ सकता। इसी तरह उनका रामराज्य का स्वप्न भी मात्र कपोल कल्पना है। कुटीर उद्योग वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रतिस्पर्धा के अनुकूल नहीं हो सकते। आज का युग विज्ञान का युग नए–नए आविष्कारों ने औद्योगिक प्रणाली को पूरी तरह यन्त्रचालित बना दिया है। गांधी जी ने औद्योगिक क्षेत्र की जटिलताओं की तरफ ध्यान न देकर अव्यावहारिक

होने का ही परिचय दिया है। भारत पर हुए पाकिस्तान व चीनी हमलों ने भारत की शांतिप्रिय व अहिंसावादी नीति की जो मिट्टी पलीत की है, वह सर्वविदित है। आज भारत की शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति का जो करारा जवाब पाकिस्तान दे रहा है, उसके गांधी जीके अहिंसावादी सिद्धान्त की धज्जियां उड़ती प्रतीत होती हैं। इसलिए आज के वैज्ञानिक युग में जब चांद सितारों पर पहुंचने की होड़ लग रही हो तो सत्याग्रह और अहिंसा का सिद्धान्त निरर्थक है। आज अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद का मुकाबला अहिंसा के सिद्धान्त के सहारे नहीं किया जा सकता। अतः आलोचकों की बात सही है कि गांधी जी के विचार आधुनिक समय में अप्रासांगित व अव्यवहारिक है।

यद्यपि गांधी जी के सिद्धान्त वर्तमान समय में अव्यावहारिक लगते हैं, लेकिन गांधी जी ने अपने सिद्धान्तों में सत्य, प्रेम और उदारता के जो नियम बताएं हैं, वे शाश्वत् महत्व रखते हैं। यह सत्य है कि आज के वैज्ञानिक युग में आणविक शस्त्रों की छत्र–छाया में शांति के गांधी जी द्वारा बताए गए उपाय निरर्थक मालूम होते हैं। लेकिन यदि मानतवा को तीसरे विश्व युद्ध के विनाश से बचाना है, तो गांधी जी के सिद्धान्तों को महत्व देना होगा। आज सभी देश महसूस करते हैं कि विश्व के सामने गांधी जी के शान्ति मॉडल के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय शेष नहीं है। यदि तीसरा विश्व युद्ध होता है तो सम्पूर्ण मानवता नष्ट होने के कगार पर पहुंच जाएगा। इस धरती से मानव सभ्यता का अस्तित्व ही लगभग समाप्त हो जाएगा। इसलिए आज यह आवश्यक है कि गांधी जी के सिद्धान्तों को अपनाया जाए। प्रसिद्ध राजनीति शास्त्री गोपीनाथ धवन का कहना है–"युद्धवाद के पागलपन, आर्थिक और राजनैतिक केन्द्रीकरण और शान्तिप्रियता ने यह अनुभव करा दिया है कि हम गांधी जी के गत्यात्मक सत्यों को समझें।" आज तीसरे विश्व युद्ध की भ्यावह आशंका में सांस लेती मानवता और युद्ध के खतरों से घिरा हुआ समकालीन विश्व अपने भविष्य से लगातार आतंकित है। नाभिकीय युद्ध के परिणामों और विनाश के वैज्ञानिक निष्कर्ष उसकी विनाश की आशंका को पक्का कर रहे हैं। आज दुनिया बारुद के जिस ढेर पर बैठी हुई है और एक छोटी सी चिंगारी उसका विनाश करने के लिए पर्याप्त है। इसलिए आज गांधी जी के सिद्धान्तों को अपनाने का समय आ गया है। यदि आज विज्ञान हिंसा का साधन बन गया तो मानव सभ्यता की रक्षा करना असम्भव होगा। यदि हमें जीवित रहना है और नए संसार की रचना करनी है तो मानवता के भले के लिए हमें अहिंसात्मक उपायों का ही सहारा लेना पड़ेगा। अहिंसात्मक साधनों का प्रयोग करने से ही सर्वोदय समाज की स्थापना हो सकेगी और विश्व में बढ़ रही आर्थिक विषमता का भी अन्त हो जाएगा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गाधी जी के विचार जितने प्रासांगिक व व्यावहारिक 1947 से पहले व 1947 में थे, आज भी बन सकते हैं, यदि उनको सच्चे ह्रदय से जीवन में उतारा जाए। आज विश्व में हो रहे निःशस्त्रीकरण के उपाय गांधी जी के शान्ति विचारों के ही पर्यायवाची हैं। अतः गांधी जी के विचार आधुनिक युग में भी प्रासंगिक होने के साथ–साथ काफी महत्वपूर्ण व शाश्वत् महत्व के हैं।

अध्याय-7: अरबिन्द घोष (Aurobindo Ghosh)

परिचय (Introduction)

भारतीय सभ्यता और संस्कृति के मसीहा अरबिन्द घोष एक महान देशभक्त, विद्वान, उच्च कोटि के राजनीतिक व सामाजिक दार्शनिक थे। उन्होंने बीसवीं सदी के प्रारम्भ में अपनी बौद्धिक प्रतिभा और आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा भारतीय राष्ट्रवाद को नई दिशा दी, भारतीय संस्कृति की महानता का गुणगान किया और क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद को आध्यात्मिकता की पष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित किया। उनकी समस्त रचनाएं भारत की नवीन और उदीयमान आत्मा का घनीभूत सार है और उनमें मानव जाति के लिए आध्यातिमक सन्देश निहित है, उनका महाकाव्य सावित्री आध्यात्मिक काव्य के क्षेत्र में एक नए युग का सूचक है और आध्यात्मिक मनीषियों के लिए प्रेरणा का स्रोत है। फ्रेडरिक स्पलजबर्ग ने उन्हें इस वसुन्धरा का मार्गदर्शन नक्षत्र और इस युग का पैगम्बर कहा है। रोम्या रोलां ने उन्हें भारतीय विचारकों का सम्राट कहा है। रविन्द्र नाथ टैगोर ने उनके बारे में कहा है कि "यह भारत की अवतारवादिता की स्वतन्त्र आवाज थी। उन्होंने बहुत ही कम समय में राजनीतिक चिन्तन के क्षितिज में जो उपलब्धि हासिल की, वह वास्तव में प्रशंसनीय है। उनके चिन्तन ने भारतीय राजनीतिक दर्शन में जो स्थान बनाया है, वह अपने आप में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। सार रूप में कहा जाए तो अरबिन्द घोष अपने आप में एक महत्वपूर्ण आध्यात्मिक संस्था व राष्ट्रवाद के अग्रदूत थे। आज भी उनका नाम भारतीय आध्यात्म के क्षेत्र में सम्मान से लिया जाता है। राष्ट्रवाद की जो गहरी भावना उनमें थी, अन्यत्र दुर्लभ है। भारत की आत्मा का जो ज्ञान उन्हें था, वह विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती, गांधी जैसे महापुरुषों को भी नहीं था। इसलिए अरबिन्द जी राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण हस्ती हैं।

जीवन परिचय (Life Sketch)

राष्ट्रवाद के प्रबल समर्थक व राष्ट्रीय आन्दोलन के सक्रिय कार्यकर्ता अरबिन्द घोष का जन्म 15 अगस्त, 1872 ई० को कलकत्ता में हुआ। उनके पिता डॉ० कृष्णधन घोष एक सफल चिकित्सक थे और उन पर पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति का प्रभाव कुछ ज्यादा ही था। इसलिए उन्होंने अरबिन्द घोष को भारतीय सभ्यता से दूर रखने के लिए दार्जिलिंग के लोरेंटो कॉन्वेट स्कूल में प्रवेश दिला दिया। दो वर्ष बाद इन्हें इनके अन्य दो भाईयों सहित ब्रिटेन भेज दिया, वहां पर वे 1879 से 1893 तक रहे। इस दौरान उन्होंने अंग्रेजी का गूढ़ ज्ञान प्राप्त किया और फ्रेंच, ग्रीक, जर्मन तथा लैटिन भाषा भी सीख ली। लेकिन अरबिन्द जी ने सिविल सर्विस की बजाय भारतीय स्वतन्त्रता के लिए कार्य करने का मन बनाया। यदि वे चाहते थे तो भारतीय प्रशासनिक सेवा में जा सकते थे, लेकिन उन्होंने भारतमाता की सेवा को अपने जीवन का लक्ष्य

बनाया। इस तरह उनका लालन–पालन तो पाश्चात्य संस्कृति में होता रहा, लेकिन उनके भीतर भारतीय संस्कृति के तत्व उभरते रहे और आगे चलकर अरबिन्द जी राष्ट्रवाद के अग्रदूत व भारतीय आध्यात्मवाद के महान पुजारी सिद्ध हुए।

1893 में इंग्लैण्ड से वापिस लौटकर उन्होंने बड़ौदा रियासत के नरेश स्याजीराव से मुलाकात की। नरेश ने उनकी योग्यता से प्रभावित होकर अपनी रियासत में नौकरी की पेशकश की। अरबिन्द जी ने पेशकश स्वीकार कर ली। उन्होंने रियासत में स्थायी बन्दोबस्त विभाग, स्टाम्प तथा राजस्व विभाग में कार्य किया। कुछ समय तक वे राजा के निजी सचिव भी रहे। बाद में उन्होंने राजा की नौकरी छोड़ दी और बड़ौदा कॉले में फ्रेंच भाषा के प्रोफेसर बन गए और वहीं पर अंग्रेजी भाषा के प्रोफेसर तथा कॉलेज के वाईस प्रिंसिपल भी रहे। इस दौरान उन्होंने प्राचीन भारतीय साहित्य, धर्म और दर्शन का गहरा अध्ययन किया और रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द के साहित्य का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इससे उनके दिल से पाश्चात्य संस्कृति की सारी छाप हट गई और उनका मानस पटल भारतीयता के रंग में पूरी तरह रंग गया, इस दौरान उन्होंने 'इन्दू प्रकाश' पत्रिका के लिए गुप्त लेख लिखे और ये लेख 'न्यू लैम्स फोर ओल्ड' (New Lamps for Old) शीर्षक से प्रकाशित हुए। इन लेखों में उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की उदारवादी नीतियों की आलोचना की ओर उग्र राष्ट्रवाद का समर्थन किया। लेकिन उसके लेखों पर आपत्ति उठाई जाने लगी कि उन्हें ऐसे लेख छापने से परहेज करना चाहिए जो उग्रवाद को बढ़ावा देने वाले हों। इसी दौरान 1905 में बंगाल का विभाजन हो गया और उन्होंने बड़ौदा नरेश की सेवा का त्याग कर दिया तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने लग गए।

अरबिन्द ने बंगाल के विभाजन की घटना का पूरा लाभ उठाया और उन्हें बंगाल में 'नवगठित राष्ट्रीय महाविद्यालय' के प्राचार्य का पद संभाला। इसी समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में लाल–बाल–पाल का वर्चस्व बढ़ने लगा और स्वराज्य सम्बन्धी प्रस्ताव को कांग्रेस ने हरी झण्डी दे दी। इससे उदारवादी नेता चिन्तित हुए और उन्होंने उग्रवादियों को कांग्रेस से बाहर निकालने की योजना बनाई। 1907 के सूरत के कांग्रेस अधिवेशन में उदारवादियों व उग्रवादियों में झगड़ा हो गया और उग्रवादियों ने कांग्रेस छोड़ दी। सरकर ने उग्र राष्ट्रवादियों को कुचलने के लिए दमन की नीति का प्रयोग किया। विपिनचन्द्र पाल और लाला लाजपत राय ब्रिटिश सरकार की दमन की नीति के शिकार हुए और तिलक को देश निकाला दिया गया। इसलिए अरबिन्द जी ने स्वयं को अकेला महसूस किया। कुछ समय बाद उनके भाई वरिन्द्र कुमार घोष को मुजफ्फरपुर के जिलाधीश को मारने के आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया और कुछ समय बाद अरबिन्द घोष को भी देश विरोधी गतिविधियों के तहत अलीपुर जेल में डाल दिया गया। जेल में एक वर्ष रहने के बाद वे बाहर आए तो उनकी सोच बदल चुकी थी, उन्होंने जेल में ही भगवद्गीता पढ़ ली थी। अब उन्होंने आने वाली हर विपत्ति से बचने के लिए ब्रिटिश भारत को छोड़ने का निर्णय किया और 4 अप्रैल, 1910 को पांडिचेरी चले गए जो अंग्रेजी शासन के प्रभाव से मुक्त था।

इसके बाद उनके जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। उन्होंने योग और अध्यात्मवाद का प्रचार करना शुरू कर दिया। अब वे राजनीति से पूर्ण रूप से संन्यास ले चुके थे। अब उन्होंने राजनीतिक पत्र व्यवहार भी बन्द कर दिया और साधना के प्रति उनका लगाव बढ़ता ही चला गया, उन्होंने पांडिचेरी में एक आश्रम की स्थापना की और योग व आध्यातिमक शक्ति के द्वारा भारत की स्वतन्त्रता के लिए काम करते रहे। यह आश्रम जल्दी ही विश्व के दार्शनिकों और आध्यात्मिक रुचि रखने वालों के आकर्षण का केन्द्र बन गया। उनकी सोच थी कि आध्यात्मिकता के कारण ही भारतवर्ष में मानवता का प्रसार हो सकता है और भारत की स्वतन्त्रता का लक्ष्य

योग द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इस तरह उन्होंने पांडिचेरी में रहकर आध्यात्मिक शक्ति व योग के आधार पर भारत की स्वतन्त्रता को प्रापत करने के लिए एक महान व पुनित कार्य किया। लेकिन दुर्भाग्यवश 5 दिसम्बर, 1950 को इस प्रकाण्ड विद्वान, महान दार्शनिक तथा आध्यात्मिक शक्ति व योग के पुजारी का निधन हो गया। लेकिन उनकी मत्यु के बाद भी उनका चिन्तन भारतीय चिन्तन के क्षितिज पर ध्रुव तारे की भांति दैदीप्यमान हो रहा है।

महत्वपूर्ण रचनाएं
(Important Works)

अरबिन्द ने पाण्डिचेरी में एक तपस्वी और योगी का जीवन व्यतीत किया और वहां पर एक आश्रम खोलकर आध्यात्म व योग की शिक्षा दी। इसी स्थान पर उन्होंने अनेक महान ग्रन्थों की रचना की। उनकी प्रमुख रचनाएं निम्नलिखित हैं–

I. दिव्य जीवन (The life of Divine)

II. गीता रहस्य (The Essays on Geeta)

III. योग समन्वय (The Synthesis of Yoga)

IV. मानव चक्र (The Human Cycle)

V. मानव एकता के आदर्श (The Ideal of Human Unity)

VI. योग के आधार (The Bases of Yoga)

VII. भारतीय संस्कृति के आधार (A Foundation of Indian Culture)

VIII. सावित्री (Savitri)

IX. विश्व एक पहेली (The Ridde of the World)

X. भारतीय संस्कृति की रक्षा (A Defence of Indian Culture)

इन रचनाओं में 'Savitri' एक काव्य ग्रन्थ है। उनके ग्रन्थ 'The Life Divine' ने प्रकाशन के समय संसार के प्रमुख विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया था। उनका सावित्री ग्रन्थ एक नए युग का प्रवर्तक है। इसी प्रकार उन्होंने इन्दु प्रकाश पत्रिका में लेख–माला–'New Lamps for Old', दो साप्ताहिक पत्र 'कर्मयोगी' और 'धर्म' तथा 'वन्दे–मातरम्' पत्रिका का सम्पादन आदि में भी अपनी बहुमुखी प्रतिभा के जौहर दिखाए। इसलिए उनकी साहित्यिक क्षमता को देखकर कहा जाता है कि वे एक कवि, द्रष्टा, देशभक्त, मानवता के प्रेमी तथा राजनैतिक दार्शनिक थे। उनकी रचनाएं मानव जाति के लिए महान आध्यात्मिक सन्देशों से भरी हुई हैं।

अरबिन्द के राजनीतिक विचारों का आध्यात्मिक आधार
(Spiritual Foundtion of Aurobindo's Political Ideas)

अरबिन्द घोष एक राजनीतिक चिन्तक होने के साथ–साथ एक आध्यातिमक पुरुष व योगी भी थे। उन्होंने भारत के स्वतन्त्रता के लिए सक्रिय योगदान दिया और उसके बाद आध्यात्मवाद का राष्ट्र अपनाकर, इसके द्वारा ही भारत की स्वतन्त्रता के लिए प्रयास करते रहे। इसलिए कहा जाता है कि अरबिन्द घोष की राजनीति एक योगी की राजनीति थी न कि एक राजनीतिज्ञ

की। उनके सम्पूर्ण चिन्तन का आधार उनके आध्यातिमक विश्वास है। उनके राजनीतिक विचारों का आध्यात्मिक आधार निम्नलिखित बातों से जाना जा सकता है–

1. ***राष्ट्रवाद के प्रति उनके विचारों का आध्यातिमक आधार (Metaphysical or Spiritual base of his views about Nationalism)***–उनके लिए भारत एक भौगोलिक इकाई या जनसमूह मात्र न होकर आध्यात्मिकता का केन्द्र था। उन्होंने समस्त का है कि राष्ट्रवाद एक धर्म है, जो परमात्मा की देन है। यह परमात्मा की शक्ति के आधार पर ही जीवित रहता है। इसे किसी भी शस्त्र द्वारा कुचलता सम्भव नहीं हे। यह अमर है। उन्होंने लिखा है–"राष्ट्रवाद देश में दैवी एकता को प्राप्त करने की प्रबल महत्वाकांक्षा है। वह ऐसी एकता है, जिसमें विधिवत् बहुत से व्यक्तियों के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक विचार, कार्य विभिन्न होने के बावजूद भी मौलिक रूप में एक हैं जो राष्ट्र पिता का आदर्श भारत विश्व के सामने उपस्थित करेगा, उसमें मानवीय समानता होगी, जांति–पांति और वर्गों में समानता होगी।" इस प्रकार उनका राष्ट्रवाद एक सात्विक धर्म है जो नैतिक आदर्शवाद पर आधारित है। इस प्रकार उनका राष्ट्रवाद आध्यात्मिक आधार पर पोषित है।

2. ***भारतीय स्वतन्त्रता सम्बन्धी उनके विचारों का आध्यात्मिक आधार (Spiritual basis of his idea of Indian Independence)***–अरबिन्द का मानना था कि स्वतन्त्रता का अर्थ राजनीतिक बन्धनों से छुटकारा पाना ही नहीं है, अपितु आध्यातिमकता की शिक्षा देना भी है। पराधीन भारत अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रों का पथ–प्रदर्शक नहीं बन सकता, इसलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति करना बहुत जरूरी है। इसके लिए गीता, वेदों व उपनिषदों के बताए गए मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

3. ***मानव जाति के प्रति सकारात्मक रूख (Positive Attitude towards Human Life)***– अरबिन्द का मानना था कि मनुष्य को अपने जीवन में आशावान बनना चाहिए। यह संसार दुःखों का सागर नहीं है। इसमें सुखों की असीम मात्रा है। व्यक्ति को दुःख बीतने का तथा सुख के आगमन की प्रतीक्षा करनी चाहिए। इस तरह उन्होंने आध्यात्मवाद तथा भौतिकवाद का समन्वय कर दिया।

4. ***मानवी स्वतन्त्रता के प्रति आध्यात्मिक दष्टिकोण (Spiritual approach towards Human Freedom)***–अरबिन्द ने स्वतन्त्रता के दो पक्ष–आन्तरिक व बाहरी स्वतन्त्रता मानकर, आन्तरिक स्वतन्त्रता से स्वतन्त्र इच्छानुसार अपने गुणों को विकसित करने का नाम दिया है। उनका विश्वास था आन्तरिक स्वतन्त्रता के अभाव में बाह्य स्वतन्त्रता से उनका अभिप्राय सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता से था। वे इन दोनों स्वतन्त्रताओं में समन्वय स्थापित करना चाहते थे और आन्तरिक स्वतन्त्रता को ज्यादा महत्व देते थे। उन्होंने कहा है–"जहां बाह्य स्वतन्त्रता भौतिक जगत की प्रतीक है वहीं आन्तरिक स्वतन्त्रता आध्यात्मवाद की प्रतीक है।"

6. ***मानवीय एकता के आदर्श का आध्यात्मिक आधार (Spiritual Basis of the Ideal of Human Unity)***–अरबिन्द घोष ने मानवीय एकता को आदर्श अपनी प्रसिद्ध रचना 'The Ideal of Human Unity' में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार सम्पूर्ण मानवीय एकता प्रकृति की योजना का एक घटक है। उनका मानना था कि हम सब एक–दूसरे के घटक हैं और एक यान्त्रिक तथा बाह्य आवश्यकता हमें एक–दूसरे के प्रति इतना

आकर्षित करती हैं कि हम स्वयं को क्रमशः परिवार और गांव जैसे समूहों में संगठित करने को मजबूर हो जाते हैं। इतिहास के आधार पर अरबिन्द ने कहा है कि मनुष्य का रुझान सदा उत्तरोत्तर बड़ी इकाईयों का निर्माण करने का होता है। व्यक्ति परिवार से गांव, गांव से राज्य और राज्यों से साम्राज्यों में संगठित होते रहे हैं। मानवीय एकता का आदर्श अपने मार्ग में आने वाली रुकावटों का आध्यात्मिकता के आधार पर समाधान करता है।

इस प्रकार अरबिन्द घोष ने भौतिकवाद के साथ आध्यात्मवाद का समन्वय किया। पांडिचेरी ने आध्यातिमक साधना में लीन रहते हुए उन्होंने भारत और संसार की भौतिक घटनाओं के प्रति चिन्ता रही। उन्होंने दावा किया कि उनकी आध्यात्मिक शक्ति ने द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मनी को पराजित करने में मित्र राष्ट्रों का साथ दिया और जर्मन–विजय का तुफान रूक गया। इसलिए कहा जा सकता है कि अरबिन्द का आध्यात्मिक सत्ता में गहरा विश्वास था। उन्होंने ईश्वर के पास न जाकर स्वयं ईश्वर के इस धरती पर उतर आने की बात कही। उनका मानना था कि ईश्वर प्रत्येक कण–कण में निवास करता है। ज्यों–ज्यों हम आध्यात्मवाद की तरफ बढ़ते हैं मानवता का आदर्श प्राप्त करना सरल होता जाता है।

अरबिन्द के राजनैतिक विचार
(Aurobindo's Political Ideas)

अरबिन्द घोष एक सच्चे राष्ट्रवादी थे। उनकी इच्छा थी कि भारत को अतिशीघ्र ही स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। उनके चिन्तन का मुख्य ध्येय अधिक व्यक्तियों के सुख की बजाय सभी का अधिकतम हित था। उन्होंने गीता, वेदों, उपनिषदों से ज्ञान प्राप्त करके ऐसी विधियों की खोज की जो भारत को स्वतन्त्रत कराने में अहम् भूमिका निभा सकती थी। इसलिए उनकी राष्ट्रवादी विचारधारा आध्यात्मवाद पर आधारित थी। उन्होंने पांडिचेरी में आश्रम की स्थापना करने के बाद अपने राजनीतिक जीवन से संन्यास लेकर, वहां पर आध्यात्मवाद व योग की शक्ति के द्वारा भारत की आजादी के प्रयास जारी रखे। इसी कारण से उनके राजनीतिक विचारों में आध्यात्मवाद का पुट मिल गया और साधारण व्यक्ति के लिए उनके राजनीतिक विचारों को समझना कठिन हो गया। आध्यात्मवाद की ओर झुकाव होने के कारण उनकी क्रांतिकारी राष्ट्रवाद की भावना इतनी अधिक बदल गई कि उनका हर कार्य आध्यात्मवाद पर ही आधारित हो गया। उन्होंने जो कुछ भी कहा या लिखा, उसमें हमें आध्यात्मवाद के दर्शन अधिक होते हैं। अरबिन्द घोष का जीवन अनेक पड़ावों से होकर गुजरा है जिसके आधार पर उनके राजनीतिक विचारों को समझा जा सकता है। उनके जीवन के तीन पड़ाव निम्नलिखित हैं–

I. बड़ौदा नरेश की सेवा में रहना (1893-1905 तक)

II. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में उग्रवादी के रूप में सक्रिय रहना (1906-1910 तक)

III. पाण्डिचेरी में आध्यात्मवाद का ज्ञान प्राप्त करना (1911-1950 तक)

1893 में इंग्लैण्ड से वापिस आकर अरबिन्द ने बड़ौदा नरेश की सेवा की और गुप्त लेखों का प्रकाशन कराके राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए उग्र–विचारक के रूप में काग्र किया, इसी दौरान उन्होंने भारतीय कांग्रेस की उदारवादी नीतियों की आलोचना की और उनके द्वारा अपनाई जाने वाली विनय–पत्र, प्रार्थना, ज्ञान आदि विधियों की भी आलोचना की। उन्होंने उदारवादियों को कहा कि उन्हें अपने आत्मविश्वास और निडरता के बल पर भारत को स्वतन्त्र कराने के प्रयास करने चाहिए। उन्होंने बड़ौदा नरेश की सेवा में रहते हुए जतिन बैनर्जी के साथ मिलकर

क्रान्तिकारी संगठन बनाने के प्रयास आरम्भ कर दिए और बंगाल की तरफ से राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय योगदान दिया। उन्होंने उग्र विचारधारा रखने वाले युवाओं को संगठित किया ताकि भारत को स्वतन्त्रता दिलाई जा सके। लेकिन अंग्रेजों की दमनकारी नीति के शिकार होने के कारण उनका स्वप्न अधूरा रह गया। इसके बाद वे आध्यात्मवाद के विकास व उसके द्वारा भारत को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए प्रयास करने लगे। उन्होंने पांडिचेरी में आश्रम की स्थापना की, अब स्वदेशी बहिष्कार, निष्क्रिय प्रतिरोध का स्थान, उनके आध्यात्मवाद ने ले लिया और उन्होंने भौतिकवाद को आध्यात्मवाद से मिला दिया। इस तरह विभिन्न परिस्थितियों से गुजरते हुए उन्होंने अपने चिन्तन का विकास किया। उनके राजनीतिक विचारों की निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

1. ***भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आलोचक के रूप में (As a Critique of Indian National Congress)***–अरबिन्द कांग्रेस की उदारवादी नीतियों के कटु आलोचक थे। जब वे इंग्लैण्ड से वापिस आए तो उस समय कांग्रेस पर उदारवादी नेताओं का कब्जा था। उनका मुख्य काम अंग्रेजों को ज्ञापन सौंपने तक ही सीमित था। अंग्रेज सरकार उनकी तनिक भी परवाह नहीं करती थी। इसलिए अरबिन्द ने उनकी कार्य प्रणाली अच्छी नहीं लगी और अपने आलोचनात्मक विचारों को 'इन्दु प्रकाश' पत्रिका में 'New Lamps of Old' नाम से प्रकाशित कराया। उन्होंने कांग्रेस की नीति, कार्यपद्धति और नेताओं की आलोचना करते हुए लिखा है–"कांग्रेस के बारे में मैं यह कहता हूं कि उसके उद्देश्य भ्रमपूर्ण हैं। जिस भावना से यह संस्था इन उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहती है, वह भावना सच्चाई तथा पूर्ण लगन की भावना नहीं है और जो साधन इसने चुने हैं, वे दोषपूर्ण हैं। जिन नेताओं पर यह संस्था विश्वास करती है, वे व्यक्ति नेता बनने लायक नहीं हैं।" उन्होंने कांग्रेस पर निम्नलिखित चार आरोप लगाए–

   I. ***कांग्रेस के उद्देश्य दोषपूर्ण हैं (The aims of the Congress are defective)***– अरबिन्द का मानना था कि कांग्रेस के पास स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं है। वह तुच्छ व सारहीन बातों में अपना समय बर्बाद कर रही है। वह अपनी स्थापना के बाद नाममात्र के प्रशासनिक सुधार करवाने में ही सफल रही है। अरबिन्द ने कहा है कि कुछ ही प्रशासनिक सुधार करने से या कुछ ही पदों पर भारतीयों की नियुक्ति से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का विकास नहीं हो सकता, इसलिए भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए किसी निश्चित लक्ष्य के अभाव में स्वतन्त्रता की प्राप्ति नहीं हो सकती।

   II. ***कांग्रेस द्वारा अपनाए गए साधन और सिद्धान्त गलत हैं (The method and principle of the Congress are Wrong)***–कांग्रेस नेताओं का मानना था कि भारत क्रमिक विकास द्वारा भविष्य में अवश्य स्वतन्त्रता का ध्येय प्रस्तुत करेगा। इससे अधिक जल्दबाजी करने से काम ठप्प हो सकता है। कांग्रेस के अनुसार राजनीतिक विकास एक शाश्वत् और सार्वभौमिक नियम है अर्थात् प्रगति धीरे–धीरे होती है और इसी नियम का पालन भारत को करना चाहिए। लेकिन घोष ने कांग्रेस की आलोचना करते हुए कहा कि फ्रांस व आयरलैण्ड में पीड़ित लोगों ने अल्पकाल में ही अत्याचारी शासन की जड़ें उखाड़ दी थी, इसी तरह कांग्रेस द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए अपनाए गए तरीके–मौखिक प्रार्थना, याचना व विरोध अव्यावहारिक थे। अरबिन्द का मानना था कि शासक और शासित के हित कभी समान नहीं हो सकते। संवैधानिक साधनों से कभी स्वतन्त्रता प्राप्त

नहीं की जा सकती। इसलिए क्रांतिकारी साधनों से ही भारत को आजादी दिलाई जा सकती है।

III. ***कांग्रेस द्वारा साधारण जनता की उपेक्षा (Congress Ignored the Common Men)***–घोष का मानना था कि कांग्रेस साधारण लोगों की तरफ कोई ध्यान नहीं दे रही है। यह सभी धर्मों व जातियों के लोगों को साथ लेकर नहीं चल रही है। इसका दायरा सीमित होने के कारण साधारण वर्ग के हितों की घोर उपेक्षा हुई है। साधारण जनता तो बहुत बड़ी ताकत होती है। इसकी उपेक्षा करने से गम्भीर परिणाम जन्म लेते हैं। कांग्रेस को पढ़े–लिखे लोगों की जमात बनाने की बजाय इसमें जनसाधारण को प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए ताकि इसका स्वरूप सार्वभौम हो सके और साधारण जनता के हितों की कोई उपेक्षा न कर सके। घोष का बंगाल में प्रसिद्ध होने का कारण उनके द्वारा जनसाधारण को महत्व देना ही था।

IV. ***कांग्रेसी नेताओं में निष्कपटता की कमी (Lack of Sincerity among Congress Leaders)***–घोष का मानना था कि कांग्रेस के नेता संकीर्ण प्रवत्ति के कारण देश की आजादी के लक्ष्य को प्राप्त करने के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बने हुए हैं। वे अपनी छोटी से छोटी बात मनवाने के लिए भी भिखारी की तरह ब्रिटिश नेताओं के सामने हाथ फैलाए रहते हैं। वे आत्मविश्वास और निडरता की बजाय उनकी चमचागिरी करने में लगे हुए हैं। उनमें न तो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के प्रति कोई लगन है और न ही उनकी भावना में निष्कपटता है, वे किसी भारतीय को उच्च पद प्राप्त करने पर ब्रिटिश सरकार को बधाई का पात्र मानते हैं वे ब्रिटिश सरकार को भारत के कल्याण का साधन मानते हैं। इसलिए अरबिन्द ने उदारवादियों की गलत नीतियों की आलोचना की। उन्होंने अपनी पुस्तक 'गीता रहस्य' में लिखा है कि राष्ट्रीय शत्रु की धर्म युद्ध में हत्या करना पाप नहीं है बल्कि धर्म का एक हिस्सा है।

2. ***ब्रिटिश सरकार की आलोचना (Criticism of British Government)***–अरबिन्द ने कांग्रेस की तरह ब्रिटिश सरकार की भी कड़ी आलोचना की। रानाडे ने 'इन्दु प्रकाश' के मालिक को चेतावनी दी थी कि यदि 'New Lamps for Old' के लेखक ने अपनी ब्रिटिश सरकार विरोधी नीति नहीं बदली तो 'इन्दु प्रकाश' पत्रिका को तो बन्द कर दिया जाएगा और लेखक पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया जाएगा। यद्यपि उन्होंने इस लेख माला के माध्यम से ब्रिटिश सरकार व कांग्रेस की परोक्ष आलोचना ही की थी, लेकिन रानाडे की चेतावनी के बाद उन्हांने अपना रवैया बदला। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की बजाय फ्रांसीसी सरकार की प्रशंसा की। उन्होंने कहा कि अंग्रजों द्वारा स्थापित शासन प्रणाली हमारे देश के हितों के अनुकूल नहीं है। उन्होंने अंग्रेजों की शिक्षा प्रणाली की भी आलोचना करते हुए कहा कि अंग्रेजी शिक्षा ने हमारी आत्मा की हत्या की है। उन्होंने हमारी ग्रामीण अर्थव्यवस्था को तहस–नहस करके ग्रामीणों को आर्थिक रूप से कंगाल बना दिया है। उन्होंने ब्रिटिश अधिकारियों के व्यवहार पर कटाक्ष करते हुए लिखा है–"वे अशिष्ट और धूर्त हैं, उनमें किसी भी तरह की उदात भावना नहीं है। उनका व्यवहार गुलामों पर हुक्म चलाने वाले जमींदारों जैसा है।" उनका मानना था कि पश्चिम के लोगों में भारतीयों से ज्यादा गुण नहीं है। भारतीय स्वयं अपनी सरकार चला सकते हैं। केवल परिस्थितियों वश भारतीय गुलामी के

शिकार हैं। इन गुलामी की बेडियों को तोड़ना कोई कठिन काम नहीं है। यदि सभी भारतवासी संगठित होकर इन ब्रिटिश सत्ता के व्यापारियों को यहां से निकालने का प्रयास करें तो वे अपश्य सफल होंगे।

3. ***पूंजीवाद की आलोचना (Ctiricism of Capitalism)***–अरबिन्द आधुनिक पूंजीवाद के कटु आलोचक थे। उन्होंने अंग्रेजों के साम्राज्यवादी शोषण की खुलकर निन्दा की है। उनका कहना है कि भारतीय श्रमिकों का शोषण ब्रिटिश पूंजीपति करते हैं। इसलिए भारतीय श्रमिकों का शोषण ब्रिटिश पूंजीपति करते हैं। इसलिए भारतीय श्रमिकों की स्थिति बिगड़ रही है। भारत की पूंजी को इंग्लैण्ड ले जाया जा रहा है। कांग्रेस अंग्रेजों की इस नीति के विरुद्ध कुछ बोलने को तैयार नहीं है। इसलिए उन्होंने आधुनिक पूंजीवाद के केन्द्रीयकरण की तीव्र आलोचना की है। उन्होंने बंगाल की जनता में इसके विरुद्ध जागति पैदा की और उन्हें क्रांतिकारी कदम उठाने के लिए संगठित भी किया। लेकिन उन्होंने पूंजीवाद की आलोचना करके साम्यवाद का पक्ष नहीं लिया। उनका कहना था कि साम्यवाद वर्ग–संघर्ष और अराजकता को जन्म देता है। उन्होंने कहा है कि जब तक श्रमिकों का शोषण होता रहेगा तब तक राष्ट्र की प्रगति व विकास नहीं हो सकता। इसलिए श्रमिकों को राजनैतिक शिक्षा देकर ही भारत की स्वतन्त्रता का ध्येय पूरा किया जा सकता है। इस प्रकार उन्होंने पूंजीवाद की आलोचना अवश्य की है, लेकिन साम्यवाद को भी गले नहीं लगाया है। उनका ध्येय तो समानता, स्वतन्त्रता और भाई–चारे के आदर्श को प्राप्त करने का था।

4. ***समाजवाद सम्बन्धी विचार (Views on Socialism)***–अरबिन्द घोष ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'War and Self-determination' में 1857 में स्पष्ट शब्दों में लिखा है–"युद्ध ने दो प्रमुख प्रश्नों को जटिल बना दिया है–एक तो पूंजी और श्रम में बढ़ता हुआ संघर्ष और इनका एशियाई मामले। यूरोप में समाजवाद और पूंजीवाद खड़े हुए एक–दूसरे का मुंह ताक रहे हैं। समाजवादी विचारधारा लोकप्रिय हो रही है। यह विचारधारा पश्चिम की तरफ मुड़ने में काफी समय ले सकती है तथा इसमें बहुत सुधार भी हो सकते हैं। श्रम आन्दोलन हर स्थान पर सुधारवादी रूप में समाजवादी बन रहा है। वर्तमान यूरोपीय सभ्यता जिसका आधार पूंजीवादी उद्योगवाद है, अपने राक्षसी रूप की चरम सीमा पर पहुंच चुकी है और यह ध्वस्त हो जाएगी। हमारा भविष्य तो समाजवादी समाज में सुरक्षित है।" अरबिन्द जी के इन विचारों से उनके समाजवादी दष्टिकोण का पता चलता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वे पूंजीवाद के विरोधी तथा समाजवाद के प्रबल समर्थक थे। उनका कहना था कि समाजवाद में प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों का ही पोषण होता है और व्यक्ति को विकास के भरपूर अवसर प्राप्त होते हैं।

5. ***स्वराज सम्बन्धी विचार (Views Regarding Swaraj)***–घोष का कहना था कि कांग्रेस पूर्ण स्वतन्त्रता की बजाय अंग्रेजी की न्यायप्रियता में ही विश्वास रखकर अपूर्ण स्वतन्त्रता की मांग की समर्थक है। वह अपना स्वतन्त्रता का लक्ष्य भूल चुकी है। वह भारत के लिए अधिराज्य (Dominion State) की मांग करती है। घोष ने इसका विरोध करते हुए भारत के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग की, उन्होंने कहा कि ब्रिटिश नीतियां भारत के लिए कभी लाभकारी नहीं हो सकती। भारत का फायदा तो स्वयं की सरकार द्वारा बनाई गई नीतियों से ही हो सकता है। इसलिए स्वराज्य प्राप्ति के लक्ष्य को पूरा करना आवश्यक है। स्वतन्त्र भारत ही विश्व का आध्यात्मिक गुरु बन सकता है।

इसलिए स्वराज्य ही हमारी प्राथमिकता होनी चाहिए। उन्होंने स्वराज्य की व्याख्या करते हुए लिखा है–"स्वराज्य का हमारा विचार विदेशी नियन्त्रण से पूर्ण स्वतन्त्रता है। हम दावा करते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र को अपने स्वरूप तथा आदर्शों के अनुसार अपने सामर्थ्य द्वारा अपने जीवन को जीने का अधिकार हो। अपनी श्रेष्ठता के आधार पर हमें अपनी विरासत से वंचित रखने या हमारी सभ्यता से घटिया सभ्यता हमारे ऊपर थोपने के विदेशी दावे को हम अस्वीकार करते हैं।" उन्होंने स्वराज्य की धारणा को आध्यात्मिक आवश्यकता बताते हुए आगे कहा है कि यदि भारत स्वतन्त्र न हो पाया तो विश्व भारत के आध्यात्मिक प्रकाश से वंचित रह जाएगा, इसलिए स्वराज्य ही हमारा प्राथमिक लक्ष्य होना चाहिए।

स्वराज्य प्राप्ति के साधन (Methods for the attainment of Swaraj)–घोष को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए कांग्रेस के उदारवादी कार्यक्रम में विश्वास नहीं था। उनका कहना था कि जब भारतीयों का अपना संविधान ही नहीं है तो संवैधानिक साधनों की चर्चा करना ही व्यर्थ है। इसलिए उन्होंने स्वराज्य प्राप्ति के लिए निम्नलिखित साधनों का समर्थन किया–

I. सशस्त्र विद्रोह (Armed Rebellion)

II. निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance)

अरबिन्द घोष अपने स्कूली जीवन में ही एक गुप्त क्रान्तिकारी संगठन के सदस्य बन गए थे। उन्होंने बड़ौदा नरेश की सेवा के दौरान भी क्रान्तिकारियों से सम्पर्क बनाया। इस दौरान उनका विश्वास था कि भारत की स्वतन्त्रता सशस्त्र विद्रोह करके ही प्राप्त की जा सकती है। लेकिन जब वे बड़ौदा रियासत को त्यागकर बंगाल में गए और वहां पर राष्ट्रवादियों का नेतत्व किया तो उन्होंने विद्रोह के स्थान पर निष्क्रिय प्रतिरोध को स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उत्तम साधन बनाया। कुछ विद्वानों का विचार है कि अरबिन्द का झुकाव बंगाल में ही आध्यात्मवाद की ओर हो गया था और उन्होंने सभी क्रान्ति पूर्ण हिंसक साधनों के स्थान पर आध्यात्म व योग के साधनों से भारत की स्वतन्त्रता के लक्ष्य को प्राप्त करने का सुझाव दिया था। उन्होंने 1903 में अपनी पत्नी को लिखे पत्र में कहा था–"इस गिरी हुई प्रजाति का उद्धार करने के लिए मेरे पास शक्ति है। यह शक्ति शारीरिक या तलवार व बन्दूक की शक्ति नहीं है अपितु ज्ञान की शक्ति है।" लेकिन उन्होंने यह भी कहा है कि यदि स्वतन्त्रता प्राप्ति के अन्य साधन न हों तो हिंसात्मक साधनों से कोई परहेज नहीं करना चाहिए। उन्होंने स्वतन्त्रता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए संगठित प्रतिरोध तथा स्वावलम्बन की भावना को सर्वोत्तम साधन माना है। उनका मानना था कि प्रार्थना सभाएं करने व ज्ञापन देने से स्वराज्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। उन्होंने कहा कि हिंसा का सामना हिंसा से ही करके विरोधी को दबाया जा सकता है।

घोष ने निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग 1906 के बाद शुरू किया। अंग्रेजों के कोप का भाजन बनने से बचने के लिए उन्होंने अंग्रेजों की आलोचना में कुछ नरमी बरती और उसके स्थान पर निष्क्रिय प्रतिरोध का साधन अपनाया। इसके तहत उसने ब्रिटिश न्यायालयों का बहिष्कार, सरकारी पदों का बहिष्कार तथा सामाजिक बहिष्कार को शामिल किया। उन्होंने यह भी कहा कि यदि अंग्रेज सरकार निष्क्रिय प्रतिरोध को कुचलने के लिए किसी हिंसक साधन का प्रयोग करती है तो निष्क्रिय प्रतिरोध के

समर्थकों को भी उसी साधन का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार उन्होंने गांधी से अलग दष्टिकोण का परिचय देते हुए निष्क्रिय प्रतिरोध को सत्याग्रह से श्रेष्ठ बताया।

6. ***राज्य सम्बन्धी विचार (Views Regarding State)***–घोष का मानना है कि राज्य एक यान्त्रिक इकाई है। यह देखने में तो लोगों के हितों का संरक्षक लगता है लेकिन फिर भी साध्य नहीं है। यह लोगों के कल्याण का एक साधन है। इस साधन के द्वारा अल्पसंख्यकों के विचारों को 'सामूहिक हित' के नाम पर बहुसंख्यकों पर थोप दिया जाता है। राज्य सत्तारुढ़ स्वार्थी लोगों का ही संगठन है जिसका सामान्य हित से कोई सरोकार नहीं है। उन्होंने राज्य के सावयव सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि राज्य को जीवित शरीर के समान नहीं माना जा सकता क्योंकि राज्य का स्वरूप मशीनीकृत है। उनका कहना है–"राज्य एक सुविधा है और अपेक्षाकृत हमारी सामूहिक उन्नति की एक भद्दी सुविधा है, इसे कभी भी स्वयं में साध्य नहीं बनाना चाहिए।" उन्होंने आगे लिखा है कि राज्य के ऊपर एक ओर श्रेष्ठ व्यवस्था होनी चाहिए। इस व्यवस्था में सर्वाधिक महत्व सत्य, आत्मा और ईश्वर को दिया जाना चाहिए। व्यक्ति को रज्य से पथक ऐसा अस्तित्व प्रदान करना चाहिए ताकि वह राज्य द्वारा दी गई सुविधाओं से अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सके। इस प्रकार व्यक्ति सत्य, आत्मा और ईश्वर के प्रति निष्ठावान रहना अपने जीवन का चरम लक्ष्य भी प्राप्त कर सकता है। उन्होंने राज्य का उद्देश्य भी सभी व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण (Greatest good will of all) बताया है। इस दष्टि से उन्होंने बैन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त की भी आलोचना कर डाली है। इसका कारण उनका भारतीय संस्कृति के प्रति अथाह लगाव का होना है। 'सर्वभूतहिताय' गीता का सिद्धान्त है जिसे घोष ने अपने चिन्तन का आधार बनाय है। इस प्रकार उन्होंने राज्य को साधन और व्यक्ति को एक साध्य बताया है।

7. ***अरबिन्द घोष का राजनीतिक रचनात्मक कार्यक्रम (Constructive Political Programme of Aurobindo)***–अधिकांश विद्वानों का मानना है कि अरबिन्द घोष ने कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार की कड़ी आलोचना करके विध्वंसात्मक पक्ष का ही पोषण किया है। लेकिन यह बात पूरी तरह सत्य नहीं हे। घोष ने अपने बड़ौदा नरेश के सेवाकाल के दौरान ही अपने रचनात्क पक्ष का प्रतिपादन किया था। डॉ० कर्ण सिंह ने उनके रचनात्मक पक्ष को स्पष्ट करते हुए कहा है–"भारत का लक्ष्य ब्रिटिश आधिपत्य से पूर्ण मुक्ति पाने का होना चाहिए। इस मुक्ति के लिए उसे अपने विदेशी शासकों की कृपा और दया पर निर्भर नहीं रहना चाहिए, बल्कि अपनी आन्तरिक शक्ति और बल के असीम भण्डार का ही सहारा लेना चाहिए।" अरबिन्द घोष ने माना कि स्वतन्त्रता का लक्ष्य तभी प्राप्त होगा, जब हम अपने निजी स्वार्थ का त्याग कर सच्चे देश प्रेम की लगन से कार्य करेंगे और अंग्रेजों के फैंके हुए टुकड़ों के लिए तरसना छोड़ देंगे। उनके रचनात्मक राजनीतिक कार्यक्रम के मुख्य पहलू निम्नलिखित हैं–

I. जनसाधारण में आजादी के प्रति जागति पैदा करना।
II. असहयोग और सत्याग्रह से जनता को संगठित करना।
III. स्वदेशी के आधार पर समानान्तर भारतीय उद्योगों का विकास करना।
IV. ब्रिटिश आर्थिक ढांचे को छिन्न–भिन्न करना।
V. ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्तिकारियों को संगठित करना।
VI. ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्ण मुक्ति पाना।

अपने इस रचनात्मक कार्यों को कार्यरूप देने के लिए उन्होंने यतीन बैनर्जी, पी० मितर और विभूति भूषण भट्टाचार्य से मिलकर बंगाल में क्रान्ति दल का गठन किया। उन्होंने इसी तरह के अन्य क्रान्तिकारी संगठनों से भी सम्पर्क साधा। उनका मानना था कि लोगों में राष्ट्रीयता की भावना को फैलाकर ही देश को स्वाधीनता दिलाई जा सकती है। उन्होंने स्वदेशी और बहिष्कार को भी अपने रचनात्मक कार्यक्रम का घटक बनाया ताकि अंग्रेजी उद्योग का आधिपत्य समाप्त हो सके। उन्होंने अपना मत व्यक्त किया कि यदि अंग्रेजों के आर्थिक बन्धन तोड़ दिए जाए और उसके समानान्तर भारतीय व्यवसाय तथा उद्योग को खड़ा किया जाए तो देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए चलने वाले क्रान्तिकारी प्रयासों को अवश्य सफलता मिलेगी। आगे चलकर यही स्वदेशी का मुद्दा राष्ट्रवादी दल का कार्यक्रम बना। इस प्रकार अरबिन्द द्वारा अंग्रेजी सरकार के खिलाफ आवाज उठाने की हिम्मत करना एक महत्वपूर्ण कदम था।

8. ***अरबिन्द के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार (Aurobindo's Views Regarding Freedom)***– उनके स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों में भी आध्यात्मिकता का पुट मिलता है। उन्होंने स्वतन्त्रता को परिभाषित करते हुए कहा है–"स्वतन्त्रता अपने जीवन के नियमों का पालन करना है, अपनी स्वाभाविक आत्मपूर्णता के लिए आगे बढ़ना तथा प्राकृतिक एवं स्वतन्त्र रूप से वातावरण के साथ एकरूपता की खोज करना ही स्वतन्त्रता है।" इस प्रकार अरबिन्द ने मानवीय स्वतन्त्रता को मानव द्वारा अपने अस्तित्व के लिए स्वीकृत कानूनों का पालन माना है। उन्होंने मानवीय स्वतन्त्रता के दो प्रकार–I. आंतरिक स्वतन्त्रता, II. बाह्य स्वतन्त्रता बताए हैं। आन्तरिक स्वतन्त्रता से उनका तात्पर्य अपनी आत्मा की आवाज के अनुसार स्वतन्त्र रूप में अपने स्वाभाविक गुणों को विकसित करना तथा बाह्य वातावरण में सामंजस्य स्थापित करना है। उसकी मान्यता थी कि आन्तरिक स्वतन्त्रता की अनुभूति किए बिना बाहरी स्वतन्त्रता निरर्थक है। यदि कोई व्यक्ति आन्तरिक शक्तियों की बजाय बहारी दबावों से कार्य करता है तो वह स्वतन्त्र नहीं कहला सकता। वास्तविक स्वतन्त्रता तो स्व नियन्त्रित आन्तरिक स्वतन्त्रता है। आन्तरिक एवं आत्मिक स्वतन्त्रता जीवन का सार है। कानून कभी स्वतन्त्रता को नष्ट नहीं करते बल्कि स्वतन्त्रता का विकास करते हैं। इसलिए व्यक्ति को बाह्य स्वतन्त्रता की बजाय आन्तरिक स्वतन्त्रता को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए ताकि राजनीतिक स्वतन्त्रता के लक्ष्य को प्राप्त करने में सुविधा हो।

9. ***आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का सिद्धान्त (Theory of Spiritual Nationalism)***–अरबिन्द घोष का राष्ट्रवाद का सिद्धान्त बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। प्रारम्भ में वे उग्र राष्ट्रवादी विचारधारा के व्यक्ति थे, लेकिन पांडिचेरी में प्रस्थान करने के बाद वे पूरी तरह आध्यात्मिक व्यक्ति बन गए और उनको राष्ट्रवाद का स्वराज्य भी आध्यात्मिक हो गया। उन्होंने राष्ट्रवाद सम्बन्धी धारणा का प्रतिपादन ऐसे समय में किया जब भारत पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था। अरबिन्द ने राष्ट्रवाद को प्राचीन संस्कृति और परम्परा के अनुरूप ढालकर बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया। यद्यपि अरबिन्द के समकालीन विचारकों व नेताओं का रुझान भी राष्ट्रवाद की तरफ था, लेकिन उन्होंने आत्म–चेतना की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। अरबिन्द ने बहुत ऊंचे राष्ट्रवाद की नींव रखी, देशवासियों में स्वाभिमान को जगाया और उनके सामने आत्मा का चित्र स्पष्ट किया।

उनके लिए राष्ट्र केवल एक भौगोलिक सत्ता या प्राकृतिक भूखण्ड मात्र नहीं था, बल्कि

एक मां के समान था। उन्होंने राष्ट्र को एक जीवित रूप में देखा और उसे आध्यात्मिक दष्टिकोण पर खड़ा किया। उनके लिए राष्ट्र एक मां की तरह था। वे कहते थे कि मां बेड़ियों में है तथा इसे मुक्त कराने के लिए इस मां को मुक्त कराने के लिए भारत मां के सपूतों को हर कुर्बानी देने के लिए तैयार रहना चाहिए। अरबिन्द ने लिखा है–"राष्ट्र क्या है, हमारी मातभूमि क्या है? यह भूखण्ड नहीं है, वाक्‌विलास नहीं है और न ही मन की कोरी कल्पना है। यह महाशक्ति है, जो राष्ट्र का निर्माण करने वाले कोटि–कोटि जनता की सामूहिक शक्तियों का समाविष्ट रूप है।" उन्होंने राष्ट्रवाद को एक धर्म बताया जो ईश्वर द्वारा प्रदत्त है और जिसके लिए हमें जीवित रहना है। उन्होंने कहा है कि राष्ट्रवाद को दबाया नहीं जा सकता, यह तो दैवी इच्छा का परिणाम है और उसी की शक्ति से आगे बढ़ता है। उन्होंने कहा है–"राष्ट्रवाद एक धर्म है जो ईश्वर की ओर से आया है। राष्ट्रवाद एक ऐसा धर्म है जिसका तुम्हें जीवन में पालन करना है।" उन्होंने आगे कहा है कि बंगाली व भारतीय एक ऐसी जाति है जिन्हें राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करके व राष्ट्र का निर्माण करके ईश्वरीय आदर्श को प्राप्त करना है। उनका ध्येय भारत को विश्व का आध्यात्मिक गुरु बनाने का था। इसके लिए भारत माता को पराधीनता से छुटकारा दिलाना जरूरी है। इसके लिए हमें धार्मिक भावना का पालन करना जरूरी है, अन्यथा हम सदा के लिए अपनी आध्यात्मिक शक्ति, आत्म–पुनरुद्धार व अपना बौद्धिक बल खो देंगे। उन्होंने कहा कि एकता में महान शक्ति है, इसलिए हमें स्वाधीनता के लिए संगठित प्रयास करने चाहिए।

उन्होंने कहा कि राष्ट्रवाद किसी एक भाषा, एक जाति या धर्म के लोगों का राष्ट्रवाद नहीं है। उनका राष्ट्रवाद हिन्दू राष्ट्रवाद नहीं है। उनकी राष्ट्रभक्ति मानव प्रेम व विश्व–बन्धुत्व पर आधारित है। उन्होंने कहा है–"राष्ट्रवाद मानव के सामाजिक तथा राजनीतिक विकास के लिए जरूरी है। अन्ततोगोत्वा एक विश्व संघ के द्वारा मानव की एकता स्थापित होनी चाहिए और इस आदर्श की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक नींव का का निर्माण मानव धर्म और आन्तरिक एकता की भावना के द्वारा ही किया जा सकता है।" उनका कहना था कि हिन्दू धर्म एक शाश्वत् कार्य है जो सबको अपने में समेटता है। इसमें किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं है। यह ईश्वर के स्वामित्व पर बल देता है। इसलिए हमें अपने शाश्वत् धर्म का पालन करते हुए सभी धर्म व जातियों के लोगों को मिाकर स्वाधीनता प्राप्ति के प्रयास करने चाहिए ताकि भारत को आध्यातिमक गुरु बनाया जा सके।

10. ***मानवीय एकता का आदर्श (The Ideal of Human Unity)***–'मानवीय एकता का आदर्श' अरबिन्द एक ऐसा विचार है, जिसके कारण उन्हें आध्यात्मिकता का पैगम्बर कहा जाता है। उन्होंने मानवीय एकता को स्थापित करने के लिए लोगों को आदर्शवादी होने पर जोर दिया है। उन्होंने महसूस किया प्रथम विश्व युद्ध ने माव जाति के अस्तित्व को जो खतरा उत्पन्न किया है, वह विचारणीय है। यदि समय रहते युद्ध की विभीषिका से लोगों को परिचित नहीं कराया गया तो भारत का आध्यात्मिक गुरु बनने का स्वप्न टूट कर बिखर जाएगा। इसलिए उन्होंने 1947 में 'मानव एकता का आदर्श' नामक पुस्तक की रचना की। उन्होंने इस पुस्तक में मानव की एकता के आदर्श को एक स्वाभाविक प्रक्रिया बताया। उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि आने वाले समय में यह स्वप्न अवश्य पूरा होगा। सम्पूर्ण मानव जाति एक विश्व संघ के रूप में एक झण्डे के नीचे आ जाएगी। ऐसा विभिन्न कारणों–I. प्राकृतिक कारणों, II. निरन्तर परिवर्तनशील

करता है और उसे बुराई छोड़ने के लिए प्रेरित करता है। अर्थात् अहिंसावादी व्यक्ति बुराई से घणा करता है, बुराई करने वाले से नहीं।

2. ***धैर्य***–एक अहिंसावादी व्यक्ति कभी धैर्य नहीं छोड़ता। उसे यह विश्वास रहता है कि अहिंसा का ब्रह्मस्त्र कभी असफल नहीं हो सकता। भारी विफलताएं मिलने पर भी वह धैर्य नहीं छोड़ता और धैर्यपूर्वक अपने पथ पर अडिग रहता है। इसलिए धैर्य अहिंसा का मूलाधार है।

3. ***अन्याय का विरोध***–अहिंसा निष्क्रियता, अकर्मण्यता का उदासीनता नहीं, बल्कि अन्याय या बुराई का प्रतिरोध करते रहना है। एक अहिंसावादी व्यक्ति सदैव बुराईयां खोजकर उनको समाप्त करने की दिशा में अग्रसर रहता है। वह कभी हिंसा का प्रयोग नहीं करता। गांधी जी ने कहा है–"अन्यायी के सामने झुकना या संसार की बुराई से मुंह फेरना अहिंसा नहीं है। अहिंसा तो अन्याय, अत्याचार व बुराईयों को खोजकर उनसे संघर्ष करते रहना है।" एक अहिंसावादी व्यक्ति अन्याय व अत्याचार का सक्रिय परन्तु शान्तिपूर्ण विरोध करता है। इसके लिए वह हर दुःख सहन करता है।

4. ***वीरता***–गांधी जी का कहना है कि अहिंसा के मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति का मानसिक दष्टि से भी सबल होना जरूरी है। अहिंसा कायरों का शस्त्र न होकर, वीरों का शस्त्र होती है। यह सबल, साहसी व बलवान व्यक्तियों का गुण है। अन्धकार और प्रकाश की तरह कायरता और अहिंसा में विरोध है। अहिंसा में विश्वास रखने वाला व्यक्ति शक्तिशाली होते हुए भी कभी बल प्रयोग की नहीं सोच सकता। जो दण्ड देने की शक्ति होते हुए भी क्षमादान दे, वहीं अहिंसावादी हो सकता है। निर्बल व कायर की क्षमा कभी अहिंसा नहीं हो सकती। अहिंसा में विश्वास रखने वाला आत्म–बल रूपी शास्त्र पर ही भरोसा करता है, उसे बल प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। उसकी आत्मा का बल ही उसका सबसे बड़ा हथियार है।

अहिंसा के नियम (Rules of Non-Violence)–गांधी जी ने अहिंसा के पांच नियम बताए हैं–

1. अहिंसा में पूर्ण आत्मशुद्धि निहित है।
2. अहिंसा की शक्ति हिंसा करने वाले व्यक्ति के विचार की अपेक्षा उसकी सामर्थ्य के ठीक अनुपात में होती है।
3. अहिंसा, हिंसा से श्रेष्ठतर है।
4. अहिंसा में हार कभी नहीं होती।
5. अहिंसा का परम उद्देश्य अवश्यम्भावी विजय है।

अहिंसा के पक्ष में तर्क (Arguments in Favour of Non-Violence)–गांधी जी ने ऐतिहासिक आधार पर अहिंसा को औचित्य पूर्ण ठहराया है। उनका कहना है कि अहिंसा, हिंसा से हर प्रकार से श्रेष्ठ है। उन्होंने हिंसा का समर्थन निम्नलिखित तर्कों के आधार पर किया है–

1. अहिंसा का नियम हिंसा के नियम से श्रेष्ठ एवं उच्चतर है तथा मानव–जगत का सर्वोच्च नियम है।
2. यह एक आत्मिक शक्ति है जिसका प्रयोग सभी कर सकते हैं।
3. यह स्वतः क्रियाशील होती है। इसके लिए हमें शारीरिक बल के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती।

परिस्थितियों के दबाव से, III. मानव मात्र की वर्तमान और भविष्य की अपेक्षाओं और आकांक्षाओं को पूर्ण करने की इच्छा से प्रेरित होने से होगा। उन्होंने लिखा है–"हम सब एक–दूसरे के घटक हैं और एक यान्त्रिक तथा बाह्य आवश्यकता हमें एक–दूसरे के प्रति इतना आकर्षित करती है कि हम स्वयं को क्रमशः परिवार, कबीले तथा ग्राम जैसे उत्तरोत्तर समूहों में संगठित करने को मजबूर हो जाते हैं।"

उन्होंने आगे कहा है कि विश्व एकता का आदर्श इस बात में महत्वपूर्ण है कि हीगल, अरस्तु आदि विचारकों द्वारा बनाई गई राष्ट्रीय राज्यों की अवधारणा अन्तिम अवस्था नहीं थी। आगे चलकर कई राज्यों को मिलाकर संगठित होने की जो प्रवत्ति द्वितीय विश्व युद्ध के बाद चली, उसने अरस्तु और हीगल की राष्ट्रीय राज्य की धारणा को धराशायी कर दिया है। आज कई राज्यों को मिलाकर संघ बन चुके हैं। SAARC, WTO, OAS आदि इसके प्रमुख उदाहरण हैं। आज आर्थिक तथा राजनीतिक एकीकरण की प्रक्रिया जोरों पर चल रही है। इसलिए भविष्य में अरबिन्द के 'मानव एकता के आदर्श' का स्वप्न यथार्थ में बदलने की पूरी सम्भावना है। हमे अरबिन्द के इन विचारों को स्वीकार करना होगा कि यदि हम विश्व संघ के रूप में 'मानव एकता का आदर्श' स्थापित करना चाहते हैं तो हमें संकीर्ण राष्ट्रवाद की सीमाएं तोड़नी होंगी। चूंकि विश्व संघ का निर्माण राष्ट्रीय आत्म–निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार होगा, लेकिन इसमें मनुष्य को स्थान, जाति, संस्कृति तथा आर्थिक सुविधा के अनुसार अपने अपने समूह बनाने का अधिकार होगा। परन्तु ये समूह संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठकर सम्पूर्ण मानव जाति के उत्थान के लिए कार्य करेंगे।

इस प्रकार अरबिन्द ने 'मानव एकता के आदर्श' को स्थापित करने के मार्ग में आने वाली बाधाओं संकीर्ण स्वार्थ, संकीर्ण राष्ट्रवाद आदि की तरफ भी ध्यान दिया। उन्होंने कहा कि यदि हम मानवता के समक्ष मानवता का आध्यात्मिक धर्म रखें तो सामूहिक स्वार्थ या संकीर्ण राष्ट्रवाद पर काबू पाया जा सकता है। हम यह महसूस करें कि हम सभी में एक गुप्त आत्मा या ईश्वरीय सत्ता है और मानवता इस भूमि पर उस ईश्वरीय सत्ता का ही सर्वोच्च प्रतीक है तो 'मानव एकता का आदर्श' आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। इसी मनोवैज्ञानिक एकता के कारण अन्तोगतत्वा विश्व संघ की स्थापना हो सकेगी और उसकी स्थापना में भारत की भूमिका एक आध्यात्मिक गुरु की होगी।

11. ***हिंसा सम्बन्धी विचार (Views on Violence)***–इस बारे में अनेक विचारकों की राय अलग–अलग है। कुछ उन्हें अहिंसावादी मानते हैं और कुछ हिंसावादी। सत्य तो यह है कि वे अहिंसा और हिंसा दोनों के समर्थक थे। उन्होंने अपने राजनीतिक जीवन के सशस्त्र क्रान्ति पर जोर देकर हिंसावादी होने का ही परिचय दिया। लेकिन राजनीति से संन्यास लेने के बाद पांडिचेरी प्रवास के दौरान उन्होंने आध्यात्मिक रास्ता ग्रहण करने पर भी हिंसा को पूर्ण रूप से त्याज्य नहीं माना। उनका कहना था कि राष्ट्र की रक्षा के लिए हिंसा की आवश्यकता पड़े तो उसमें परहेज नहीं होना चाहिए। इसलिए उन्होंने आवश्यकतानुसार सशस्त्र क्रान्ति और हिंसा का ही समर्थन किया है। यदि अहिंसात्मक साधनों से राष्ट्रवाद का पोषण होता हो तो हिंसा का प्रयोग वर्जित है। उन्होंने हिंसा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए 'गीता रहस्य' नामक पुस्तक में लिखा है–"धर्मयुद्ध में राष्ट्र के शत्रुओं को मारना भी धर्म का ही एक अंग है। इससे स्पष्ट है कि वे मूलतः एक अहिंसावादी थे, लेकिन आवश्यकतानुसार हिंसा को भी जरूरी

मानते थे। वे अहिंसा के विरोधी नहीं थे, लेकिन उसे एकमात्र मापदण्ड मानकर सिद्धान्त रूप में ग्रहण करने को तैयार नहीं थे, आवश्यकता पड़ने पर वे अहिंसा की अपेक्षा हिंसा को ही अधिक महत्व देते थे। इसलिए उन्होंने हिंसा के साथ–साथ अहिंसा का भी समर्थन किया है।

12. ***कानून के सिद्धान्त सम्बन्धी विचार (Views on Concept of Law)***–अरबिन्द घोष का मानना था कि कानून लोक इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र है। अच्छे कानून अच्छी राजनीतिक व्यवस्था के द्योतक हैं। कानूनों का पालन होना चाहिए। कानूनों का पालन ही सामाजिक जीवन व राजनीतिक संगठन की नींव है। लेकिन कानून का पालन भय या दण्ड शक्ति के आधार पर नहीं होना चाहिए। कानून जनता द्वारा स्वयं बनाए जाने चाहिएं। जो कानून जनता पर थोपे जाते हैं, उनके पीछे नैतिक बल का अभाव होता है और जनता द्वारा वे अधिक देर तक मान्य नहीं होते, क्योंकि इनके पीछे पशु बल काम कर रहा होता है। कानूनों का पालन इनके उपयोगी होने के कारण होता है। यदि कानून निष्ठुर और अन्यायपूर्ण होते हैं तो उनकी अवहेलना शुरू हो जाती है। इस प्रकार अरबिन्द जी का मानना था कि जनता को न्याय–संगत व उपयोगी कानूनों का ही पालन करना चाहिए। जनता को यह अधिकार है कि वह उन कानूनों का पालन न करे जो उसकी आत्मा को ठेस पहुंचाने वाले हों। यदि अवज्ञा करने पर उसे दण्ड मिले तो भी अन्यायपूर्ण कानूनों का पालन नहीं करना चाहिए।

13. ***सामाजिक सुधारों के सम्बन्ध में विचार (Views Regarding Social Reforms)***–अरबिन्द जी सामाजिक सुधारों के बारे में अधिक व्याकुल नहीं थे। उनका ध्येय तो राजनीतिक स्वतन्त्रता को प्राप्त करने तक ही सीमित था। उनका विचार था कि जब भारतीयों को राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति हो जाएगी तो सामाजिक सुधार भी धीरे–धीरे होते जाएंगे। उनका मानना था कि राजनीतिक पराधीनता के अन्तर्गत किसी भी प्रकार के सामाजिक सुधारों की बात करना काल्पनिक व निराधार है। उन्होंने कहा है–"राजनीतिक स्वतन्त्रता राष्ट्र की जान हैं राजनीतिक स्वतन्त्रता को प्राप्त किए बिना सामाजिक सुधारों के लिए प्रयास करना अज्ञानता व व्यर्थता है।" इस प्रकार अरबिन्द ने सामाजिक सुधारों की तरफ अधिक ध्यान नहीं दिया।

इस प्रकार उपरोक्त राजनीतिक विचारों का अध्ययन करने के बाद कहा जा सकता है कि अरबिन्द ने राजनीतिक चिन्तन के कुछ विषयों–राष्ट्रवाद, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा मानव की एकता को आध्यात्मिक आधार प्रदान किया। उन्होंने राष्ट्रवाद को दैवीय आधार पर प्रतिपादित किया और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में एक नई जान फूंकी। उन्होंने मानव एकता के आदर्श द्वारा विश्व बन्धुत्व की जो कल्पना की है, वह आधुनिक समय में व्याप्त अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के समाधान का उचित उपाय है। इस दष्टि से उनका चिन्तन सर्वव्यापी तथा सार्वभौमिक है। उन्होंने पश्चिम और पूर्व के विचारों का जो समन्वय किया है, वह उनकी राजनीतिक दर्शन को सबसे महान देन है।

आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का सिद्धान्त
(Theory of Spiritual Nationalism)

अरबिन्द घोष की राजनीतिक चिन्तन को सबसे बड़ी देन उनका आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का सिद्धान्त है, लम्बे समय तक इंग्लैण्ड में रहकर जब वे भारत वापस आए तो उन्होंने भारत माता को पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े हुए हुए अनेक सामाजिक व राजनीतिक समस्याओं

से ग्रस्त पाया, तत्कालीन भारतीय कांग्रेसी नेता अंग्रेजों पर इन समस्याओं के समाधान के लिए कोई दबाव बनाने में असफल सिद्ध हो रहे थे। उनकी कार्यप्रणाली ज्ञापन देने या प्रार्थना करने तक ही सीमित थी, इस अवस्था में अरबिन्द जैसे सच्चे देश भक्त का सन्तुष्ट व चुप रहना असम्भव था। इसलिए उन्होंने भारत माता को पराधीनता की बेड़ियों से छुटकारा दिलाने के प्रयास शुरू किए। उन्होंने प्रारम्भ में तो उग्र–राष्ट्रवाद का समर्थन किया, उन्होंने तिलक, लाला लाजपत राय, विपिन चन्द्र पाल जैसे क्रान्तिकारियों की देश के प्रति भावना को सराहा तथा उन्होंने उदारवादी नेताओं की आलोचना की। लेकिन अंग्रेजी सरकार की दमनकारी नीति के शिकार गर्म दल के नेताओं की दुर्दशा देखकर उन्होंने अपना इरादा बदल लिया और पांडिचेरी में जाकर एक आश्रम की स्थापना की। यहीं से उनके आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की नींव पड़ी। उन्होंने राष्ट्रवाद को एक नए रूप में पेश किया, उन्होंने पश्चिम तथा भारतीय संस्कृति के तत्व जोड़कर आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

अरबिन्द के राष्ट्रवाद के प्रेरणा स्रोत (Sources of Inspiration of Aurobindo's Nationalism)

अरबिन्द के राष्ट्रवाद के प्रेरणा स्रोत निम्नलिखित हैं–

I. ***पिता का प्रभाव***–अरबिन्द के राष्ट्रवाद पर उनके पिता का बहुत प्रभाव पड़ा। उनके पिता आरम्भ में तो अंग्रेजों के भक्त थे, लेकिन बाद में वे नौकरशाही के अत्याचारों से दुःखी होकर वे ब्रिटिश शासन के कटु आलोचक बन गए, जब अरबिन्द इंग्लैण्ड में पढ़ते थे तो उनके पिता उन्हें देश प्रेम से भरे पत्र भेजते थे। वे कुछ महत्वपूर्ण लेख और समाचार काटकर भी उनके पास भेजते थे। इससे अरबिन्द को भारत माता की दुर्दशा का ज्ञान हुआ और उनमें देश प्रेम की भावना उमड़ पड़ी।

II. ***विभिन्न क्रांतिकारी संगठनों का प्रभाव***–जब अरबिन्द जी इंग्लैण्ड में थे तो कैम्ब्रिज में उनका सम्बन्ध 'इण्डियन मजलिस' से स्थापित हुआ। इस संस्था में उन्होंने बढ़–चढ़कर भाग लिया और शीघ्र ही इसके सचिव भी बन गए। उन्होंने भारत लौटने पर 1892 में 'लोटस एण्ड डैगर' नामक क्रान्तिकारी संगठन की भी सदस्यता ग्रहण कर ली। इस संगठन के सदस्यों को देशभक्ति की शपथ लेनी पड़ती थी। लेकिन दुर्भाग्यवश यह संगठन तो जल्दी ही समाप्त हो गया, परन्तु अरबिन्द के मानस पटल पर इसकी गहरी छाप पड़ गई।

III. ***क्रांतिकारी नेताओं का प्रभाव***–जब अरबिन्द जी भारत आए तो उनकी भेंट तिलक से हुई जो उग्र राष्ट्रवाद की साक्षात मूर्ति थे। इन दहकते अंगारे ने अरबिन्द के अन्दर भी देश प्रेम की भावना भरने में महत्वपूर्ण कार्य किया। इसी तरह लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल तथा एन०सी० केलकार जैसे क्रान्तिकारियों ने भी उसको बहुत प्रभावित किया। इन सभी गर्म दल के नेताओं की उग्र राष्ट्रवादी विचारधारा ने अरबिन्द के राष्ट्रवाद का आधार तैयार किया।

IV. ***विभिन्न स्वतन्त्रता आन्दोलनों का प्रभाव***–उस समय आयरलैण्ड तथा इटली में स्वतन्त्रता आन्दोलन जन्म ले रहे थे, उन्होंने आयरलैण्ड के सिन–फिन आन्दोलन की प्रशंसा की है। उसने इसे मनोज्ञत आन्दोलन की संज्ञा दी। उन्होने मिजिनी तथा गैरीबाल्डी जैसे देशभक्तों की जीवनियां पड़ी जिन्होंने अपने–अपने देशों को स्वतन्त्र कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इनसे वे अत्यधिक प्राभावित हुए और भारत की स्वाधीनता की दिशा में उनका रुझान गहरा हो गया।

V. ***समकालीन परिस्थितियों का प्रभाव***–जब अरबिन्द जी भारत लौटे तो उस समय भारत राजनीतिक व सामाजिक रूप से अनेक समस्याओं से ग्रस्त था। भारतीय कांग्रेस के नेता अंग्रेजों के पिट्ठू बन चुके थे। मुट्ठी भर क्रान्तिकारी नेता ही पूर्ण स्वाधीनता के लिए प्रयास कर रहे थे। कांग्रेस के उदारवारी नेता भिखारी की तरफ अपनी मांगें मनवाने के लिए अंग्रेजों के सामने गिड़गिड़ा रहे थे। अरबिन्द जी उनकी इस कार्यप्रणाली से सन्तुष्ट नहीं थे। इसलिए उन्होंने भारत की स्वाधीनता के लिए स्वराज्य पर बल दिया।

राष्ट्रवाद की व्याख्या
(Explanation of Nationalism)

अरबिन्द का राष्ट्रवाद संकुचित न होकर एक विस्तत धारणा है। उनके अनुसार उनका राष्ट्र केवल एक भौगोलिक सत्ता या प्राकृतिक भूखण्ड नहीं है। यह एक भौगोलिक इकाई मात्र न होकर इससे भी अधिक है। डॉ० कर्ण सिंह का कहना है कि अरबिन्द जी राष्ट्र को ईश्वरीय शक्ति मानते थे और उनकी राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक आवश्यकता थी। उनकी राष्ट्रवाद की धारणा विस्तत और गहरी है। उन्होंने राष्ट्रवाद को एक सनातन धर्म माना है। उन्होंने कहा है कि यदि सनातन धर्म न होता तो हिन्दू राष्ट्र भी नहीं होता। राष्ट्र एक दैवी पुकार है। यह भगवान का अवतार है। उन्होंने राष्ट्रवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है–"राष्ट्रवाद केवल राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है, राष्ट्रवाद तो एक धर्म है जो ईश्वर के पास से आया है जिसे लेकर आपको रहना है। हम सभी लोग ईश्वरीय अंश के साधन है। अतः हमें धार्मिक दष्टि से राष्ट्रवाद का मूल्यांकन करना है। यह धर्म दैवी और सात्विक है। राष्ट्रीयता को हम दबा नहीं सकते। यह तो ईश्वरीय शक्ति की सहायता से और बढ़ती है। राष्ट्रीयता अजर–अमर है, यह कोई मानवीय वस्तु नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष ईश्वर है। ईश्वर को न तो मारा जा सकता है और न ही जेल में ठूंसा जा सकता है। यह महान राष्ट्र फिर से उन्नति करेगा तथा उतना ही महान् हो जाएगा जितना कि यह अपनी आध्यात्मिक महानता के समय में था।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि अरबिन्द का राष्ट्रवाद आध्यात्मिक विचारधारा है। उनका आध्यात्मिक राष्ट्रवाद एक ऐसी विचारधारा है जिससे भारत की अतीत की महान संस्कृति का गुणगान करके भारत की पराधीन जनता में नया जोश व उमंग भरकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए प्रेरित किया। उनके आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं–

1. ***राष्ट्रवाद एक दैवी पुकार है (Nationalism is a Divine call)***–उदारवादी नेता ब्रिटिश शासन को ईश्वरीय वरदान मानते थे। जबकि अरबिन्द राष्ट्रवाद को ईश्वरीय आदेश समझते थे। वे राष्ट्रवाद को राजनीति का अंग न समझकर धर्म का अंग मानते थे। उनके लिए राष्ट्रवाद एक दैवीय आदेश था और उसकी रक्षा के लिए वे दढ़ संकल्प थे। उन्होंने राष्ट्रवाद को परिभाषित करते हुए लिखा है–"राष्ट्रवाद केवल राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है। यह देश में दैवी एकता को पापत करने की एक प्रबल महत्वाकांक्षा है। वह एक ऐसी एकता है जिसमें विधिवत् बहुत से व्यक्तियों की राजनीति, सामाजिक और आर्थिक विचारवाली, कार्य विभिन्न होते हुए भी मौलिक रूप से एक है। जो राष्ट्रीयता का आदर्श भारत विश्व के समक्ष उपस्थित करेगा उस मानव में समानता होगी, जांति–पांति, वर्ग–वर्ग में समानता होगी।" इससे स्पष्ट है कि उनकी विचारधारा में राष्ट्रवाद एक सनातन धर्म है। उन्होंने जनसाधारण को राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक

रूप समझकर स्वतन्त्रता के लिए प्रयास करने की दिशा में प्रेरित किया है। उन्होंने जनता में स्वाधीनता के प्रति जो नया उत्साह जागत किया है, वह प्रशंसनीय है। उन्होंने कहा है कि राष्ट्रवाद ईश्वर प्रदत्त होने के कारण अमर है, यह सनातन धर्म होने के कारण एक विश्वास है और विश्वासी व्यक्ति को सनातन धर्म की रक्षा करने और अपना विश्वास बनाए रखने के लिए स्वाधीनता के लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी देने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए।

2. ***अरबिन्द का राष्ट्रवाद मानवता पर आधारित है (Aurobindo's Nationalism is based on Humanism)***–अरबिन्द का राष्ट्रवाद संकीर्ण राष्ट्रवाद नहीं है बल्कि विस्तत है। यह सर्वव्यापक और सार्वभौमिक है। देश–काल की सीमाएं इसे बांधकर नहीं रख सकती। यह किसी विशेष जाति की श्रेष्ठता से सम्बन्धित न होकर सम्पूर्ण मानवता के कल्याण पर आधारित है। उनका मानना था कि हिन्दू धर्म शाश्वत् धर्म है और सार्वभौमिक भी है। भारत का अस्तित्व ही इस धर्म के लिए है। सम्पूर्ण विश्व की मानवता का कल्याण हिन्दू धर्म का ध्येय है। इसलिए हमें एक विश्व–संघ या विश्व–राज्य की बात सोचनी चाहिए। उन्होंने आगे कहा है कि इसके अन्तर्गत सभी राज्यों को स्वतन्त्रता आत्मनिर्णय के अधिकार द्वारा प्राप्त होगी और सभी देशों के हितों की समान रूप से रक्षा होगी। डॉ० कर्ण सिंह ने कहा है–"अरबिन्द का राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का है क्योंकि उसका उद्देश्य मानव कल्याण और मानव एकता है।" अरबिन्द ने अपनी रचनाओं में यह बात स्पष्ट रूप से कही है कि भारत का उत्थान मानवता के लिए होगा। इसलिए उनका राष्ट्रवाद आध्यात्मिक राष्ट्रवाद है जो मानवता के कल्याण के लक्ष्य पर आधारित है।

3. ***अरबिन्द का राष्ट्रवाद शक्ति का प्रतीक है (Aurobindo's Nationalism is a symbol of Power)***–अरबिन्द राष्ट्रवाद को शक्ति का प्रतीक मानते थे। उन्होंने बंकिम चन्द्र चटर्जी के राष्ट्रवाद से प्रेरणा ग्रहण करके इसे नया रूप दिया है। उन्होंने कहा है–"तुम शास्त्र के संकटों से मत डरो। तुम्हारे मार्ग में रूकावट डालने वाली शक्ति कितनी ही बड़ी क्यों न हो, तुम चिन्ता मत करो। तुम स्वतन्त्र हो, यह ईश्वर का आदेश है और तुम्हें स्वतन्त्रता प्राप्त करनी चाहिए। यदि तुमने आत्म–स्वरूप को पहचान लिया है, तो तुम्हें डरने की आवश्यकता नहीं है। संसार में सत्य, प्रेम और श्रद्धा के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। दोगली भाषा मत बोलो, दुर्बलता को पास मत आने दो, हम से बढ़कर एक प्रचण्ड शक्ति हमें प्रेरत कर रही है कि सारे बन्धन तोड़ दो और एक आदर्श बन जाओ।" अरबिन्द ने जिस शक्ति की बात की है वह भौतिक शक्ति से अधिक तेज है। उन्होंने आध्यात्मिक उत्थान द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने की बात कही है। उन्होंने भारत को एक भौगोलिक सत्ता की बजाय एक आध्यात्मिक सत्ता माना है।

4. ***अरबिन्द का राष्ट्रवाद व्यापक है, संकुचित नहीं (Aurobindo's Nationalism is broad, not narrow)***–अरबिन्द ने राष्ट्रवाद को भौतिक दष्टि से न देखकर आध्यात्मिक दष्टि से परखा है। उन्होंने संकीर्णता व स्वार्थों की परिधि से निकलकर अपने राष्ट्रवाद को प्रत्येक धर्म, जाति, समुदाय या वर्ग तक विकसित किया है। यद्यपि उनके राष्ट्रवाद का स्रोत हिन्दू संस्कृति है, लेकिन फिर भी उन्होंने मुस्लिम विरोधी भावना नहीं दर्शाई है। यह प्रत्येक धर्म को अपने में समेटे हुए है। अरबिन्द जैसा योगी व आध्यात्मिक का पैगम्बर अपने राष्ट्रवाद को हिन्दू धर्म की सीमाओं में नहीं बांध सकता था। उनका ध्येय

राष्ट्रीयता का विकास करने का था। सभी धर्मों, जातियों व समुदायों को साथ लेकर चले बिना इस ध्येय की प्राप्ति नहीं हो सकती थी। उनकी दष्टि प्रत्येक भारतीय के कल्याण की तरफ थी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अरबिन्द का राष्ट्रवाद व्यापक था, संकीर्ण नहीं।

5. ***अरबिन्द का राष्ट्रवाद प्राचीनता व आधुनिकता का मिश्रण है (Aurobindo's Nationalism is a synthesis of Modernism and Antiquity)***–अरबिन्द लम्बे समय तक इंग्लैण्ड में रहने के कारण पाश्चात्य सभ्यता से परिचित हुए जब वे 1893 ई० में भारत वापिस आए तो उन पर पश्चिमी संस्कृति का पूरा रंग चढ़ा हुआ था। परन्तु भारत में रकर उन्हें अपनी गौरवमयी संस्कृति का आभास हुआ। उन्होंने गीता, वेदों व उपनिषदों से काफी ज्ञान प्राप्त हुआ। इस तरह उनका चिन्तन पाश्चात्य तथा भारतीय संस्कृति व सभ्यता का मिला जुला रूप बन गया। उन्होंने प्राचीनता व आधुनिकता में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया उन्होंने पश्चिमी राष्ट्रवाद से घणा न करके उसे सम्मान दिया। उन्होंने लिखा है–"हमें पश्चिमी राष्ट्रवाद से इसलिए घणा नहीं करनी चाहिए कि उनकी उत्पत्ति भारत भूमि पर नहीं हुई। यदि हमें कोई अच्छी बात पश्चिम से मिले तो इसे अपनी परम्परा और परिस्थितियों के अनुसार स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है।"

6. ***अरबिन्द के राष्ट्रवाद का लक्ष्य पूर्ण-स्वराज है (Aim of Aurobindo's Nationalism is complete Swaraj)***–अरबिन्द का मानना है कि मानव जाति के आध्यात्मिक जागरण में भारत को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है। ऐसा तभी सम्भव है तब उसे स्वाधीनता प्राप्त हो जाएगी। पूर्ण स्वराज्य ही सच्चे भारतीय राष्ट्रवाद का लक्ष्य हो सकता है, उससे कम कुछ नहीं। उनके लिए रष्ट्रवाद एक दिव्य सन्देश था जिसका प्रचार उसने विश्व स्तर पर करने की बात की है ताकि सम्पूर्ण मानव जाति को फायदा हो। इसलिए उन्हें सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण का बेड़ा उठाने के लिए सबसे पहले स्वतन्त्रता का लक्ष्य प्राप्त करने पर जोर दिया है। उन्होंने अंग्रेजों के अधीन रहकर स्वतन्त्र रहने को निराधार बताया।

इस प्रकार उपरोक्त विचारों का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि अरबिन्द का राष्ट्रवाद आध्यात्मिक स्वरूप का था। उनके लिए राष्ट्रवाद एक दैवीय पुकार थी, जिसको प्राप्त करने के लिए भारत को हर कुर्बानी देने के लिए तैयार रहना चाहिए। उन्होंने विश्व में मानवता का आदर्श स्थापित करने का विचार देकर मानवता की जो सेवा की है, उसे भुलाया नहीं जा सकता। उन्होंने सार्वभौमिक व सर्वव्यापक रूप में राष्ट्रवाद को परिभाषित करके उसमें जो नयापन ला दिया है, वह अन्य राष्ट्रवादी विचारकों के विचारों में दिखाई नहीं देता, उन्होंने कहा था कि भारत को विश्व के आध्यात्मिक गुरु की भूमिका अदा करनी है। आज आध्यात्मिक दष्टि से अरबिन्द का कथन सत्य साबित हो रहा है। आज धार्मिक सहिष्णुता और उदार राष्ट्रवाद का जो रूप भारत में है, वह अन्य देशों में कम ही देखने को मिलता है। लेकिन मानव एकता के आदर्श और आध्यात्मिक नेतत्व का स्वप्न शीघ्र साकार होता नहीं लगता, यदि आज अरबिन्द के चिन्तन के गत्यात्मक पहलूओं पर विचार किया जाए तो उनके राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचार शाश्वत् महत्व के हैं। उनके अनुसार आचरण करने में आज सम्पूर्ण मानवता के कल्याण का मन्त्र निहित है। लेकिन दुर्भाग्यवश उनके विचारों को अमली जामा पहनाना नजदीक भविष्य में असम्भव व कठिन है।

मानव एकता का आदर्श
(Ideal of Human Unity)

मानव एकता को आदर्श का सिद्धान्त अरबिन्द के राष्ट्रवाद से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण विचार है। राजनीति से संन्यास लेने के पश्चात् अरबिन्द ने अनेक रचनाएं लिखीं, उनमें से एक प्रसिद्ध पुस्तक है–''मानव एकता का आदर्श' (The Ideal of Human Unity)। अरबिन्द ने अपनी इस पुस्तक में मानव एकता का आदर्श प्राप्त करने के मार्ग में आने वाली बाधाएं व उन्हें दूर करके इस आदर्श को प्राप्त करने के उपायों पर विस्तारपूर्वक चर्चा की है। उन्होंने इस पुस्तक में मानव की एकता और आदर्शों के प्रति जो मूल्यवान विचार प्रस्तुत किए, उससे वे मानवता के पैगम्बर व मसीहा बन गए हैं। मानव एकता के आदर्श में उन्हें आध्यात्मिकता का पैगम्बर बना दिया है। उन्होंने मानव एकता के आदर्श की जो कल्पना की है, वह सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए एक वरदान सिद्ध हो सकती है। उनका मानव एकता का सिद्धान्त उनकी दूरदर्शी सोच का परिणाम है। इससे अरबिन्द की मानसिक परिपक्वता का पता चलता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि अरबिन्द जी मानवता व आध्यात्मिकता के बहुत बड़े मसीहा हैं।

अरबिन्द के मानव एकता के आदर्श के आधार
(Bases of Aurobindo's Ideal of Human Unity)

पांडिचेरी में रहते हुए अरबिन्द जी मानसिक रूप से इतने परिपक्व हो चुके थे कि उन्हें सम्पूर्ण विश्व में मानव जाति के उत्थान की कल्पना करनी शुरू कर दी थी। उनके जीवन का एक ही ध्येय बन गया–विश्व में मानवता का विकास, उन्होंने अपने इस ध्येय की प्राप्ति के लिए मानव एकता के आदर्श का सिद्धान्त प्रस्तुत किया ताकि प्रत्येक देश व प्रत्येक व्यक्ति भारत के आध्यातिमक उत्थान के महत्व को समझ सके। उनके मानव एकता के आदर्श के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं–

1. ***प्रथम विश्व युद्ध (First World War)***–प्रथम महायुद्ध से उत्पन्न संकटों और परिस्थितियों ने विश्व के दार्शनिकों का ध्यान शांति स्थापना के प्रयासों की तरफ खींचा। इस युद्ध से हुई व्यापक जान–माल की हानि ने अरबिन्द घोष को इतना अधिक प्रभावित किया कि उन्होंने 'मानव एकता का आदर्श' पुस्तक की रचना कर डाली। उन्होंने स्वीकार किया है कि विभिन्न प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्रों के पारस्परिक द्वेष और स्वार्थी हित युद्ध को जन्म देते हैं। विभिन्न राष्ट्रों के हितों में टकराव के कारण मानव एकता का आदर्श प्राप्त नहीं किया जा सकता। यदि मानव एकता का आदर्श प्राप्त करना है तो हमें विश्व संघ की तरफ प्रस्थान करना चाहिए।

2. ***इतिहास का दर्शन (Philosophy of History)***–अरबिन्द जी ने मानव एकता के आदर्श से प्रकृति की योजना का अंग मानते हुए विश्वास व्यक्त किया कि यह स्वप्न अवश्य साकार होगा। उन्होंने इस आदर्श को प्रकृति की योजना का अंग मानते हुए आगे कहा कि हम एक–दूसरे के घटक हैं और एक यान्त्रिक तथा बाह्य आवश्यकता हमें एक–दूसरे के प्रति इतना अधिक आकर्षित करती है कि हम स्वयं को क्रमशः कबीले और ग्राम जैसे उत्तरोत्तर समूहों में संगठित करने लगते हैं। उन्होंने लिखा है–''इतिहास बताता है कि मनुष्य की प्रवत्ति सदैव उत्तरोत्तर बड़ी इकाइयों का निर्माण करने की रही है। गांव अपने आप को राज्यों और राज्य अपने को साम्राज्य में संगठित करते

रहे हैं।" इस प्रकार अरबिन्द जी ने अपने मानव एकता के आदर्श की पुष्टि इतिहास के आधार पर भी की है। उनका विश्वास था कि ऐतिहासिक विकास क्रम की प्रक्रिया के तहत एक दिन मानव की एकता का आदर्श इस धरती पर अवश्य प्राप्त होगा।

3. ***राज्य सामाजिक संगठन का सर्वोच्च रूप नहीं है (State is not the highest form of social organisation)***–अरबिन्द का कहना है कि प्लेटो का आदर्श राज्य नगर राज्य तक ही सीमित था। अरस्तु ने भी नगर राज्य को ही सामाजिक व राजनीतिक संगठन का सर्वोच्च रूप मान लिया जबकि अरस्तु के शिष्य सिकन्दर महान ने विश्व–साम्राज्य की स्थापना करने का प्रयास किया था और उसे कुछ सफलता भी हाथ लगी। इसी तरह हीगल ने भी जर्मन राष्ट्रवाद का नारा देकर राष्ट्रीय राज्य की कल्पना का ही पोषण किया। इन सबको नकारते हुए अरबिन्द जी ने लिखा है–"मेरी दष्टि में राज्य की धारणा अपूर्ण है। राष्ट्रीय राज्य विकास क्रम का अन्तिम स्तर नहीं है। विकास क्रम का अन्तिम लक्ष्य तो मानव एकता का आदर्श है।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि अरबिन्द ने राज्य के विचार का अतिक्रमण करके सम्पूर्ण मानव जाति को एक इकाई माना है। उन्होंने लिखा है–"इस महान आदर्श को हम विश्व–राज्य के निर्माण द्वारा प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् राष्ट्र राज्यों को एक प्रकार के संघ में संगठित करके हम इस आदर्श को प्राप्त कर सकते हैं।" अतः अरबिन्द जी ने राज्य को सामाजिक संगठन का सर्वोच्च रूप मानने से स्पष्ट इंकार किया है।

4. ***राज्य लोगों के सामूहिक स्वार्थवाद का प्रतिनिधि है (State is the agent of the collective egoism of the people)***–अरबिन्द घोष का मानना है कि राज्य लोगों के सामूहिक स्वार्थवाद का प्रतिनिधि है। सिद्धान्त रूप में तो राज्य का आदर्श अलग हो सकता है, लेकिन व्यवहार में राज्य एक साधन है जो व्यक्तियों के हितों का सामूहिक पोषण करता है। व्यवहार में गिने–चुने सत्तासीन लोग अपने स्वार्थों को बहुमत पर थोपते हैं। यह कोई बुरी बात नहीं है कि व्यक्ति को उसके हित में राज्य को सौंप दिया जाए। लेकिन गलत बात तो यह है कि देश का शासन चलाने वाले भ्रष्ट और अनैतिक व्यक्ति हों। व्यवहार में प्रायः देखा जाता है कि भ्रष्ट, कपटी, बेईमान, धूर्त, फरेबी व्यक्ति ही सत्ता में आते हैं और सत्ता का दुरुपयोग करते हैं। इसलिए राज्य सामूहिक स्वार्थवाद के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता। उन्होंने आगे लिखा है–"व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व है, उसकी अपनी आत्मा है जो स्वार्थ रहित दैनिक कार्य करने के योग्य हैं। परन्तु राज्य की कोई आत्मा नहीं होती और न ही राज्य नैतिक बन्धनों को मानता है।" इसलिए सामूहिक स्वार्थवाद की प्रवत्ति को केवल मानव एकता के आदर्श को प्राप्त करके ही समाप्त किया जा सकता है।

मानव एकत के आदर्श की विशेषताएं
(Features of Ideal of Human Unity)

अरबिन्द के मानव एकता के आदर्श की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. ***मानव एकता का आदर्श प्राकृतिक विकास क्रम की योजना का एक भाग है (The Ideal of Human Unity is a part of Nature's Evolutionary Scheme)***–अरबिन्द का यह विश्वास था कि मानव एकता का आदर्श प्रकृति की योजना का ही एक

भाग है। उनके अनुसार मानव एकता का आदर्श मानवीय अस्वीकार न होकर प्राकृतिक विकास क्रम का एक महत्वपूर्ण स्तर है। उसके विचारानुसार सभी मनुष्य एक दूसरे से सम्बन्धित है और ये सम्बन्ध आन्तरिक भावनाओं तथा बाहरी आवश्यकताओं के कारण हैं। प्राकृतिक प्रेरणा के कारण ही व्यक्ति परिवार में रहता है। इस प्रेरणा के कारण ही परिवार से गांव, गांव से नगर, नगरों से राज्य का विकास हुआ है। इसी भावना से मानव एकता का आदर्श भी प्राप्त किया जा सकेगा। अतः मानव एकता का आदर्श प्राकृतिक विकास क्रम की योजना का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है।

2. ***प्रत्येक व्यक्ति में गुप्त आत्मा का वास है (There is an Existence of secret spirit in every hunan being)***–अरबिन्द का विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति में गुप्त आत्मा निवास करती है। अरबिन्द ने इसे दैवी सत्यता (Divine Reality) का नाम दिया है। उनकी दष्टि में यह मानवता दैवी सत्यता का ही प्रतीक है। इस गुप्ता आत्मा का अनुभव करना जरूरी है। इसके अभाव में आध्यात्मिक एकता की स्थापना नहीं हो सकती। यही आध्यात्मिक एकता मानव की एकता का आधार होगी। अरबिन्द ने आगे कहा है–"मनुष्य की आत्मा में अन्य मनुष्यों के साथ सहयोग करने की भावना पाई जाती है। आवश्यकता इस बात की है कि इस भावना को दष्टिगोचर किया जाए और इसका विकास करने के प्रयास किए जाएं।"

3. ***मानव एकता के आदर्श की प्राप्ति अरबिन्द के राष्ट्रवाद का लक्ष्य है (Realisation of the Ideal of the Human Unity is the end of Aurobindo's Nationalism)***– अरबिन्द घोष ने मानव एकता के आदर्श को अपने राष्ट्रवाद का उद्देश्य बताया हैं उनके अनुसार राष्ट्रवाद राष्ट्र में दैवी एकता प्राप्त करने की एक तीव्र लगन है। यह एक ऐसी एकता है जिसमें व्यक्ति राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक आधारों के कारण भिन्न–भिन्न होते हुए भी मौलिक रूप से समान होंगे। राष्ट्रवाद का जो आदर्श भारत विश्व में प्रस्तुत करेगा उसमें हर मनुष्य, जाति और वर्ग में आपसी समानता होगी। इससे स्पष्ट है कि अरबिन्द की राष्ट्रवाद की भावना किसी जाति व वर्ग में एक–दूसरे के प्रति घणा उतपन्न न करना होकर केवल मानवता की एकता के लक्ष्य को प्राप्त करना था। उन्होंने भारत की स्वाधीनता पर जोर दिया ताकि भारत विश्व का आध्यात्मिक गुरु बन सके। उनका दढ़ विश्वास था कि आध्यात्मिक शिक्षा के द्वारा ही मानव एकता के आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है। उनका राष्ट्रवाद भौतिक सीमाओं से परे है अर्थात् सार्वभौमिक है। वह सब के कल्याण की चिन्ता पर आधारित है। उनका कहना था कि विश्व के कल्याण के लिए भारत को स्वाधीनता प्राप्त करना आवश्यक है ताकि मानवता की सच्ची सेवा के साथ–साथ विश्व को आध्यात्मिक नेतत्व भी प्रदान किया जा सके।

4. ***मानव एकता के आदर्श को प्रापत करने के साधन (Ways for Realisation of the ideal of human unity)***–अरबिन्द का मानव एकता का आदर्श विश्व संघ के रूप में सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण का साक्षात रूप होगा यह संघ आत्म निर्णय के सिद्धान्त पर आधारित विविधताओं पर आधारित होगा। इसमें सामूहिक व सामंजस्यपूर्ण जीवन को प्राथमिकता दी जाएगी। एकीकरण की इस प्रक्रिया में सभी व्यक्तियों को स्थान

जाति, संस्कृति व आर्थिक सुविधा आदि के आधार पर अपने–अपने समूह बनाने की स्वतन्त्रता होगी। लेकिन ये समूह स्वार्थों की बजाय सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण की बात सोचेंगे और प्राथमिकता भी देंगे। शक्ति पर आधारित समूहों का विश्व संघ में कोई स्थान हीं होगा। स्वाभाविक समूहों के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर आदर्श एकीकरण का कार्य पूरा हो जाएगा और आंतरिक संघर्षों के लिए इसमें कोई स्थान नहीं होगा। सम्पूर्ण सामाजिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध मानवीय आधार पर पुष्ट होंगे और वर्तमान कटुता का वातावरण समाप्त हो जाएगा। इस प्रकार अरबिन्द ने मानव की मनोवैज्ञानिक एकता को सिद्धान्त को लागू करके मानव जाति के आदर्श एकीकरण को सम्भव बनाया है। यदि यह मनोवैज्ञानिक एकता स्थापित हो जाए तो मानव एकता का आदर्श प्राप्त किया जा सकता है।

5. ***मानव एकता के आदर्श के मार्ग में बाधाएं (Impediments in the way of the establishing hunan unity)***–अरबिन्द ने केवल मानव एकता के आदर्श को प्रतिपादित ही नहीं किया, बल्कि इसको प्राप्त करने के मार्ग में आने वाली बाधाओं का भी वर्णन किया है। उनके मतानुसार सम्पूर्ण मानव जाति एक इकाई है और इस मानव एकता के आदर्श को प्राप्त करने में राष्ट्रीय राज्यों के स्वार्थवाद की भावना सबसे बड़ी बाधा है। अरबिन्द का मानना था कि स्वार्थी हितों से दूर रहकर ही मानव एकता का आदर्श प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने राज्य को सामूहिक स्वार्थवाद का नाम दिया और कहा कि इस सामूहिक स्वार्थवाद को मानवता के समक्ष मानवता का धर्म प्रस्तुत किए बिना समाप्त नहीं किया जा सकता। अरबिन्द के अनुसार–"यदि हमें स्वतन्त्र विश्व संघ की स्थापना करनी है तो इस सामूहिक अहमवाद या स्वार्थवाद में आवश्यक संशोधन करना होगा और मानवता का आध्यात्मिक धर्म अपनाना होगा। यदि एक बार मानव जाति को इसकी अनुभूति हो गई तो एक ऐसी प्रबल मनोवैज्ञानिक एकता का उदय होगा जो मानव जाति के आदर्श एकीकरण को आसानी से प्राप्त कर लेगी।"

उपरोक्त विचारों का अध्ययन कर लेने के बाद यह कहा जा सकता है कि अरबिन्द जी का समग्र चिन्तन आध्यात्मवाद पर आधारित है। उनका मानव एकता का आदर्श भी उनके आध्यात्मवाद पर ही आधरित है। उन्होंने निष्कर्ष तौर पर यह बात स्वीकार की है कि मानव एकता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा सामूहिक स्वार्थवाद है। राज्य सामूहिक का प्रतिनिधि है। इसे समाप्त किए बिना मानव एकता का आदर्श प्राप्त नहीं किया जा सकता। राज्यों के संकीर्ण स्वार्थों ने विश्व को अनेक गुटों में बांट रखा है। आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध नैतिक मूल्यों से दूर हैं। आज सारा विश्व परमाणु युद्ध के आंतक में जी रहा है। मानव एकता के आदर्श को प्राप्त किए बिना विश्व की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। यदि हमें मानव जाति को विनाश से बचाना है तो अरबिन्द जी को मानव एकता के आदर्श को प्राप्त करने के प्रयास करने होंगे। ताकि सह अस्तित्व पर आधारित मानव समाज प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सके।

अरबिन्द का मूल्यांकन
(An Evaluation of Aubobindo)

अरबिन्द के चिन्तन का अध्ययन करने से यह बात साबित होती है कि वे एक आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के निर्माता पुरुष थे। वे एक महान योगी, सन्त, मानवता के पुजारी और मानवतावाद

के पैगम्बर थे। उन्होंने सम्पूर्ण स्वाधीनता का आदर्श भारतवासियों के सामने रखा, राष्ट्रीय आन्दोलन को जन–आन्दोलन बनाया, आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ाया तथा मानव एकता का आदर्श हमारे सामने प्रस्तुत किया। उनका ध्येय मानव जाति के कल्याण में निहित था। उनके चिन्तन का व्यापक अध्ययन करने के बाद कहा जा सकता है कि अरबिन्द एक विचारक ही नहीं थे बल्कि एक ऋषि थे जो कि हमको आत्म–ज्ञान प्रदान कर सकते थे। हरिदास चौधरी के अनुसार–"अरबिन्द जी वास्तव में एक सजनशील व्यक्ति हैं जिनका भूत, वर्तमान, भविष्य पर पूरा अधिकार है और उनकी दष्टि पैगम्बरों जैसी है।" रोमन रोलैड ने उन्हें भारतीय विचारकों का राजकुमार कहा है। डॉ० वर्मा ने कहा है कि अरबिन्द जी आधुनिक भारत के नवजागरण और राष्ट्रवाद के क्षेत्र में एक महान विभूति हुए हैं और उनका चिन्तन अत्यन्त क्रमबद्ध और सुविस्तत है।" उनका चिन्तन सार्वभौमिक, सार्वकालिक व सर्वदेशीय है। उनका चिन्तन भारत के लिए न होकर सम्पूर्ण विश्व और समस्त मानव जाति के लिए है। वे वर्तमान समय के सबसे बड़े राष्ट्रवादी और मानवतावाद हैं, निष्कर्ष तौर पर पर कहा जा सकता है कि उनका आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का सिद्धान्त और मानव एकता का विचार राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मं एक महत्वपूर्ण देन है।

अध्याय-8: जय प्रकाश नारायण (Jai Prakash Narayan)

परिचय (Introduction)

लोकनायक के नाम से विख्यात जय प्रकाश नारायण आधुनिक भारतीय चिन्तन के एक महान विचारक हैं। भारतीय समाजवाद के मानसपिता के रूप में उनका सर्वोदयी विचारधारा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान हैं। वे मार्क्सवादी होते हुए भी मार्क्सवाद से दूर हैं। उनकी छवि सक्रिय राजनीतिज्ञ की बजाय सक्रिय समाज सुधारक के रूप में अधिक है। उन्होंने अपने चिन्तन में पराधीन व स्वतन्त्र भारतीय समाज की समस्याओं पर गहराई से विचार करके उनके समाधान का सच्चे ह्रदय से प्रयास किया है। इन्हें समाजवादी विचारधारा के कारण आचार्य बिनोबा भावे व गांधी जी के कट्टर अनुयायी के रूप में देखा जाता है। उन्होंने भारत की आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए गहराई से सोच विचार किया है। उन्होंने इस कार्य के लिए लोकतान्त्रिक समाजवाद, दल–विहीन प्रजातन्त्र, सर्वोदयी समाज, समग्र क्रान्ति आदि विचार प्रस्तुत किए हैं। लोकनायक जय प्रकाश नारायण की छवि इन्हीं विचारों के कारण मानवेन्द्र नाथ राय की तरह मानवतावादी विचारक की है। उन्होंने स्वतन्त्र भारत में राजनीतिक भ्रष्टाचार के बारे में विस्तार से कहा है और इस समस्या को भारतीय समाजवाद के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा माना है। वे स्वतन्त्र भारत की युवा शक्ति के प्रेरणा स्रोत हैं, किंग मेकर हैं और समाज सुधारक हैं। सारांश रूप में उनका चिन्तन बहुमुखी है और भारतीय समाज में महान परिवर्तन लाने को आतुर है। इसलिए लोक नायक जय प्रकाश नारायण भारतीय समाजवाद के मसीहा हैं और उनकी पुस्तक 'Why Socialism' समाजवादी साहित्य में अमूल्य ग्रन्थ है।

जीवन परिचय (Life Sketch)

भारतीय समाज के मानसपिता और लोकनायक जय प्रकाश नारायण का जन्म 11 अक्टूबर, 1902 को बिहार के छपड़ा जिले के गांव सिताबदियारा में हुआ। उनकी माता का नाम फूलरानी देवी तथा पिता का नाम हरसू बाबू था। उनके पिता एक सरकारी कर्मचारी थे। उनकी मातभाषा भोजपुरी थी। जयप्रकाश नारायण को बचपन में नाम बबूल कहा जाता था, क्योंकि वे 5 वर्ष तक बोले में असमर्थ थे। जब उन्होंने 6 वर्ष की आयु में बोलना शुरू किया तो उन्हें गांव के स्कूल में दाखिल करा दिया गया, बाल्यकाल से ही उनकी रुचि नैतिकता व भगवद्गीता के सिद्धान्तों में थी। 12 वर्ष तक गांव में पढ़कर वे उच्च शिक्षा के लिए पटना के कालेजिएट स्कूल में प्रविष्ट हुए। यहां पर एक बार परीक्षा में अनुपस्थित रहने के कारण स्कूल के अंग्रेज मुख्याध्यापक द्वारा किए गए दुर्व्यवहार के कारण उनके मन में ब्रिटिश शासन के प्रति घणा

की भावना पैदा हो गई और देश भक्ति की भावना का जागरण हो गया, यहां से दसवीं की परीक्षा पास करने के बाद उन्होंने पटना कॉलेज में प्रवेश ले लिया और अपनी परीक्षा से कुछ दिन पहले गांधी के असहयोग आन्दोलन में शामिल हो गए। उन्होंने बाद में यह परीक्षा बिहार विद्यापीठ से पास की।

16 मई, 1920 को उनका विवाह प्रभावती देवी से हो गया, यह उस समय का अजीबो–गरीब विवाह था। बाबू राजेन्द्र प्रसाद की प्रेरणा से उन्होंने कोई दहेज नहीं लिया। लेकिन उन्हें वैवाहिक जीवन में कोई रुचि नहीं ली। वे अपनी पत्नी की ऐच्छिक अनुमति से उम्र भर ब्रह्मचारी रहे और उनकी पत्नी पहले तो अपने मायके रही और बाद में महात्मा गांधी उसे अपनी पुत्री बनाकर अपने साबरमती आश्रम में ले गए और नारायण जी अपनी आगे की शिक्षा ग्रहण करने के लिए 1922 में अमेरिका चले गए।

उन्होंने कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय से रसायन इंजीनियरिंग की शिक्षा ग्रहण की। वहां पर 2½ वर्ष अध्ययन करने के बाद वे शिकागो स्थित विसकौंसिन विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का अध्ययन करने लग गए। इससे उन्हें बी०ए० की डिग्री मिली और उनका नाम जे०पी०, बी०ए० पड़ गया। उसके बाद उसी विश्वविद्यालय में उन्हें समाजशास्त्र का प्राध्यापक नियुक्त कर लिया गया। पढ़ाने के साथ–साथ वे स्वयं भी पढ़ते रहे और उन्हें एम०ए० भी पास की। उसके बाद उन्होंने पी०एच०डी (Ph.D) में प्रवेश लिया और 'सामाजिक परिवर्तन' (Social Change) नामक विषय पर अपनी शोद्य शुरू की, लेकिन अपनी माता की गम्भीर बीमारी का समाचार सुनकर वे शोध अधुरी छोड़कर भारत लौट आए।

समाजशास्त्र के अध्ययन व अध्यापन कार्य ने उन्हें मार्क्सवाद की तरफ प्रेरित किया। उन्होंने मार्क्स एंजेल्स के साथ–साथ लवस्टोन तथा मानवेन्द्र नाथ राय की मार्क्सवादी रचनाएं भी पढ़ीं। इनके अध्ययन से वे पक्के मार्क्सवादी बन गए। अपनी माता के देहांत के बाद उन्होंने राजनीति में सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया और भारत में मार्क्सवादी तथा समाजवादी क्रान्ति लाने के उपायों पर विचार करने लग गए। 1932 के दूसरे अहिंसक असहयोग आन्दोलन में उन्हें गिरफ्तार करके नासिक जेल में बन्द कर दिया गया। वहां पर उनकी भेंट राम मनोहर लोहिया, अशोक मेहता तथा मीनू मसानी से हुई। ये सभी व्यक्ति भी समाजवादी विचारधारा के थे। जेल से छूटने के बाद उन्होंने बम्बई में 1934 में कांग्रेस के भीतर कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना की। इस दल ने भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ–साथ आर्थिक समानता तथा न्याय के लिए संघर्ष किया। 1936 में जय प्रकाश नारायण ने 'समाजवाद क्यों (Why Socialism) नामक पुस्तक लिखी। जिसमें उन्होंने समाजवाद लाने की आवश्यकता और उपायों का वर्णन किया। इस पुस्तक से उन्हें बड़ी ख्याति प्राप्त हुई।

जय प्रकाश नारायण एक समाजवादी नेता होने के साथ–साथ एक महान क्रान्तिकारी तथा राष्ट्रीय आन्दोलनकारी भी थे। इसलिए 18 अक्टूबर, 1941 को उन्हें अंग्रेज सरकार ने 'षड़यन्त्री नम्बर एक' घोषित करके हजारीबाग जेल में कैद कर दिया। यहां पर उन्हें राजनीतिक कैदियों से विचार–विमर्श करने की सुविधा नहीं दी गई। जेल से भागने के बाद उन्होंने गांधी जी के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में सक्रिय भाग लिया। 1943 में उन्होंने युवा समाजवादियों को गोरिल्ला कार्यवाही करके ब्रिटिश सम्पत्ति को हानि पहुंचाने के लिए प्रेरित किया। गांधी जी उन्हें कांग्रेस का अध्यक्ष बनाने की योजना बनाई लेकिन कार्यकारिणी में पूर्ण बहुमत न मिलने के कारण वे कांग्रेस के अध्यक्ष नहीं बन सके। महात्मा गांधी की मत्यु के बाद 1948 में राष्ट्रीय कांग्रेस

और कांग्रेस समाजवादी दल में आपसी मतभेदों के चलने समाजवादियों को कांग्रेस से निकाल दिया गया और 1950 में जय प्रकाश नारायण ने समाजवादियों के सहयोग से 'भारतीय समाजवादी दल' की स्थापना की। 1952 में उन्होंने चुनावी राजनीति छोड़कर बिनोबा जी के सर्वोदय तथा भू–दान आन्दोलन में बढ़–चढ़कर हिस्सा लिया और अपना सम्पूर्ण जीवन सर्वोदय समाज की स्थापना में लगाने की शपथ ली।

28 अप्रैल, 1958 को वे अपनी पत्नी तथा सर्व सेवक सघ के अपने साथी सिद्धराज डड्ढा के साथ विदेश यात्रा पर गए। इस दौरान उन्होंने यूरोप के 14 देशों का भ्रमण किया। 28 दिसम्बर, 1961 में उन्होंने बेरुत अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लिया और वहां पर एक विश्व शांति सेना का गठन किया। 1964 में भारत लौटने पर उन्हें समाज सेवा का कार्य प्रारम्भ कर दिया। 1965 में भारत लौटने पर उन्हें समाज सेवा का कार्य प्रारम्भ कर दिया। 1965 में वे दोबारा अमेरिका गए और मास्को होते हुए वापिस भारत लौ। मास्को में लेनिन के मत शरीर को देखकर वे रो पड़े। भारत वापिस आने पर उन्होंने समाज सुधार का एक नया कार्यक्रम चलाया। 12 अप्रैल, 1972 को उन्होंने चम्बल के डाकूओं को आत्मसमर्पण के लिए प्रेरित किया। लगभग 600 डाकूओं ने आत्म–समर्पण किया, लेकिन यह कार्यक्रम अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सका और नारायण जी ने राजनीति से संन्यास ले लिया। परन्तु इस कार्यक्रम के द्वारा उन्होंने सर्वोदय के विचार को पोषित किया।

अपने जीवन के अन्तिम दशक में उन्होंने भारतीय लोकतन्त्र की रक्षा का बीड़ा उठाया। उन्होंने इन्दिा गांधी की दमनकारी नीतियों के खिलाफ समग्र क्रान्ति (Total Revolution) का ऐलान किया। उन्होंने घोषणा की कि आज भारत कब्रिस्तान है, हिन्दुस्तान नहीं, 26 जून, 1975 को इन्दिरा गांधी द्वारा आपातकाल की घोषणा कर देने के बाद उन्होंने सरकार विरोधी रवैया अपनाया और उन्हें जेल में डाल दिया गया। उन्हें हरियाणा के सोहना नामक स्थान पर नजरबंद रखा गया। लम्बी बीमारी के बाद उनके स्वास्थ्य में गिरवट आती देखकर सरकार ने उन्हें 12 नवम्बर, 1975 को जेल से रिहा कर दिया। स्वास्थ्य में कुछ सुधार आने पर उन्होंने 1977 में 'जनता पार्टी' की स्थापना की और 1977 के चुनावों में इस पार्टी ने भारी बहुमत हासिल किया यह चुनाव जय प्रकाश नारायण की तानाशाही के ऊपर लोकतांत्रिक विजय थी। इसके बाद उन्हें लोकनायक कहा जाने लगा। उन्होंने मोरारजी देसाई को जनता पार्टी के अध्यक्ष के बतौर प्रधानमंत्री पद पर सत्तारुढ़ किया और किंग मेकर के रूप में भूमिका अदा की। अपनी लम्बी बीमारी के कारण 8 अक्टूबर, 1979 को 77 वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हो गया। इस प्रकार लोकनायक, किंगमेकर व समाजवादी व्यक्तित्व का अन्त हो गया।

महत्वपूर्ण रचनाएं
(Important Works)

लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने महत्वपूर्ण रचनाएं लिखकर भारतीय व पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने अपनी सबसे पहली पुस्तक 'Why Socialism' 1936 ई० में लिखी। उन्होंने इस पुस्तक में भारत में समाजवाद लाने की योजना पर व्यापक रूप से लिखा है। उनकी अन्य रचनाएं भी शोषण मुक्त जनतन्त्रीय समाज के लक्ष्य को प्रतिपादित करती हैं। उन्होंने राजनीतिक सत्ता का प्रयोग सामाजिक उत्थान के लिए किया है। उनकी प्रमुख रचनाएं निम्नलिखित हैं।

I. Why Socialism? (1936)

II. Towards Struggle (1946)

III. Decmocratic Socialism: Our Ideal and our Method (1949)

IV. Towards a New Society (1958)

V. A Plea for the Reconstruction of Indian Polity (1959)

VI. From Socialism to Sarvodaya (1959)

VII. A Picture of Sarvodaya Social Order (1961)

VIII. Socialism, Sarvodaya and Democracy (1964)

IX. Prison Diary (1977)

X. Towards Total Revolution (1977)

इस प्रकार जयप्रकाश नारायण ने अनेक पुस्तकें लिखीं और पत्र–पत्रिकाओं में अपने मन्तव्य भी दिए। उन्होंने अपनी अन्तिम पुस्तक 'Towards Total Revolution' की रचना करके भारत में तानाशाही शासक श्रीमति इन्दिरा गांधी के खिलाफ जंग का आधार तैयार किया। इसी पुस्तक के सिद्धान्तों के आधार पर जय प्रकाश नारायण ने अपने समाजवादी समर्थकों के साथ मिलकर 1977 के चुनावों में कांग्रेस को भारी मात दी। अतः लोकनायक जयप्रकाश नारायण की समस्त रचनाएं भारतीय समाज के पुनर्निर्माण से सरोकार रखती हैं। उन्होंने किसी न किसी रूप में समाजवाद के विचार का ही पोषण किया है।

जयप्रकाश नारायण की राजनैतिक विचारधारा का विकास (Development of the Political Ideas of J.P. Narayan)

अपने अमेरिकी प्रवास के दौरान ही नारायण जी सोचने लगे थे कि जब भारत के शोषण, असमानता व गरीबी का अन्त नहीं होगा, तब तक राजनीतिक स्वतन्त्रता पूर्ण नहीं हो सकती, जब वे 1929 ई० में भारत लौटे तो उन्होंने सक्रिय राजनीतिज्ञ के रूप में भारत में मार्क्सवादी व समाजवादी क्रान्ति लाने की विधि सोचनी शुरू कर दी। 1932 में उन्होंने गांधी जी के दूसरे अहिंसक आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया। यहीं से उनकी राजनीतिक विचारधारा का जन्म हुआ। उनकी राजनीतिक विचारधारा के विकास को चार भागों में बांटा जा सकता है–

I. मार्क्सवादी युग (1933-1940)

II. प्रजातांत्रिक समाजवादी युग (1940-1952)

III. सर्वोदयी समाजवादी युग (1952-1964)

IV. समग्र क्रान्ति का युग (1974-1979)

I. ***मार्क्सवादी युग***–1933 से 1940 तक जयप्रकाश नारायण की विचारधारा मार्क्सवादी प्रभाव में रही। उन्होंने मानवेन्द्रनाथ राय तथा लेनिन की रचनाओं का अध्ययन अमेरिका में ही कर लिया था। जब वे भारत वापिस आए तो उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धान्तों को भारत में नए रूप में लागू करने के प्रयास शुरू किए। उन्होंने 1932 के गांधी जी के अहिंसक आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया और जेल में भी गए। जब वे राममनोहर लोहिया के सम्पर्क में भारत आए तो उन्हें मार्क्सवाद का भारतीय रूप अधिक निखकर

आया। उन्होंने मिलकर भारत में सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति लाने पर विचार किया। जयप्रकाश नारायण का विचार था कि जब तक भारतीय समाज शोषण, असमानता व गरीबी का शिकार रहेगा तब तक राजनीतिक स्वतन्त्रता की कल्पना बेकार है। इन्हीं उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उन्होंने आचार्य नरेन्द्र देव व अन्य समाजवादियों के साथ मिलकर 1934 ई० में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना की। 1936 में उन्होंने 'Why Socialism' पुस्तक की रचना करके अपने मार्क्सवादी विचार का पोषण किया। 1940 में उन्होंने व्यक्तिगत सत्याग्रह में भाग लिया और जेल की हवा खानी पड़ी। उन्होंने गुप्त रूप से एक कांग्रेसी समाजवादी के नाम से अनेक लेख विभिन्न समाचार पत्रों में प्रकाशित करवाए। इस प्रकार 1933 से 1940 तक नारायण जी ने एक क्रान्तिकारी समाजवादी या मार्क्सवादी के रूप में अनेक विचारों का पोषण किया।

II. ***प्रजातांत्रिक समाजवादी युग***—जयप्रकाश नारायण एक समाजवादी होने के साथ–साथ एक राष्ट्रीय आन्दोलनकारी भी थे। 1942 में उन्होंने महात्मा गांधी के भारत छोड़ो आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया और जेल भी गए। जेल से भागकर वे नेपाल में कोशी नदी के तट पर रहने लगे और वहां स्वतन्त्रता ब्रिगेड की स्थापना की। धीरे–धीरे उनका रुझान प्रजातन्त्रीय समाजवाद की ओर होता चला गया। उन्हें मार्क्स और लेनिन के कठोर साम्यवादी सिद्धान्तों से घृणा होने लगी। उन्हें मानवेन्द्रनाथ राय के मानवतावाद व भारतीय समाजवाद से अधिक लगाव था। वे समाजवादी विचारधारा को नया रूप देना चाहते थे, उन्होंने 1949 ई० में 'Democratic Socialism: Our Ideal and Our Method' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें उन्होंने प्रजातांत्रिक समाजवाद पर अपने विचार व्यक्तकिए। उन्होंने संसदीय लोकतन्त्र की खूब प्रशंसा की और इस व्यवस्था में श्रमिक संघों का महत्व भी प्रतिपादित किया। उन्होंने 1950 में भारतीय समाजवाद दल की स्थापना की। 1952 के चुनावों में इस दल की हार हो गई और उन्होंने सक्रिय राजनीति से संन्यास ले लिया।

III. ***सर्वोदयी समाजवादी युग***—1952 में नारायण जी ने सक्रिय राजनीति छोड़कर बिनोबा जी के सर्वोदय आन्दोलन में रुचि लेनी शुरू कर दी। उन्होंने भारतीय समाज की आर्थिक असमानता, गरीबी व शोषण को दूर करने के प्रयास शुरू कर दिए। 1954 ई० में उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन सर्वोदय आन्दोलन की प्रगति और सफलता के लिए अर्पित करने की घोषणा की। उन्होंने 1958 में प्रसिद्ध पुस्तक 'Towards a New Society' की रचना की। उसके बाद 1959 में 'From Socialism to Sarvodaya' की रचना की तथा सभी रचनाओं में सर्वोदयी समाज की स्थापना का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इसके बाद उन्होंने सर्वोदय की विचारधारा के विकास के लिए अपना स्वतन्त्र कार्यक्रम शुरू किया और वे दलगत राजनीति छोड़कर दूर एक आश्रम में रहकर सर्वोदयी समाज की स्थापना के प्रयास करने लग गए।

IV. ***समग्र क्रान्ति का युग***—लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने अपने जीवन का अन्तिम दशक भारत की लोकतन्त्रीय व्यवस्था की रक्षा करने को अर्पित कर दिया। 1974 में उन्होंने भारती राजनीति में बढ़ते भ्रष्टाचार व केन्द्रीयकरण की प्राप्ति तथा राज्य सरकारों की गरीब व दलित विरोधी नीतियों (बिहार व गुजरात में) की आलोचना की और अपने सम्पूर्ण क्रान्ति के विचार का सूत्रपात किया। उन्होंने भारत की युवा पीढ़ी

को केन्द्र सरकार की जन विरोधी नीतियों के खिलाफ निर्णायक लड़ाई लड़ने का आह्वान किया। उन्होंने प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी के खिलाफ व्यापक जन आन्दोलन चलाया और उसे उसके तानाशाही व्यवहार से अवगत कराया। उन्होंने इंदिरा गांधी की तानाशाही शासन व्यवस्था की खूब आलोचना की और लाखों लोगों के साथ संसद का घेराव किया ताकि सरकार पर दबाव बनाया जा सके। उन्होंने देश के विभिन्न भागों का दौरा किया और लोगों को देश में फैले भ्रष्टाचार, राजनीतिक, अस्थिरता, गरीबी व बेरोजगारी आदि समस्याओं के अवगत कराया। उन्होंने लोगों की नैतिक या अनैतिक और आध्यात्मिक क्रान्ति, विचारात्मक क्रान्ति, सामाजिक क्रान्ति, सास्कृतिक, शैक्षणिक क्रान्ति, राजनीतिक क्रान्ति तथा आर्थिक क्रान्ति करके इन समस्याओं का समाधान करने के लिए प्रेरित किया। इन सातों क्रान्तियों को समग्र क्रान्ति का नाम दिया जाता है। जब सम्पूर्ण क्रान्ति को व्यापक जन–समर्थन मिलने लगा तो इन्दिरा गांधी द्वारा आपातकाल की घोषणा करके जनता की आवाज को दबा दिया गया और जयप्रकाश नारायण व उसके समर्थकों को जेल में डाल दिया गया। 12 नवम्बर, 1975 को जेल से रिहा होने के बाद उन्होंने विपक्षी दलों के सहयोग से जनता पार्टी का निर्माण किया। इस पार्टी ने 1977 के चुनावों में कांग्रेस सरकार को बुरी तरह मात दी और जनता को औचित्यपूर्ण सिद्ध कर दिया। इससे उनका सम्पूर्ण क्रान्ति का ध्येय पूरा होता प्रतीत होने लगा। लेकिन दुर्भाग्यवश समग्र क्रान्ति के नायक जय प्रकाश नारायण कुछ समय बाद ही स्वर्ग सिधार गए।

जयप्रकाश नारायण के राजनीतिक विचार (Political Ideas of Jai Prakash Narayan)

लोकनायक जयप्रकाश नारायण एक राजनीतिक दार्शनिक की अपेक्षा एक सामाजिक दार्शनिक अधिक थे। उन्होंने जीवन भर साधारण जनता के कल्याण के लिए अपना सघर्ष किया। उन्होंने राजनीतिक भ्रष्टाचार को सभी सामाजिक समस्याओं की जड़ माना और समय–समय पर राजनीति में सुधारों के बारे में अपने मूल्यवान सुझाव दिए ताकि राजनीति में नैतिक साधनों का उचित प्रयोग किया जा सके। उन्होंने व्यवहारिक समस्याओं के अनुरूप ही राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन करके भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में अपना अमूल्य योगदान दिया। उनके प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं–

1. ***समाजवाद की अवधारणा (Concept of Socialism)***–अपने अमेरिकी प्रवास के दौरान जयप्रकाश नारायण ने लेनिन तथा मार्क्स के साम्यवादी साहित्य का अध्ययन किया और भारत आने पर उनकी सोच मार्क्सवादी बन गई। उन्होंने 1936 में 'Why Sociaism' पुस्तक की रचना की। इस पुस्तक के माध्यम से उन्होंने समाजवाद की भारतीय सन्दर्भ में व्याख्या की तथा भारत में इसकी उपयोगिता पर बल दिया। उन्होंने समाजवाद को लोकप्रिय बनाने के लिए जीवनभर संघर्ष किया। उनका मानना था कि आर्थिक असमानता और उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व ही सब समस्याओं की जड़ है। यदि ये साधन प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध करा दिए जाएं तो वर्तमान आर्थिक विषमताएं स्वतः ही समाप्त हो जाएंगी। उन्होंने समाजवादी समाज की स्थापना पर अपनी पुस्तक 'Why Socialism' में विस्तारपूर्वक वर्णन किया और उद्योग एवं कृषि के क्षेत्र में उन उपायों का सुझाव दिया, जिनसे उत्पादन के साधनों का पुनः वितरण

कर आर्थिक समानता स्थापित की जा सके। उनका विचार था कि उद्योगों के राष्ट्रीयकरण मात्र से ही समाजवाद की स्थापना सम्भव नहीं है। इससे नौकरशाही के हाथ मजबूत होते हैं तथा केन्द्रीयकरण की प्रवत्ति बढ़ती है। इसी तरह बड़े स्तर के उद्योग की आर्थिक विषमता को बढ़ावा देते हैं, कम नहीं करते। इसलिए उन्होंने विकेन्द्रीकरण का सुझाव दिया और छोटे–छोटे उद्योगों की आर्थिक विषमता दूर करने में सहायक बताया, उन्होंने कृषि के क्षेत्र में भी समाजवाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए बताया कि भूमि का स्वामित्व जोतने वालों के हाथ में में हो, जमींदारी प्रथा को समाप्त किया जाए तथा सहकारी कृषि को बढ़ावा दिया जाए। इसके अतिरिक्त सहकारी ऋण तथा बाजार व्यवस्था आदि के माध्यम से किसानों को साहूकारों व व्यापारियों के शोषण से मुक्त किया जाए।

इस तरह उन्होंने कृषि तथा उद्योग दोनों में ही उत्पादन के साधनों के विकेन्द्रीकरण पर जोर दिया। उन्होंने कृषि उद्योगों के समाजीकरण के लिए नैतिक व लोकतांत्रिक साधनों का सुझाव दिया। उनका मानना था कि समाजवाद जैसे उच्च आदर्श की स्थापना उचित साधनों के द्वारा ही होनी चाहिए। लेकिन सच्चे समाजवाद की स्थापना भारत को तब तक नहीं हो सकती, जब तक भारत विदेशी दासता का शिकार रहेगा। विदेशी दासता को समाप्त करने के लिए श्रमिकों, किसानों और गरीब मध्यम वर्गों में राजनीतिक चेतना का विकास किया जाए। उन्होंने अपनी पुस्तक 'Why Socialism' में लिखा है–"कोई भी दल समाजवाद की स्थापना तब तक नहीं कर सकता, जब तक वह राज्य की शक्ति अपने हाथ में न ले लें। चाहे वह से जनता के समर्थन से प्राप्त करें या सरकार गिरा कर। यदि सम्भव हो तो इस ध्येय को जन समर्थन द्वारा ही प्राप्त किया जाना चाहिए।' उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि जब किसान, दलित, गरीब सभी कमजोर वर्गों में वर्ग–चेतना का उदय होगा तो समाजवाद की स्थापना हो जाएगी, उन्होंने यह भी कहा कि वर्ग चेतना के साथ–साथ व्यक्ति को अपनी भौतिक आवश्यकताओं पर भी नियन्त्रण करना होगा। इसके बिना समाजवादी समाज की स्थापना सम्भव नहीं है। उन्होंने कहा कि समाजवाद भारतीय संस्कृति का विरोधी नहीं है। यह उसके अनुरूप ही है। मार्क्स का समाजवाद भारतीय संस्कृति के ही मूल आदर्शों–सदा मिल–जुलकर बांटना व उपभोग करना, निम्न कोटि की वासनाओं तथा परिग्रह की वत्ति से मुक्ति के अनुरूप ही विकसित हुआ है। इसलिए समाजवाद भारतीय संस्कृति को विरोधी कहना भ्रामक है।

2. ***सर्वोदय सम्बनधी विचार (Views about Sarvodaya)***–जयप्रकाश नारायण भी महात्मा गांधी और बिनोबा भावे की तरह सर्वोदय चरम लक्ष्य में विश्वास करते थे। सर्वोदय से उनका अभिप्राय सभी लोगों के जीवन के सभी क्षेत्रों में कल्याण से था। सर्वोदय शब्द जॉन रस्किन की पुस्तक 'Unto The Last' से महात्मा गांधी ने किया। इस पुस्तक का सार है–"सबकी भलाई में ही अपनी भलाई है।" महात्मा गांधी और बिनोबा भावे के सर्वोदय से सम्बन्धित विचारों को स्वीकारते हुए जयप्रकाश नारायण ने भी सबके कल्याण पर बल दिया। वे समाज के हर वर्ग का जीवन स्तर अच्छा बनाना चाहते हैं वे भारतीय समाज में समग्र क्रान्ति लाना चाहते थे ताकि भारतीय समाज का आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक विकास हो सके। जयप्रकाश नारायण ने कहा है–"सर्वोदय योजना कोई भावुकता प्रधान योजना न होकर सामाजिक क्रान्ति का एक सुझाव है।

मूलरूप से सर्वोदय समाजवादी दल के 80% कार्यक्रमों को लिए हुए है। साथ–साथ वर्ग–विहीन एवं जाति–विहीन समाजवाद का आदर्श भी सर्वोदय की धारणा में शामिल है।" जैसे–जैसे जयप्रकाश नारायण गांधीवाद की तरह झुकते गए, वैसे वैसे उनकी समाजवादी आस्थाएं सर्वोदय समाज की ओर झुकती चली गई। उन्होंने लिखा है–"यदि हमें हितों में विरोध प्रतीत होता है तो इसका कारण धारणाएं और हमारा गलत आचरण है। यदि हम मानव–हितों की एकता में विश्वास पैदा करें तो हम सर्वोदय की वास्तविकता के अधिक निकट पहुंच सकेंगे। सर्वोदय में यह मान्यता निहित है कि मानव–आत्मा पवित्र है और स्वतन्त्रता, न्याय तथा बन्धुत्व के आदर्शों को हमें अधिक महत्व देना चाहिए। सर्वेदय एक जीवन–व्यापी क्रान्ति है। व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के सभी पहलूओं में आमूल क्रान्ति लाना सर्वोदय का अन्तिम लक्ष्य है।"

लोकनायक जयप्रकाश नारायण का मानना था कि शांतिपूर्ण व नैतिक साधनों द्वारा देश में सामाजिक व आर्थिक क्रान्ति लाई जा सकती है। इसलिए उन्होंने लोगों को भू–दान, ग्राम दान और सम्पत्ति दान के लिए प्रेरित किया, उनका ध्येय सर्वोदय समाज की स्थाना करना था, उन्होंने सर्वोदय समाज में दलीय राजनीति को कोई महत्व नहीं दिया। सर्वोदय आन्दोलन की सफलता के लिए उन्होंने नैतिक साधनों पर जोर दिया। उनका कहना था कि "सर्वोदयी समाज में न केवल न्याय व समता के अवसर प्राप्त होंगे बल्कि एक ऐसी जनतन्त्रीय व्यवस्था भी होगी जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर आधारित होगी और व्यक्ति अपनी शासन व्यवस्था का स्वयं निर्माण करेगा। यह व्यवस्था विकेन्द्रीकृत होगी, जिसमें ज्यादा सत्ता व संसाधन ग्राम सभा के पास होंगे।" जयप्रकाश नारायण का स्पष्ट संकेत पंचायती राज संस्थाओं की तरफ था। उन्होंने आगे कहा है कि यह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था होगी जिसमें सभी का कल्याण निहित होगा। इस प्रकार अपने अन्तिम लक्ष्य के रूप में जयप्रकाश नारायण ने राजनीतिक व आर्थिक विकेन्द्रीकरण द्वारा सर्वोदय आन्दोलन को सफल बनाने का सुझाव दिया है। उनके सर्वोदय सम्बन्धी विचार ग्रामीण उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं।

3. ***राष्ट्रवादी सम्बन्धी विचार (View about Nationalism)***–लोकनायक जयप्रकाश नारायण सच्चे देश भक्त थे। उन्हें भारत की पराधीनता को दूर करने की बहुत अधिक चिन्ता थी। उन्होंने अपनी रचनाओं में राष्ट्रवाद के महत्व को प्रतिपादित किया है। उन्होंने लिखा है कि रजनीतिक स्वतन्त्रता के बिना सामाजिक व आर्थिक कल्याण की योजनाओं का कोई महत्व नहीं है। वे एक राष्ट्रवादी क्रान्तिकारी थे और कई बार जेल भी गए। उन्होंने राष्ट्रवाद के महत्व के बारे में कहा है कि "जब तक प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में राष्ट्रवाद की भावना का विकास नहीं होगा तब तक देश का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता। भारत में सांस्कृतिक एकता होते हुए भी राजनीतिक एकता का अभाव है। भारत में ब्रिटिश शासन द्वारा सम्पूर्ण भारतीय प्रदेश पर अधिकार करने के बाद ही एक सरकार के अन्तर्गत राष्ट्रीय एकता का उदय हुआ है।" लेकिन यह राजनीतिक एकता ऊपर से थोपी हुई है। इसके द्वारा राष्ट्रवाद की स्थपना नहीं हो सकती। ब्रिटिश शासन के खिलाफ जब तक सारी जानता एकजुट नहीं होगी, तब तक राष्ट्रीयता का विकास नहीं हो सकता।

उन्होंने राष्ट्रीय एकता के लिए धर्म–निरपेक्ष दष्टिकोण अपनाने का सुझाव दिया है। यह दष्टिकोण राजनीतिक क्षेत्र के साथ–साथ सामाजिक क्षेत्र में भी लागू किया जाना चाहिए। उनका मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति को एक–दूसरे की धार्मिक भावना का आदर करना चाहिए। धार्मिक अन्धविश्वासों व कुरीतियों से दूर रहना चाहिए तथा धर्म क`प्रति विवेकपूर्ण, मानवीय तथा वैज्ञानिक दष्टिकोण अपनाना चाहिए। उन्होंने कहा है–"राष्ट्रीय एकता के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति धार्मिक अन्धविश्वासों से बाहर निकलकर अपने अन्दर एक बौद्धिक व वैज्ञानिक दष्टिकोण विकसित करें।" उनका मानना था कि भारत एकता की प्रक्रिया मूल रूप से बौद्धिक एवं आध्यात्मिक चेतना की प्रक्रिया है। इसलिए समस्त जनता को न्यायपूर्ण साधनों के साथ इसमें अपना योगदान देना चाहिए।

इस तरह जयप्रकाश नारायण की राष्ट्रवाद की अवधारणा संकीर्ण न होकर एक व्यापक धारणा है। उनका राष्ट्ररवाद समस्त मानव जाति के कल्याण के लिए है। उनका राष्ट्रवाद भारतीय सभ्यता व संस्कृति के सर्वथा अनुरूप ही है। उनका राष्ट्रवाद महात्मा गांधी व रविन्द्र नाथ ठाकुर के मानवतावादी दष्टिकोण पर आधारित है जो समस्त मानव जाति को अपने में अंगीकार कर लेता है।

4. ***आधुनिक लोकतन्त्र की अवधारणा (Concept of Modern Democracy)***–जयप्रकाश नारायण का मानना था कि आधुनिक युग संसदीय लोकतन्त्र का युग है। इस लोकतन्त्र में संविधान, दलों और चुनावों का बहुत महत्व है। लेकिन ये बातें तब तक अर्थहीन है, जब तक जनता में नैतिक मूल्यों और आध्यात्मिक गुणों का विकास न हो जाए। इसलिए उन्होंने लोकतन्त्र को दलीय–विहीन लोकतन्त्र बनाने पर जोर दिया, उन्होंने लोकतन्त्र की चुनाव–प्रणाली को अस्वीकार किया है। उनका मानना है कि हर चुनाव क्षेत्र में उम्मीदवारों की संख्या अधिक होने पर मतों का बंटवारा हो जता है। साधारण बहुमत वाला उम्मीदार भी विजेता घोषित कर दिया जाता है। इसलिए अल्पमतों से विजयी उम्मीदवार बहुमत का प्रतिनिधि नहीं हो सकता। अल्पमत के आधार पर बनी सरकार कभी भी लोकतन्त्रीय सरकार नहीं बन सकती। इस तरह संसदीय लोकतन्त्र का आधार बड़ा ही संकुचित होता है। इसी तरह संसदीय लोकतन्त्र में दलों की भूमिका भी नकारात्मक होती है। वे जनता से झूठे वायदे करके वोट बटोरते हैं। बाद में राजनीतिक सत्ता पर काबिज होकर अपने संकीर्ण स्वार्थों को पूरा करते हैं। उन्हें सार्वजनिक हितों से कोई सरोकार नहीं होता। जयप्रकाश नारायण ने लिखा है–"राजनीतिक दलीय प्रणाली में जनता की स्थिति उन भेड़ों की तरह होती है जो निश्चित अवधि के पश्चात् अपने लिए ग्वाला चुन लेती है। ऐसी लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली में मैं उस स्वतन्त्रता के दर्शन कर नहीं पाता जिसके लिए मैंने तथा जनता ने संघर्ष किया था।" आधुनिक राजनीतिक दल जो वास्तव में राजनीतिज्ञों का एक छोटा–सा शक्तिशाली समूह है जो जनता के नाम पर शासन करता है और लोकतन्त्र एवं स्वशासन का भ्रम फैलाकर स्वार्थपूर्ण कार्यों को पूरा करता है। इसके कारण व्यक्ति की स्वतन्त्रता का ह्रास होता है। इसलिए आधुनिक लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों की भूमिका एक अभिशाप है। ये दल समाज के नैतिक पतन का मुख्य कारण है। ये लोगों को राजनीतिक शिक्षा देने की बजाय अनैतिक साधनों का प्रसार करते हैं और जनता को पथभ्रष्ट करते हैं। आधुनिक लोकतन्त्र में व्याप्त भ्रष्टाचार के लिए राजनीतिक दल ही उत्तरदायी हैं। ये

राष्ट्रीय हितों का बलिदान देने से भी नहीं चूकते। ये धन, संगठन और भ्रामक प्रचार के माध्यम से वोट बटोरते हैं और सार्वजनिक कहतों की आड़ में अपनी स्वार्थ सिद्धि करते हैं।

इस तरह जयप्रकाश नारायण के राजनीतिक दलों की प्रजातन्त्र में नकारात्मक भूमिका पर व्यापक प्रकाश डाला है। उन्होंने संसदीय लोकतन्त्र की चुनाव–पद्धति की भी आलोचना की है। उन्होंने इस पद्धति को खर्चीली पद्धति मानकर लोकतन्त्र को दल–विहीन बनाने पर जोर दिया है।

5. ***दल-विहीन लोकतन्त्र की अवधारणा (Concept of Partyless Democracy)***–लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने संसदीय लोकतन्त्र की आलोचना को अपनी दल–विहीन प्रजातन्त्र की अवधारणा का आधार बनाया। उनका विचार था कि आधुनिक लोकतन्त्र में दलीय व्यवस्था इतनी प्रभावी हो गई है कि लोकतन्त्र दलतन्त्र बन गया है। यह दलतन्त्र राजनीतिक भ्रष्टाचार को फैलाता है और लोगों में फूट डालता है। इसकी औचित्यता शक्तिपूर्ण साधनों में है। यह अनैतिक साधनों का प्रयोग करके जनतन्त्र के वास्तविक अर्थ को दूषित कर रहा है। इसलिए जय प्रकाश नारायण के दल–विहीन लोकतन्त्र की अपधारणा का प्रतिपादन किया ताकि दलों की गैर जिम्मेदाराना भूमिका पर अंकुश लग सके।

दल विहीन प्रजातन्त्र को लागू करने के बारे में जयप्रकाश नारायण ने चार प्रमुख सुझाव दिए हैं–

I. सबसे पहले लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों को समाप्त किया जाए। चुनाव प्रणाली समाप्त करके जनता द्वारा ग्राम स्तर से केन्द्रीय स्तर तक के उम्मीदवारों का प्रत्यक्ष चुनाव किया जाए। प्रत्येक गांव में से ग्राम सभा दो सदस्य निर्वाचित करके उस निर्वाचन क्षेत्र की मतदाता परिषद के पास भेजे इसके बाद मतदाता परिषद की खुली बैठक में राज्य विधानपालिका या केन्द्रीय संसद के लिए उम्मीदवारों के नाम प्रस्तावित तथा समर्थित किए जाएं। इसके बारे में सबकी राय एक बनाने का प्रयास किया जाए। यदि आम राज्य न बन पाए तो 30% से अधिक मत प्राप्त व्यक्ति को संसद या विधानपरिषद का प्रतिनिधि घोषित कर दिया जाए।

II. दलगत राजनीति से मुक्त सर्वोदय समाज की स्थापना की जाए।

III. सभी दलों को सर्वोदय के कार्य में शामिल होने के लिए आमन्त्रित किया जाए ताकि दलगत भावना का अन्त हो।

IV. निर्वाचित होने केबाद सभी उम्मीदवारों को अपने दल से नाता तोड़ लेना चाहिए ताकि वह स्वतन्त्र आत्मा की आवाज द्वारा मताधिकार का प्रयोग कर सके और दल के कठोर सिद्धान्तों के पाश से मुक्ति पा सके।

इस प्रकार जयप्रकाश नारायण ने दल–विहीन प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए अपना व्यावहारिक कार्यक्रम सुझाया है। इससे उनकी राजनीति के प्रति गहरी व दूरदर्शी सोच का पता चलता है। उनका यह कथन सत्य है कि राजनीतिक दल ही सभी तरह की राजनैतिक समस्याओं की जड़ है।

6. ***समग्र-क्रान्ति की अवधारणा (Concept of Total Revolution)***–जय प्रकाश नारायण की राजनीतिक विचारधार के विकास का अन्तिम चरण उनकी समग्र या सम्पूर्ण क्रान्ति की अवधारणा है। 1974 में उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति का उद्घोष किया था। उन्होंने पटना के गांधी मैदान में सम्पूर्ण क्रान्ति को अपना चरम लक्ष्य घोषित किया। वे एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहत थे जो शोषण व अत्याचार से मुक्त हो। उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति के उद्घोष द्वारा भारतीय समाज की सुप्त आत्मा को जगाने तथा सामाजिक ढांचे को बदलने का प्रयास किया। वे सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में मानवीय चेतना का महत्व समझते थे। इसलिए उन्होंने भारतीय समाज में मूलभूत आध्यात्मिक मूल्यों की पुनःर्स्थापना पर जोर दिया। वे भारत में एक ऐसे लोकतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे जो पूरी तरह धर्म–निरपेक्ष हो। वे एक स्वच्छ व कुशल प्रशासन के पक्षधर थे जिसमें भ्रष्टाचार का कोई स्थान न हो। वे शोषण रहित समाजवादी समाज की स्थापना के आतुर थे। उनकी समग्र क्रान्ति का तात्कालिक लक्ष्य बढ़ती हुई महंगाई को रोकना था। उन्होंने इस क्रान्ति द्वारा सामाजिक भेदभाव समाप्त करके सच्चे समाज की स्थापना करने का प्रयास किया। उनकी सम्पूर्ण का सम्बन्ध राजनीतिक क्षेत्र से न होकर जीवन के अन्य क्षेत्रों से भी था। उनकी सम्पूर्ण क्रान्ति–सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, सैद्धान्तिक, वैचारिक, शैक्षिक एवं आध्यात्मिक, सात क्रान्तियों का मिश्रण है। यह अवधारणा उनके सर्वोदय समाजवाद, लोकतन्त्रीय समाजवाद तथा दल–विहीन प्रजातन्त्र की धारणाओं का विस्तार है। उनका विश्वास था कि सम्पूर्ण क्रान्ति ही जनता के नैतिक व सांस्कृतिक मूल्यों पर बल देगी और सच्चे समाजवाद की स्थापना में सहायक सिद्ध होगी।

इस प्रकार जयप्रकाश नारायण की समग्र क्रान्ति की अवधारणा एक व्यापक अवधारणा है जो व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के द्वारा सच्चे समाजवाद व सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना को अपना लक्ष्य स्वीकार करती है। उनकी समग्र क्रान्ति की अवधारणा उस समय भारतीय जनता में इतनी लोकप्रिय हुई कि श्रीमती इन्दिरा गांधी को आपात काल लागू करके समग्र क्रान्ति के रूप में व्यापक जन आन्दोलन को दबाने के लिए शक्ति का सहारा लेना पड़ा।

7. ***राज्य सम्बन्धी विचार (View about State)***–जयप्रकाश नारायण भी गांधीवाद तथा मार्क्सवादी विचारधारा की ही तरह राज्य को एक आत्मा रहित मशीन मानते थे, यह एक ऐसा यन्त्र है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में बाधा पहुंचाता है। इसलिए उन्होंने राज्य को कम शक्तियां देने की बात कही है। उन्होंने कल्याणकारी राज्य की धारणा को भी नौकरशाही के हितों का पोषक बताया है। उनका कहना है कि कल्याणकारी राज्य के नाम पर नौकरशही जनता के कल्याण की योजनाओं का अधिकतम हिस्सा डकार जाती है। उन्होंने मार्क्स के राज्य के लुप्त होने के विचार का भी खण्डन किया है। इसलिए इसका अस्तित्व में रहना नितान्त आवश्यक है। गांधी जी की तरह वे भी राज्य को कम से कम शक्तियां सौंपने के पक्ष में थे। उन्होंने कहा है–"मुझे न तो पहले विश्वास था और न अब है कि राज्य पूर्ण रूप से कभी लुप्त हो जाएगा। परन्तु मुझे यह विश्वास है कि राज्य के कार्यक्षेत्र को जहां तक सम्भव हो घटाने के प्रयास करना सबसे अच्छा उद्देश्य है।

8. ***केन्द्रीयकरण तथा विकेन्द्रीकरण पर विचार (Views about Centralisation and Decentralisation)***–जयप्रकाश नारायण ने केन्द्रीयकरण की खुलकर आलोचना की है। उन्होंने राजनीतिक और आर्थिक दोनों क्षेत्रों में केन्द्रीयकरण को गलत बताया है। राजनीतिक शक्ति के किसी एक भी या गिने–चुने लोगों के पास एकत्रित हो जाने से जनता के हितों की अनदेखी होती है। नौकरशाही का व्यवहार ठाकुरों जैसा हो जाता है। इसी तरह उत्पादन के साधनों का केन्द्रीयकरण होने पर भी पूंजीवाद को बढ़ावा मिलता है। इसलिए उन्होंने राजनीतिक सत्ता व आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण पर जोर दिया। उनका मानना था कि राजनीतिक सत्ता जनता के पास होनी चाहिए। राजनीतिक शक्ति का विभाजन निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर होना चाहिए। ग्राम पंचायतों को अधिक अधिकार देने से सत्ता का केन्द्रीयकरण रूक जाएगा और जनता स्वयं अपनी शासक होगी। उनका विश्वास था कि यह विकेन्द्रीकरण स्वराज्य को सच्चे अर्थों में प्राप्त कर सकेगा। इसी तरह उन्होंने आर्थिक विकेन्द्रीकरण का भी समर्थन किया। उन्होंने बड़े पैमाने के उद्योगों की बजाय कुटीर उद्योगों की स्थापना पर बल दिया। इससे ग्रामीण जीवन स्वावलम्बी बनेगा और सर्वोदय का लक्ष्य प्राप्त हो सकेगा। इस तरह जयप्रकाश नारायण ने केन्द्रीयकरण की प्रवत्ति का विरोध करते हुए आर्थिक व राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण का समर्थन किया है।

9. ***पंचायती राज सम्बन्धी विचार (View about Panchayati Raj)***–जयप्रकाश नारायण की विकेन्द्रीकरण की अवधारणा का सीधा लक्ष्य पंचायती राज की स्थापना करना था। उन्होंने राजनीतिक विकेन्द्रीकरण को व्यावहारिक रूप देने के लिए स्थानीय संस्थाओं को अधिक शक्तियां प्रदान करने पर बल दिया। उनका मानना था कि भारत को आर्थिक व राजनीतिक समस्याओं का हल केवल पंचायती राज में ही संभव है। उन्होंने कहा है कि ग्राम पंचायत में सभी व्यस्क नर–नारी मिलकर अपनी कार्यपालिका का निर्माण करेंगे और ग्राम सभा के ऊपर एक ब्लाक समिति होगी जो कई गांवों को मिलाकर बनाई जाएगी। सबसे ऊपर जिला परिषद होगी। लेकिन इस प्रक्रिया में कुछ बाधाएं भी आएंगी। उन्हें शिक्षा के माध्यम से दूर करने के प्रयास किए जाएंगे। ग्राम पंचायतों की नौकरशाही पर नियन्त्रणरखने का अधिकार होगा। आर्थिक क्षेत्र में भी पंचायतें स्वावलम्बी होंगी। इस तरह पंचायती राज संस्थाएं देश के आर्थिक व सामाजिक विकास में अपना बहुमूल्य योगदान देंगी।

10. ***स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार (View about Freedom)***–जयप्रकाश नारायण का मानवीय स्वतन्त्रता में गहरा विश्वास था। उनका मत था कि वही शासन प्रणाली सर्वोत्तम है, जिसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता को महत्व दिया जाता हो और उसकी गरिमा का ध्यान रखा जाता हो। जिस शासन प्रणाली में व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर रोक लगाई जाती हो, वह शासन प्रणाली कभी भी अच्छी नहीं हो सकती। उन्होंने व्यक्ति की स्वतन्त्रता के साथ–साथ राष्ट्रीय, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व नैतिक स्वतन्त्रता पर भी जोर देकर कहा है किये सभी स्वतन्त्रताएं परस्पर सम्बन्धित है। उनका मानना था कि आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना राजनीतिक या सामाजिक स्वतन्त्रता का कोई महत्व नहीं है। स्वतन्त्रता के सभी रूप व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है।

11. ***अन्य राजनीतिक विचार (Other Political Ideas)***–जयप्रकाश नारायण ने कुछ अन्य

राजनीतिक विचारों का भी प्रतिपादन किया है। उन्होंने राजनीति को नैतिकता के सथ जोड़कर उसका आध्यात्मिकरण करने पर बल दिया है। उसका मानना है कि नैतिकता विहीन राजनीति जनकल्याण का साधन कभी नहीं बन सकती। इसी तरह उन्होंने साध्य व साधन की पवित्रता पर भी बल दिया है। उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति का नारा देते हुए कहा था कि भारतीय समाज का नैतिक पतन इसलिए हुआ है कि भारतीय राजनीति नैतिकता पर आधारित नहीं है, जैसे–जैसे राजनीति नैतिकता से दूर होती जाती है, वैसे–वैसे समाज में भी भ्रष्टाचार जैसी बुराईयां बढ़ती जाती हैं और समाज का बहुमुचखी पतन होना शुरू हो जाता है। इसलिए उन्होंने राजनीति के आध्यात्मिकरण पर बल दिया और अच्छे साधनों को अपनाने का सुझाव दिया।

उपरोक्त राजनीतिक विचारों का अध्ययन करने के बाद कहा जा सकता है कि जयप्रकाश नारायण एक राजनीतिक दार्शनिक होने के साथ–साथ एक सामाजिक दार्शनिक भी थे। उनका आदर्श भारतीय समाज का पुनर्निर्माण करना था। उन्होंने जीवनभर समाज के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन लाने का प्रयास किया। उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति का नारा देकर समाज के सर्वांगीण विकास का रास्ता तैयार किया। लेकिन फिर भी अनेक विद्वानों ने उनके राजनीतिक विचारों को आदर्शवाद की संज्ञा देकर पल्ला झाड़ लिया है। यदि निष्पक्ष तौर पर उनके विचारों का मूल्यांकन किया जाए तो यह बात सत्य है कि उनके विचार एक सच्चे देशभक्त व राष्ट्र वादी विचारक के विचार हैं। यदि महात्मा गांधी का राजनीति चिन्तन में कोई महत्व है तो उनका महत्व भी स्वीकार करना पड़ेगा। उनकी समग्र क्रान्ति (Total Revolution) की अवधारणा राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उनका अमूल्य योगदान है। प्रो० विमल प्रसाद ने उन्हें भारतीय राजनीतिक चिन्तकों में सबसे महान माना है। इसी से उनके राजनैतिक विचारों का महत्व प्रतिादित हो जाता है।

समाजवाद पर विचार
(Ideas on Socialism)

लोकनायक जयप्रकाश नारायण एक सच्चे भारतीय समाजवादी विचारक थे। उनकी पुस्तक 'Why Socialism' समाजवाद पर लिखा गया एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। लेकिन उनका समाजवाद मार्क्स के समाजवाद की तरह कठोर न होकर जनतन्त्रीय समाजवाद है। उनके समाजवाद का ध्येय भारतीय समाज में बहुपक्षीय सुधार करना है। उनका समाजवाद भारतीय परिस्थितियों की उपज है। उन्हें भारतीय समाजवाद का मसीहा माना जाता है। उन्होंने समाजवाद को लोकप्रिय बनाने तथा इसे भारतीय आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में लागू करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने अपनी अन्य पुस्तक 'सम्पूर्ण क्रान्ति की ओर' (Towards Total Revolution) में समाजवाद को जीवन की तरह एक सारणी तथा मानसिक व नैतिक दष्टिकोण कहा है। उनका समाजवाद सर्वोदयी समाजवाद है। उनके समाजवाद का स्वरूप विशुद्ध रूप में भारतीय है।

जयप्रकाश नारायण के समाजवाद विचारों की विशेषताएं
(Features of Jai Prakash Narayan's Socialist Ideas)

उनके समाजवाद की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. ***समाजवाद सामाजिक पुनर्रचना का दर्शन है (Socialism is the Philosophy of***

Social Reconstruction)–जयप्रकाश नारायण समाजवाद को आर्थिक व सामाजिक पुनः निर्माण का सिद्धान्त मानते थें उनके विचार में सामाजिक व आर्थिक विषमताएं ही सामाजिक असमानता का कारण है। असमानता का मूल कारण उत्पादन के साधनों का असमान बंटवारा है। समाज के मुट्ठी–भर लोग उत्पादन के साधनों पर अपना नियन्त्रण स्थापित करके समाज में गरीबी, भूख और शोषण को बढ़ावा देते हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'Why Socialism' में लिखा है–"पद संस्कृति एवं अवसर की विषमताएं दूर की जाएं, जीवन की श्रेष्ठ वस्तुओं के कष्टमय असमान वितरण को समाप्त किया जाए जिसमें व्यक्ति गरीबी, भूख, गन्दगी, रोग व अज्ञानता का जीवनयापन करते हैं और कुछ थोड़े–से ही व्यक्ति आराम से सत्ता का उपभोग करते हैं।" इसी तरह अपनी पुस्तक 'Towards Total Revolution' में भी उन्होंने युवा वर्ग को समाज में व्याप्त बुराईयों को दूर करने तथा सामाजिक पुनः निर्माण के लिए आह्वान किया है।

2. ***समाजवाद की स्थापना शांतिपूर्ण साधनों द्वारा सम्भव है (Extablishment of Socialism is possible through peaceful means)***–जयप्रकाश नारायण के समाजवाद की स्थापना करने के लिए शांतिपूर्ण साधनों का समर्थन किया है। उन्होने मार्क्स के क्रान्तिकारी समाजवाद की अपेक्षा लोकतांत्रिक समाजवाद की अवधारणा का प्रतिपादन करते हुए इसे लोकतांत्रिक तरीके से ही प्राप्त करने पर बल दिया है। उनका मानना था कि समाजवादी शासक हिसंक साधनों का प्रयोग करक जनता पर अत्याचार करते हैं। ऐसा समाजवाद स्थायी नहीं हो सकता। जनता अवसर मिलते ही ऐसे तानाशाही समाजवाद को उखाड़ फैंकती है। उन्होंने युवाओं को महत्व देकर अपने समाजवाद को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया है। उनका मानना है कि जनता को समाजवादी विचारधारा वाले व्यक्ति को ही पंचायतों व राज्य या केन्द्रीय विधानमंडलों तक चुनका पहुंचाना चाहिए ताकि लोकतान्त्रीय समाजवाद के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके। उन्होंने लिखा है–"समाजवादी भारत में राज्य पूर्ण रूप से लोकतान्त्रिक राज्य होगा। लोकतन्त्र के बिना समाजवाद संभव नहीं है।" इस तरह उन्होंने समाजवाद के लोकतांत्रिक स्वरूप पर बल दिया है और महात्मा गांधी का अनुसरण करते हुए अच्छे व पवित्र साधनों के प्रयोग पर जोर दिया है।

3. ***समाजवाद आर्थिक असमानता दूर करता है (Socialism Removes Economic Inequality)***–जयप्रकाश नारायण का मानना था कि समाज का समन्वित विकास आर्थिक असमानता दूर करके ही किया जा सकता है। इसलिए उन्होंने आर्थिक असमानता दूर करने के लिए कार्य किया। उन्होंने आर्थिक असमानता को दूर करने के लिए समाजवाद का आर्थिक ढांचा पेश किया। उन्होंने कृषि और उद्योग के क्षेत्र में कुछ ऐसे उपायों का सुझाव दिया। जिनसे उत्पादन के साधनों का उचित व न्यायपूर्ण बंटवारा होने से आर्थिक समानता की स्थापना की जा सकती है। उन्होंने उद्योगों के राष्ट्रीयकरण को आर्थिक असमानता का पोषक बताया। उन्होंने कहा कि इससे तो नौकरशाही के हाथ मजबूत होते हैं और केन्द्रीयकरण को बढ़ावा मिलता है। इसी तरह बड़े पैमाने के उद्योग भी आर्थिक समस्याओं को जन्म देते हैं। उन्होंने लघु व कुटीर उद्योग धन्धों को आर्थिक असमानता दूर करने का महत्वपूर्ण साधन बताया है। इससे उत्पादन शक्ति का विकेन्द्रीकरण होने से आर्थिक समानता का लक्ष्य आसानी से प्राप्त किया जा सकता है।

4. ***समाजवाद समाज का समन्वित विकास करता है (Socialism ensures Wholesome Development of Society)***–जयप्रकाश नारायण को समाजवाद का लक्ष्य व समाज का समन्वित विकास करना है। उनके अनुसार समाजवाद के द्वारा व्यक्ति का राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक विकास किया जाएगा, उनके समाजवादी समाज में व्यक्ति को अपने सर्वांगीण विकास के अवसर प्राप्त होंगे। राज्य इस प्रका से अपना प्रबन्ध करेगा कि समूचे समाज का कल्याण सम्भव होगा और प्रत्येक को समान अवसर प्राप्त होंगे।

5. ***सहकारी व सामूहिक खेती को प्रोत्साहन (Encouragement to Co-operative and Collective Farming)***–जयप्रकाश नारायण ने भी सोवियत रुस की ही तरह सामूहिक व सहकारी कृषि पर जोर दिया है। उनका कृषि के क्षेत्र में समाजवाद लागू करने का उद्देश्य यह था कि भूमि का स्वामी जोतने वाला होगा तभी जमींदारी प्रथा का अन्त किया जा सकता है। इसलिए भूमि का बंटवारा समाजवाद के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। भूमि पर जमींदारों और बड़े किसानों का मालकियाना हक आर्थिक असमानता का कारण है। इसके अतिरिक्त सहकारी ऋण व्यवस्था और बाजार व्यवस्था का दोषपूर्ण होना भी कृषि के क्षेत्र में आर्थिक असमानता को जन्म देता है। बिचौलिए छोटे किसानों को ऋण उपलब्ध कराते समय उसका हिस्सा डकार जाते हैं। छोटे किसान या भूमि जोतने वाले को उपज का बहुत कम हिस्सा ही मिल पाता है। जब राज्य में सहकारी कृषि को प्रोत्साहन मिलेगा और ऋण व बाजार व्यवस्था ठीक तरह से कार्य करेगी तो स्वतः ही आर्थिक असमानता का अन्त हो जाएगा। उन्होंने कहा है–"इस समस्या का एकमात्र हल यह है कि भूमि सम्बन्धी ऋणों को समाप्त कर दिया जाए, जोतों को इकट्ठा कर दिया जाए और सहकारी तथा सामूहिक खेती की जाए, राजकीय व सहकारी ऋण एवं बाजार व्यवस्था को ठीक किया जाए।"

6. ***उत्पादन के साधनों का समाजीकरण (Socialization of Means of Production)***– जयप्रकाश नारायण उत्पादन के साधनों के समाजीकरण के पक्ष में थें इनका मानना था कि धन के अनियमित वितरण और शोषण जनित बुराईयों को दूर करने का समाजीकरण से बढ़कर कोई दूसरा विकल्प नहीं है। उन्होंने कहा है–"आर्थिक शोषण को रोकने के लिए उत्पादन के साधनों का समाजीकरण किया जाना बहुत आवश्यक है। व्यक्तिगत हितों के लिए प्रयोग किए जाने वाले साधनों से सामाजिक जीवन में विषमता के भाव पैदा होते हैं इसलिए समाज हित में उत्पादन के साधनों का प्रयोग करने से समन्वित व संतुलित समाज का विकास होगा।

7. ***समाजवाद की स्थापना के लिए राज्य की आवश्यकता है (State is necessary for the establishment of Socialism)***–जयप्रकाश नारायण का मानना था कि समाजवद की स्थापना तब तक नहीं हो सकती, जब तक राज्य की शक्ति पर वर्चस्व स्थापित न किया जाए। उन्होंने लिखा है–"कोई भी दल समाजवाद की स्थापना तक तक नहीं कर सकता, जब तक वह राज्य की शक्ति अपने हाथ में न ले ले। वह इसे जनता की इच्छा से प्राप्त करें या सरकार गिराकर। यदि सम्भव हो तो समाजवादी राज्य की शक्ति को जनसमर्थन से प्राप्त करना चाहिए।"

8. ***विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का समर्थन (Support to Decentralised Economy)***–जयप्रकाश नारायण का मानना था कि समाजवादी समाज की अर्थव्यवस्था विकेन्द्रित होनी चाहिए।

बड़े पैमाने के उत्पादन द्वारा भारत में समाजवाद लाना सम्भव नहीं हे। छोटे पैमाने के उद्योग भी उत्पादन का लक्ष्य प्राप्त करने में सहायक होते हैं। इसलिए अर्थव्यवस्था के साथ–साथ उद्योगों के स्वामित्व का भी विकेन्द्रीकरण करना चाहिए। उद्योगों का स्वामित्व स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को प्रदान करना चाहिए। पूंजी पर मुट्ठी भर लोगों का अधिकार नहीं होना चहिए। इस तरह जयप्रकाश नारायण ने बड़े पैमाने के उद्योगों के साथ–साथ लघु व कुटीर उद्योग धन्धों को अर्थव्यवस्था का आधार बताया है।

9. ***समाजवाद भारतीय परम्पराओं के अनुरूप है (Socialism is according to Indian Traditions)***–जयप्रकाश नारायण ने समाजवाद को भारतीय संस्कृति व प्राचीन परम्पराओं के अनुरूप माना है। यद्यपि समाजवाद के संगठित आर्थिक सिद्धान्तों का निर्माण 18वीं सदी में यूरोप में मार्क्स द्वारा किया गया। लेकिन फिर भी इसमें भारतीय संस्कृति व परम्परा की झलक है। भारतीय संस्कृति में मिल बांटकर उपभोग करना, परिग्रह की वत्ति से मुक्ति के आदर्श सदैव विद्यमान रहे हैं जो कि समाजवादी सिद्धान्तों के अनुरूप हैं। इसलिए समाजवाद और भारतीय संस्कृति विरोधी न होकर एक है। आलोचकों की इस बात में कोई दम नहीं है कि भारत में समाजवाद की स्थापना नहीं हो सकती।

10. ***पूंजीवाद का विरोध (Opposition to Capitalism)***–जयप्रकाश नारायण का मानना था कि पूंजीपति वर्ग श्रमिक वर्ग का शोषण करता है। इसलिए पूंजीवादी व्यवस्था में वर्ग–संघर्ष का जन्म होता है। यह संघर्ष आगे चलकर हिंसा का रूप ले लेता है। इससे मानव जाति व समाज का भारी अहित होता है। इसलिए पूंजीवाद को समाप्त करने के लिए अहिंसक साधनों का ही प्रयोग करना चाहिए। भू–दान आन्दोलन पूंजीवाद के उन्मूलन का सबसे सरल मार्ग है। इसलिए हमें पूंजीवाद की समाप्ति करके समाजवाद के लक्ष्य की तरफ आगे बढ़ना चाहिए ताकि समाज का संतुलित व समन्वित विकास हो सके।

11. ***आधुनिक लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली में गरीबों का कल्याण सम्भव नहीं है (Welfare of poor people is not possible in the Democratic System)***–जयप्रकाश नारायण का मानना था कि आधुनिक लोकतन्त्र में सत्ता को केन्द्रीयकरण होने के कारण गिने–चुने व्यक्ति ही अपने स्वार्थों की पूर्ति में लगे रहते हैं। उनका समाज हित से कोई सरोकार नहीं होता। राजनीतिक दल चुनाव जीतने के लिए सभी प्रकार के अच्छे या बुरे हथकंडे अपनाते हैं। वे जनता के नाम पर शासन करके अपना पेट ही पालते हैं। इसलिए समाजवाद की स्थापना होना जरूरी है ताकि लोकतन्त्र की बुराईयों से बचा जा सके और सामाजिक हित को सर्वोपरि बनाया जा सके।

उपरोक्त विचारों का अवलोकन करने के बाद यह कहा जा सकता है कि जयप्रकाश नारायण ने समाजवाद के बारे में जो मन्तव्य दिए हैं, वे सर्वथा सही नहीं है। जहां पर भी समाजवाद की स्थापना हुई है, क्रान्तिपूर्ण साधनों से ही हुई है। अनेक देशों की लोकतन्त्रीय शासन प्रणालियों में भी श्रमिकों के कल्याण की योजनाएं लागू की गई हैं। उन्हें सर्वांगीण विकास के बेहतर अवसर उपलब्ध कराए गए हैं। इसलिए समाजवाद में यह जरूरी नहीं है कि लोकतन्त्र से बेहतर श्रमिकों का कल्याण होगा। उत्पादन के साधनों का समाजीकरण समाजवाद की बजाय

लोकतन्त्रीय देशों में भी हो सकता है। स्वयं भारत एक बहुत बड़ा लोकतन्त्र है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद यह कल्याणकारी राज्य की ओर अग्रसर है। भारत सरकार ने गरीबों के लिए अनेक कल्याणकारी योजनाएं चालू की हैं, जो साम्यवादी देशों में भी सम्भव नहीं है। समाजवाद की रुस में जो अर्थी निकाली गई, वह सर्वविदित है। लेकिन फिर भी जयप्रकाश नारायण ने भारत में समाजवाद स्थापित करने के लिए जो प्रयास किए, वे महत्वपूर्ण हैं। उनके समाजवादी विचारों में आर्थिक–सामाजिक परिवर्तन के जो बीज निहित हैं, वे सामयिक परिस्थितियों में लागू हो सकते हैं। आज आर्थिक–सामाजिक विषमताओं का जो भयानक रूप भारतीय लोकतन्त्र को नष्ट कर रहा है, उसे उत्पादन के साधनों के समाजीकरण द्वारा उखाड़ फैंका जा सकता है। अतः एक समाजवादी विचारक के रूप में जयप्रकाश नारायण को भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हैं और उनके समाजवादी विचार शाश्वत् महत्व के हैं।

सम्पूर्ण या समग्र क्रान्ति का सिद्धान्त
(Theory of Total Revolution)

समग्र क्रान्ति का विचार जयप्रकाश नारायण की राजनैतिक विचारधारा के विकास का अन्तिम पहलू है। लम्बे समय तक राजनीतिक जीवन से दूर रहने के बाद 1970 के दशक में वे फिर से सक्रिय राजनीतिक आन्दोलन की राह पर निकल पड़े। उन्होंने महसूस किया कि भारत की स्थिति दिन–प्रतिदिन खराब हो रही है, सरकार तानाशाही, भ्रष्टाचार व अवसरवादिता के रास्ते पर चल रही है, राष्ट्रीय हितों के स्थान पर दलीय हितों को महत्व दिया जा रहा है, नैतिकता का दिन–प्रतिदिन पतन हो रहा है, भारतीय युवक पथभ्रष्ट हो रहे हैं, मानवीय स्वतन्त्रता व अधिकारों का हनन हो रहा है, तो उन्होंने अपना सम्पूर्ण क्रान्ति का नारा दिया ताकि भारतीय समाज को चारित्रिक पतन की ओर जाने से रोका जा सके।

सम्पूर्ण क्रान्ति का अर्थ
(Meaning of Total Revolution)

सम्पूर्ण क्रान्ति का अर्थ है–पूर्ण समाज का समन्वित व सन्तुलित विकास। साधारण शब्दों में–भारतीय समाज तथा भारत की राजनीतिक व्यवस्था के वर्तमान स्वरूप में परिवर्तन लाना सम्पूर्ण क्रान्ति है। जयप्रकाश नारायण एक ऐसे समाज क निर्माण करना चाहते थे जो अन्याय व शोषण से रहित हो, जहां भ्रष्टाचार का नामोनिशान न हो। इसलिए सम्पूर्ण क्रान्ति के सामंजस्यपूर्ण तथा संतुलित विकास के लक्ष्य को उन्होंने जनता के सामने रखा। वे सम्पूर्ण भारतीय समाज के ढांचे को बदलना चाहते थे चाहे उसका संबंध आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक व सामाजिक किसी से भी हो। इसलिए 1970 के दशक में उन्होंने बिहार व गुजरात की युवा शक्ति के आन्दोलनों को सही दिशा दी। उन्होंने अपना समग्र क्रान्ति का सिद्धान्त लोकतान्त्रिक क्रान्ति तक ही सीमित न रखकर इसे भारतीय समाज व अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों तक भी फैलाने का प्रयास किया। उन्होंने अपने भाषणों तथा जेल में लिखी गई डायरी में अपनी सम्पूर्ण क्रान्ति की अवधारणा का विकास किया, अपनी आर्थिक, सैद्धान्तिक, बौद्धिक तथा नैतिक क्रान्तियों का योग ही सम्पूर्ण या समग्र क्रान्ति है।" जयप्रकाश नारायण के सम्पूर्ण क्रान्ति के विचार के बारे में डॉ० कर्ण सिंह ने लिखा है–"जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति की अवधारणा केवल समाज की बाह्य सरंचना में परिवर्तन आवश्यक है। आज विज्ञान की उपलब्धियों ने मानव चेतना को अपनी सांस्कृतिक विरासत से तदात्मक सम्बन्ध स्थापित करने

को विवशकर दिया है। राजनीतिक सरंचनाओं, सामाजिक प्रकारों तथा आर्थिक प्रतिरूपों से उलझनें के स्थान पर मानव को स्वयं के चेतन रूप का पूर्ण दर्शन कर लेना आवश्यक है, ताकि प्रौद्योगिकी का मानवीय चेतना पर नियन्त्रण शिथिल हो जाए। चेतना जाग्रति के नव–शिक्षण आन्दोलन के बिना सम्पूर्ण क्रान्ति का अमत पाना असम्भव है।" इसी तरह ब्रह्मानन्द जी ने भी जयप्रकाश नारायण के सम्पूर्ण क्रान्ति के विचार के बारे में लिखा है–"समग्र क्रान्ति एक रूढ़ि न होकर जीवन का एक दष्टिकोण है। आकस्मिक परिवर्तन के अर्थ में यह क्रान्ति नहीं है। यह अपने लक्ष्यों और उद्देश्यों की दष्टि में भी अलग है। इसमें हिंसा की कोई जगह नहीं हे। मूलतः यह एक जन आन्दोलन है। इसका उद्देश्य मनुष्य जीवन के सभी पक्षों–आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक व सामाजिक में एक आमूल परिवर्तन लाना है।"

सम्पूर्ण क्रान्ति की विशेषताएं
(Features of Total Revolution)

जयप्रकाश नारायण ने अपने जेल डायरी में सम्पूर्ण क्रान्ति की निम्नलिखित विशेषताएं बताई हैं–

1. सम्पूर्ण क्रान्ति जैविक, बौद्धिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक सात क्रान्तियों का समूह है।
2. युवा शक्ति सम्पूर्ण क्रान्ति का वास्तविक आधार है और देश का भविष्य उन्हीं पर निर्भर है।
3. सम्पूर्ण क्रान्ति गांवों से शुरू होगी।
4. सम्पूर्ण क्रान्ति अहिंसात्मक होगी। इसे अहिंसक साधनों से प्राप्त किया जाएगा।
5. सम्पूर्ण क्रान्ति के विचार का राजनीतिक व आर्थिक विकेन्द्रीकरण पर आधारित है।
6. राजनीतिक क्रान्ति सम्पूर्ण क्रान्ति की प्राथमिक आवश्यकता है।
7. समाजवादी समाज की स्थापना सम्पूर्ण क्रान्ति का प्रमुख ध्येय है।
8. सम्पूर्ण क्रान्ति नैतिकता से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है।
9. जन समितियां सम्पूर्ण क्रान्ति का प्रमुख साधन है।

सम्पूर्ण क्रान्ति के उद्देश्य
(Objectives of total Revolution)

जयप्रकाश नारायण एक ऐसे समन्वित व संतुलित समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें अन्याय, दमन व शोषण का नामोनिशान हो। इसलिए उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति के सिद्धान्त में एक सामंजस्यपूर्ण व संतुलित विकास को अपना लक्ष्य बताया। उनकी सम्पूर्ण क्रान्ति का उद्देश्य भारतीय समाज की सुप्त आत्मा को जगाना था ताकि जंग लगी हुई सामाजिक व्यवस्था का पुनःर्निर्माण हो। उनके सम्पूर्ण क्रान्ति के विचार के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. ***सामाजिक उद्देश्य** (Social Objective)*–जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति का पहला तात्कालिक उद्देश्य था–सामाजिक असमानता को दूर करना। जयप्रकाश नारायण भारतीय समाज में फैली जाति–पांति, धर्म, लिंग व आर्थिक समानता से

परिचित थे। उनके विचार में उन सभी सामाजिक बुराईयों का अंत करना आवश्यक था जो सामाजिक विकास के मार्ग में बाधा थी। वे समाज के पिछड़े व हरिजन वर्ग को समाज की मुख्य धारा से जोड़ना चाहते थे। इसलिए सामाजिक स्तर पर समानता स्थापित करवाना उनका प्रमुख ध्येय था। इसके लिए उन्होंने युवा वर्ग को आह्वान किया कि वे दहेज प्रथा, जाति–प्रथा, छूआ–छूत जैसी बुराईयों से लड़े।

2. ***आर्थिक उद्देश्य (Economic Objective)***–जयप्रकाश जो तत्कालीन भारतीयों की आर्थिक स्थिति से भली–भांति परचित थे। महंगाई तेजी से बढ़ रही थी। बेरोजगारी अपने पंख फैला रही थी। मुद्रा की कीमत घट रही थी। इस विषम स्थित से निपटने के लिए उन्होंने मुद्रा स्फीति को रोकने के उपाय करने पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि सरकार को कृषि मजदूरों की कार्य–दशाओं तथा उनकी जीवन दशाओं को सुधारने के प्रयास करने चाहिएं। औद्योगिक मजदूरों के वेतन में वद्धि की जानी चाहिए। इसके साथ–साथ उन्होंने जनता से भी अपील की कि वे अपनी भौतिक आवश्यकताओं को सीमित रखें।

3. ***नैतिक मूल्यों का उत्थान (To raise Moral Values)***–जयप्रकाश नारायण न केवल समाज की बाह्य रचना में परिवर्तन लाना चाहते थे, बल्कि मानवीय चेतना को भी जागत करने के लिए अधीर थे। इसलिए उन्होंने आध्यात्मिक मूल्यों की पुनर्स्थापना पर जोर दिया। उनका मानना था कि नैतिक मूल्यों का विकास किए बिना देश का विकास सम्भव नहीं है। इसलिए उन्होंने नैतिक क्रान्ति को सम्पूर्ण क्रान्ति का महत्वपूर्ण हिस्सा बनाया।

4. ***समाजवादी समाज की स्थापना (Establishment of Socialist Society)***–जयप्रकाश नारायण का मानना था कि समाजवाद में ही देश का विकास सम्भव है। वे एक ऐसे समाजवादी समाज की स्थापना के लिए प्रयासरत थे जो जातिहीन दल रहित व शोषण रहित हो और जिसमें सामाजिक व आर्थिक समानता हो। उन्होंने एक ऐसे समाज का स्वप्न देखा जो अनीति व अन्याय से मुक्त हो तथा जिसकी प्राप्ति के लिए लोगों को शांतिपूर्ण संघर्ष करने का अबाध अवसर प्राप्त हो। ऐसा आदर्श समाज वह होगा जो केवल सुख ही प्रदान नहीं करेगा, बल्कि समाज के पिछड़े वर्गों को ऊपर उठाने का काम भी करेगा। जयप्रकाश नारायण ने लिखा है–"हम ऐसा भारत चाहते हैं, जिसमें सभी सुखी हों, जो आर्थिक परिवर्तन हों उसका फल यह हो कि जो सबसे नीचे के लोग हैं, चाहे वे खेतीहर मजदूर हों, भूमिहीन हों, मुसलमान, हरिजन, आदिवासी हों, उनको पहले उठाना चाहिएं" अतः जयप्रकाश नारायण ने सर्वोदयी समाज की स्थापना पर बल दिया।

5. ***राजनीतिक भ्रष्टाचार का उन्मूलन (Eradication of Political Corruption)***–जयप्रकाश नारायण के अनुसार राजनीतिक भ्रष्टाचार राजनीतिक व्यवस्था व सामाजिक व्यवस्था दोनों के लिए बड़ा खतरा है। दल–बदल करवाना, विधायकों की खरीद–फरोत, गैर–राजनीतिक तरीकों से सरकार गिराना राजनीतिक भ्रष्टाचार के विभिन्न रूप हैं। उनका मानना था कि राजनीतिक भ्रष्टाचार ने लोकतन्त्र व चुनावी प्रक्रिया को पूरी तरह भ्रष्ट कर दिया है। जनता अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों पर अंकुश लगाने में असमर्थ हैं। भ्रष्ट प्रतिनिधियों को वापिस बुलाने का कोई संवैधानिक प्रावधान नहीं है। मतदान

की प्रक्रिया भी स्वच्छ व स्वतन्त्र नहीं है। इसलिए उन्होंने राजनीतिक भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए सम्पूर्ण क्रान्ति का सहारा लिया और युवा शक्ति को बिहार व गुजरात में भ्रष्ट विधान सभाओं को उखाड़ फैंकने का आह्वान किया।

6. ***लोकतन्त्र के दमन का अन्त (End of Suppression of Democracy)***–जयप्रकाश नारायण ने महसूस किया कि तत्कालीन कांग्रेस सरकार जनता की स्वतन्त्रता व अधिकारों का दमन कर रही है। सरकार जन–विरोधी नीतियां अपना रही हैं, प्रेस की स्वतन्त्र भी नष्ट की जा रही है, समाजवादी नेताओं से दुर्व्यवहार करना आम बात हो गई है, तो उन्होंने 5 जून, 1974 को पटना के गांधी मैदान में सम्पूर्ण क्रानित का बिगुल बजा दिया ताकि निरंकुश शासन का अन्त किया जा सके।

7. ***धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना (Establishment of a Secular State)***–जयप्रकाश नारायण भारत में एक ऐसे लोकतन्त्रीय राज्य की स्थापना करना चाहते थे जो पूरी तरह धर्म–निरपेक्ष हो। जिसमें न तो राज्य धार्मिक मामलों के हस्तक्षेप करे और न धर्म सम्प्रदाय राजनीतिक मामलों में। लेकिन धर्म के कठोर रूप को छोड़कर वे उन नैतिक मूल्यों को राजनीति में बनाए रचाने के पक्षधर थे जिन पर सभी धर्म सहमत हों।

8. ***भ्रष्ट-चुनाव प्रणाली का अन्त (End of Corrupt Election System)***–जयप्रकाश नारायण वर्तमान चुनाव प्रणाली को दूषित मानते थे, क्योंकि इसके अन्तर्गत धन के लालच, दलीय दबाव तथा विभिन्न प्रकार के डर दिखाकर वोट प्राप्त किए जाते हैं। पूरी चुनाव प्रक्रिया पर राजनीतिक दलों व उनके नेताओं का व्यक्तिगत प्रभाव छाया रहता है। ये विभिन्न अनैतिक तरीकों से जनता को विभिन्न वर्गों में बांटते हैं और वोट बटोरते हैं। चुनाव जीतने के बाद सार्वजनिक हित के नाम पर स्वार्थ सिद्धि करते हैं। ये अल्पमत में होने के बावजूद भी बहुमत पर शासन करते हैं। इसलिए भ्रष्ट चुनाव प्रणाली का अन्त करना जरूरी है। इसलिए उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति के द्वारा इसको नष्ट करने का ध्
येय बनाया।

9. ***मिश्रित अर्थव्यवस्था की स्थापना (Establishment of Mixed Economy)***–जयप्रकाश नारायण मिश्रित अर्थव्यवस्था के पक्षधर थे। उनका ध्येय था कि समाज के प्रतयेक वर्ग को रोजी–रोटी मिले। प्रत्येक को रोटी, कपड़ा और मकान की मूलभूत आवश्यकताएं पूरी हों। इसलिए सम्पूर्ण क्रान्ति का होना जरूरी है। सम्पूर्ण क्रान्ति ही ऐसे समाज की स्थापना कर पाएगी जिसमें उत्पादन के साधनों का समाजीकरण होगा, कुटीर व लघु उद्योग धन्धों को बढ़ावा मिलेगा तथा सबको समान काम के लिए समान वेतन मिलेगा। गांवों में सहकारी समितियों का निर्माण किया जएगा और किसानों के ऋण माफ किए जाएंगे। इससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था सुधर जाएगी और ग्रामीण समाज विकास के मार्ग पर अग्रसर होगा।

10. ***दल-विहीन लोकतन्त्र की स्थापना (Establishment of Partyless Democracy)***–जयप्रकाश नारायण का विश्वास था कि राजनीतिक दलों ने लोकतन्त्र को दलतन्त्र बना दिया है। समाज में फैले भ्रष्टाचार व नैतिक पतन के लिए दल ही उत्तरदायी है। राजनीतिक दलों के कठोर दलीय अनुशासन ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को हानि पहुंचाई है। इसलिए उन्होंने दल विहीन प्रजातन्त्र की स्थापना को अपनी सम्पूर्ण क्रान्ति

का प्रमुख लक्ष्य बनाया ताकि दलीय प्रणाली के समस्त दोषों को समाप्त किया जा सके और एक स्वच्छ व कुशल प्रशासन की स्थापना भी की जा सके।

सम्पूर्ण क्रान्ति के साधन (Methods of Total Revolution)

जयप्रकाश नारायण सम्पूर्ण क्रान्ति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए शांतिपूर्ण साधनों को अपनाए जाने के पक्ष में थे। उनका विश्वास था कि दमन का स्थायी प्रतिकार तभी होगा, जब सत्य और अहिंसा के मार्ग का अनुसरण किया जाएगा और नैतिक मूल्यों को प्राथमिकता दी जाएगी। इसलिए उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति के लिए अपनाए जाने वाले साधनों में बन्धुत्व, परस्पर–सहभागिता, सहयोग व सह–अस्तित्व की भावना को सर्वोपरि महत्व दिया। उनके द्वारा बताए गए सम्पूर्ण क्रान्ति लाने के लिए प्रमुख साधन निम्नलिखित हैं–

1. ***जन-समितियां (People's Committees)***–जयप्रकाश नारायण का विश्वास था कि सम्पूर्ण क्रान्ति केवल धर्मरहित, वर्गरहित व दलरहित नवयुवकों एवं संगठनों द्वारा ही लाई जा सकती है। इसलिए उन्होंने जनसमितियों के गठन पर बल दिया। ये जन समितियां राष्ट्रव्यापी होंगी। उन्होंने विचार प्रकट किया कि यदि प्रत्येक नवयुवक या नवयुवती अपने–आप को जन–समिति को अर्पित कर दे तो लाखों जन समितियां बन जाएंगी। इस प्रकार गठित समितियां लोकतांत्रिक साधनों का प्रयोग करेंगी। ये समितियां जन–जागरण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाएंगी।

2. ***शांतिपूर्ण साधन (Peaceful Means)***–जयप्रकाश नारायण सम्पूर्ण क्रान्ति के लिए शांतिपूर्ण व अहिंसात्मक साधनों के पक्ष में थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'Towards Total Revolution' में कहा था–"पूर्ण क्रान्ति को शांतिपूर्ण तरीकों द्वारा प्राप्त करना है। यह कार्य समाज की लोकतांत्रिक सरंचना को किसी प्रकार की हानि पहुंचाए बिना होना चाहिए।" इसके बिना उन्होंने सत्य, अहिंसा व नैतिक तरीकों का सुझाव दिया। उनका मानना था कि सत्य और अहिंसा के बिना दमन को स्थाई रूप से दूर नहीं किया जा सकता।

3. ***प्रशासनीय विकेन्द्रीकरण (Administrative Decentralisation)***–जयप्रकाश नारायण नौकरशाही के दुष्प्रभाव को भली–भांति समझते थे। नौकरों ने मालिकों की भूमिका अदा करनी प्रारम्भ कर दी थी। जनता के सेवक स्वामी बन बैठे थे। इसलिए उन्होंने प्रशासन का विकेन्द्रीकरण करने का सुझाव दिया ताकि नौकरशाही के दोषों को समाप्त किया जा सके।

4. ***प्रत्यक्ष कार्यवही के साधन (Methods of Direct Action)***–जयप्रकाश नारायण को प्रत्यक्ष कार्यवाही के साधनों को अपनाए जाने में भी संकोच नहीं था। उनका कहना था कि नागरिक अवज्ञा, शांतिपूर्ण प्रतिरोध व असहयोग, बन्द, घेराव, हड़ताल आदि भी समग्र क्रान्ति के साधन हो सकते हैं। इनका प्रयोग शांतिपूर्ण साधनों में असफल होने पर ही करना चाहिए। उन्होंने भ्रष्ट राजनीतिज्ञों का घेराव करने का आह्वान किया। वे स्वयं भी लाखों जन आन्दोलनों के साथ दिल्ली में संसद का घेराव करने गए।

5. ***जनमत तैयार करना (To Form Public Opinion)***–जयप्रकाश नारायण का मानना था कि जनता जनार्दन होती है। यदि उचित प्रकार की शिक्षा देकर लोगों को भ्रष्ट

व अन्यायी शासन के विरूद्ध एकजुट कर दिया जाए तो सम्पूर्ण क्रान्ति को लक्ष्य प्राप्त किए जाने में आसानी होगी। इसलिए उन्होंने जनता या जनजागरण को एक महत्वपूर्ण साधन माना।

सम्पूर्ण क्रान्ति का व्यावहारिक पहलू (Practical Form of Total Revolution)

जयप्रकाश नारायण ने सम्पूर्ण क्रान्ति को व्यावहारिक रूप देने के लिए जन समितियों का गठन किया। कर न देने के लिए आन्दोलन चलाए। चुनावों में जन संघर्ष समितियों के उम्मीदवार खड़े किए। निर्वाचित प्रतिनिधियों पर निगरानी रखने का कार्यक्रम बनाया और उनकी गलती पकड़े जाने पर उन्हें त्याग पत्र देने के लिए मजबूर किया। उन्होंने तत्कालीन प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी की अत्याचारपूर्ण व अन्यायी नीतियों के खिलाफ व्यापक जन आन्दोलन चलाया। उन्होंने बिहार व गुजरात में भ्रष्ट विधान सभाओं का घेराव करने के लिए युवा शक्ति को संगठित किया। जून 1975 में उन्होंने इन्दिरा गांधी पर दबाव बनाने के लिए जन–आन्दोलन को संगठित किया। इस दौरान इन्दिरा गांधी ने आपातकाल की घोषणा करके उन्हेंव उसके सहयोगी को गिरफ्तर कर लिया गया। कुछ समय बाद जेल से छूटने पर बीमारी के कारण उनकी मत्यु के साथ ही उनकी सम्पूर्ण क्रान्ति का कार्यक्रम भी समाप्त हो गया।

समग्र क्रान्ति के सिद्धान्त का मूल्यांकन

(A Critical Evaluation of the Theory of Total Revolution)

यद्यपि जयप्रकाश नारायण का सम्पूर्ण क्रान्ति का विचार तत्कालीन भारतीय समाज की आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक दशा सुधारने के लिए महत्वपूर्ण कार्यक्रम था, लेकिन उसकी अनेक आधारों पर आलोचना भी हुई है। आलोचकों का कहना है कि सम्पूर्ण क्रान्ति की अवधारणा स्व–विरोधाभासों का भंडार है। एक तरफ तो वे अहिंसात्मक साधनों के प्रयोग पर बल देते हैं, जबकि दूसरी तरफ प्रत्यक्ष कार्यवाही का भी समर्थन करते हैं। इसके अराजकता फैलने का खतरा पैदा होता है। लोकतन्त्र में पहले जिन प्रतिनिधियों को निर्वाचित कियाजता है, उन्हें त्यागपत्र देने के लिए मजबूर करना पूर्णतयाः असंवैधानिक है। इसी तरह आज भारत में जो कुछ भी घट रहा है, वह सम्पूर्ण क्रान्ति के विचार से बिल्कुल अलग है। आज राजनीतिक दलों की भूमिका बढ़ रही है, आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण हो रहा है, चुनाव आम बात हो गई है, नैतिक मूल्यों का पतन हो रहा है, राजनीति का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। इसलिए वर्तमान समय में सम्पूर्ण क्रान्ति का विचार अप्रासांगिक है। लेकिन इसके बावजूद भी यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति की अवधारणा तत्कालीन भरतीय समाज की दशा सुधारने के लिए चलाया गया एक महत्वपूर्ण आन्दोलन था। जयप्रकाश नारायण ने सम्पूर्ण क्रान्ति के जिन लक्ष्यों का वर्णन किया था। आज भी प्राप्त करने की आवश्यकता है। आज राजनीतिक भ्रष्टाचार चरम सीमा पर है, सामाजिक और आर्थिक विषमताएं अपनी अन्तिम प्रगति पर हैं। यदि सच्चे हृदय से प्रयास किए जाएं तो सम्पूर्ण क्रान्ति का लक्ष्य आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। इसे प्राप्त करना ही देशभक्त व लोकनायक जयप्रकाश नारायण के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धाजंलि होगी। लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि वर्तमान भौतिकवादी युग में यह सब कर पाना निकट भविष्य में सम्भव नहीं है।